श्री १०५ विमलश्री माताजी

आर्यिका सुमतिमती दिगंबर जैन ग्रंथमाला
प्रथम पुष्प

पूज्यपाद श्री देवसेनाचार्य विरचित

भावसंग्रह



हिन्दी टीकाकार
पं. लालाराम शास्त्री

प्रकाशक
हिरालाल माणिकलाल गांधी, अध्यक्ष
आर्यिका सुमतिमती दिगंबर जैन ग्रन्थमाला
अकलूज (सोलापूर–महाराष्ट्र)

प्रस्तावनाकार
उपाध्याय मुनिश्री १०८ कनकनन्दि महाराज

वीर निर्वाण संवत्	इ. स.	वि. संवत्
२५१४	१९८७	२०४४

॥ श्री वर्धमानाय नमः ॥

आचार्य श्री देवसेन का परिचय

श्रीमान् उद्‌भट विद्वान दि० जैन वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन भाव संग्रह के कर्ता महोदय का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

आचार्य देवसेन ने अपने बनाये हुए ग्रन्थ संग्रह में अपने विषय में यह लिखा है–

सिरि विमलसेणगणहर सिस्सो णामेण देवसेणु त्ति ।
अहुजणबोहणत्थं तेणेयं विरइनं सुत्तं ॥

अर्थात् श्री विमलसेन गणधर (गणी) के शिष्य देवसेन है। उन्ही देवसेन आचार्य ने अज्ञ जनों को बोध कराने के लिये यह भाव संग्रह सूत्र ग्रन्थ रचा है उसमे भीं उन्होंनें अपना परिचय इस प्रकार दिया है–

पुव्वारिय कथाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।
सिरि देवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९ ॥

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवए ।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माहसुद्ध दसमीऐ ॥ ५० ॥

अर्थात् पूर्वाचार्यों की रची हुई गाथाओं को एक स्थान में संग्रह करके श्री देवसेन गणि ने धारा नगरी मे निवास करते हुए पार्श्वनाथ भगवान के मंदिर मे माघ सुदी दशमी विक्रम सम्वत् ९९० मे यह दर्शनसार ग्रन्थ रचा।

इस उपर्युक्त कथन से दो बातें सिद्ध हो जाती है। एक तो यह कि आचार्य देवसेन स्वयं भी गणी थे अर्थात् गण के नायक थे और विक्रम संवत ९९० में ये हुए है। इन्होंने अन्य अपने बनाये हुए ग्रन्थों में अपना परिचय नहीं दिया है। और न उन ग्रन्थों की रचना का समय बताया है।

यद्यपि इनके किसी ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख नही है कि किस संघ के आचार्य थे परन्तू दर्शन सार के पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूल संघ के आचार्य थे। दर्शनसार मे उन्होंने काष्ठ सन्घ, द्राविड सन्घ, माथुर सन्घ और यापनीय सघ आदि सभी दिगम्बर सन्घों की उत्पत्ति बतलाई है और उन्हे मिथ्यात्वी कहा है। परन्तू मूल सन्घ के विषय मे कुछ नही कहा है अर्थात् उनके विश्वास के अनुसार यही (मूल सन्घ) मूल से चला आया है और यही वास्तविक सन्घ है।

श्री देवसेन का आम्नाय

श्री देवसेन गणि ने दर्शबसार की ४३ वी गाथा में लिखा है कि–

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि देव्य णाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

अर्थात् यदि आचार्य पद्मनंदि (कुंद कुंद स्वामी) सिमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान के द्वारा बोध नहीं देते तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते। इस कथन से यह निश्चय हो जाता है कि आचार्य देवसेन गणि श्री कुंद कुंदाचार्य की आम्नाय मे थे।

भाव सन्ग्रह मे (प्राकृत मे) जगह जगह दर्शन सार की अनेक गाथाएं उधृत की गई है। और उनका उपयोग उन्होंने स्वनिर्मित गाथाओं की भांति किया है। इस से इस विषय मे कोई सन्देह नही रहता कि दर्शनसार और भावसन्ग्रह दोनों के कर्ता एक ही देवसेन है। इनके अतिरिक्त आराधनासार और तत्वसार नाम के ग्रन्थ भी इन्ही देवसेन के बनाये हुए है।

पं० शिवलालजी ने इनके 'धर्म सन्ग्रह' नामक एक और ग्रन्थ का उल्लेख किया है परन्तू वह अभी तक हमारे देखने मे नही आया है।

नयचक्र के कर्ता भी श्री आचार्य देवसेन है परन्तू इस सम्बन्ध मे

स्वामी विद्यानंदि ने श्लोकवार्तिकालंकार मे यह लिखा है कि नयों का वर्णन विशेष रुप मे जानना हो तो नयचक्र को देखो। इससे यह जाना जाता है कि जिस नयचक्र को आचार्य देवसेन ने बनाया है उससे पहले और कोई नयचक्र था, उसी का उल्लेख स्वामी विद्यानंदि ने किया है। जैसा कि नीचे लिखी बात से सिद्ध होता है–

माइल्ल धवल के बृहत् नयचक्र के अंत की एक गाथा जो बम्बई प्रति में पाई जाति है यदि ठीक हो तो उससे इस बात की पुष्टि होती है, वह गाथा इस प्रकार है–

दूसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा तिरं नट्ठं ।
सिरि देवसेन मुणिणा तह णयचक्क पुणो रइयं ॥

इस गाथा का अभिप्राय यह है कि दुःषमकाल रूपी आंधी से जहाज के समान जो नयचक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने फिर से रचा इससे विदित होता है कि देवसेन आचार्य के नय-चक्र से पहले कोई नयचक्र था जो नष्ट हो गया था और बहुत संभव है कि देवसेन ने दूसरा नयचक्र बनाकर उसी का उद्धार किया हो ?

उपलब्ध ग्रंथों में नयचक्र नाम के तीन ग्रंथ प्रसिद्ध है और माणिक चन्द ग्रंथमाला में तीनों ही नयचक्र प्रकाशित हो चुके है। १– आलाप पद्धति, २– लघु नयचक्र, ३– बृहत् नयचक्र। इनमे पहला ग्रंथ–आलाप पद्धति संस्कृत मे है और शेष दो प्राकृत मे है।

आलाप पद्धति के कर्ता भी देवसेन आचार्य है। डॉ० भांडार रिचर्स इंस्टिट्यूट के पुस्तकालय में इस ग्रंथ की एक प्रति है उसके अंत मे प्रति के लेखक ने लिखा है कि–

" इति सुख बोधार्थं मालयपद्धतिः श्री देवसेन
विरचिता समाप्ता। इति श्री नयचक्रं सम्पूर्णम् "

उक्त पुस्तकालय की सूची मे भी यह नयचक्र नाम से ही दर्ज है। इसे नयचक्र भी कहते है और आलाप पद्धति भी कहते है। आलाप पद्धति के प्रारंभ मे लिखा है कि आलाप पद्धति वचन रसनानुक्रमेण

नयचक्रस्योपरि उच्यते । इससे विदित होता है कि नयचक्र से ही आलाप पद्धति को संस्कृत रूप मे किया गया है। और "देवसेन कृता" लिखा है अतः यह उन्हीं देवसेन का रचा हुआ ग्रंथ है, यह सिद्ध है।

लघु नयचक्र

लघु नयचक्र श्री देवसनाचार्य का बनाया हुआ है इस से पहले के कई नय विवेचक ग्रन्थों को देखकर आचार्य देवसेन ने इसका नाम लघु नयचक्र रक्खा है ऐसा विदित होता है।

आचार्य देवसेन की महत्ता और पूज्यता

द्रव्य-स्वभाव प्रकाश नामका एक सुन्दर ग्रंथ है उसकी गाथा रूपमे रचना माइल्ल धवल ने की है । ये माइल्ल धवल भी महा विद्वान प्रतित होते है। उन्होंने उक्त अपने " दव्वसहाव पयास " नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि श्री देवसेन योगी के चरणों के प्रसाद से यह ग्रंथ बनाया गया। इस से स्पष्ट सिद्ध है कि आचार्य देवसेन मूलसंघ के एक महान योगी और महान विद्वान थे। और मुनिगण तथा आचार्यों द्वारा पूज्य थे। नयचक्र के अंत मे यह गाथा मिलती है–

सियसद्द सुणय दुण्णय दणु देह विदारणेक्क वरवीरं।
तं देवसेण देवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥ ४२१ ॥

अर्थात् स्यात् शब्द सुनय द्वारा दुर्नय शरीर धारी दानव के विदारण करने मे महान वीर जो नयचक्र के कर्त्ता आचार्य देवसेन देव है उन देवसेन गुरु को नमस्कार करो।

उपर्युक्त सभी कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आचार्य देवसेन गणी एक महान उद्भट विद्वान आचार्य हुए है वे दशमी शताब्दि में हुए है और आचार्यवर्य कुंद कुंद स्वामी की आम्नाय मूलसंघ के आचार्य थे। ये आचार्य विमलसेन गणी के शिष्य थे। और वे स्वयं अनेक मुनियों के नायक गणी हुए है। आचार्य देवसेन नें भावसंग्रह महान ग्रंथ जो गंभीर एवं सूक्ष्म तत्वों से भरा हुआ है बनाया है इसके

सिवा उन्होंने आलाप पद्धति, दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नय-चक्र आदि सिद्धांत के महान ग्रथों की रचना की है। श्लोक वार्तिक मे आचार्य विद्यानन्दि ने जिन नयों का वर्णन किया है वह वर्णन पुरातन नयचक्र से मिलता है जिसके नष्ट होने पर आचार्य देव न ने लघु नय-चक्र रचा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य देवसेन आचार्य विद्यानन्दि के पश्चात हुए प्रतिभ होते है। इन आचार्य देवसेन की भगवत्कुंद कुंद आचार्य मे दृढ श्रद्धा थी इस बात का उल्लेख उन्होंनें दर्शनसार मे किया है। इन्होंने मालवा प्रान्त को अपने विहार से बहुत काल तक पवित्र किया था।

वर्तमान मुनियों के विषय में स्पष्टीकरण

आजकल दक्षिण उत्तर में अनेक मुनिगण नग्न, दिगम्बर जैन साधु सर्वत्र विहार कर रहे है। यह समाज धर्म और देश के लिये कल्याण की बात है। दिगम्बर जैन शास्त्रों मे उत्कृष्ट एवं तद्भव मोक्षगामिता की शक्ती रखने वाले तपस्वी साधुओं का स्वरुप और उनकी अचिन्त्य कठीन चर्या का वर्णन पढ कर अनेक स्वाध्याय शील बन्धु कहने लगते है कि जो गरमी मे पहाडो पर माध्यमिक समय तपश्चरण करे शीत ऋतु मे जो नदियों के किनारे पर ध्यान लगाये बैठे हो वर्षा में जो वृक्षों के नीचे टपकते हुए पानी मे बाहे लुभायें खडे हों और जो सिंह व्याघ्र भालू आदि हिंसक जानवरों से भरे हुए जंगलों मे रहते हों वे ही साधु हो सकते है। आजकल नगरों में मन्दिरों मठों और धर्मशाला आदि में रहने वाले साधु, मुनि नहीं कहलाने योग्य है, आदि आक्षेपों और दुर्भा-वनाओं से अनेक लोग वर्तमान साधुओ को साधु ही नहीं समझते है। इस विषय मे आचार्य सोमदेव आचार्य कुंद कुंद आदि महान आचार्यों स्वरचित शास्त्रों में बहुत अच्छा समाधान किया है, उन्होंने लिखा है–

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः॥

अर्थात् आज के इस पतनशील कलिकाल मे और चित्त की क्षण क्षण मे बदलने वाली चंचलता मे साथ ही शरीर के अन्न का कीडा बन

जाने पर भी आश्चर्य है कि आज भी जिन रुप को धारण करने वाले साधु गण दीख रहे है।

पण्डित प्रवर आशाधरजी ने लिखा है कि वर्तमान मुनिराजों को चतुर्थ काल के मुनिराजों के समान ही समझ कर उनकी श्रद्धापूजा करना चाहिये।

जो लोग मुनिराजों की परीक्षा में ही अपनी बुद्धि का समस्त संतुलन खो बैठते है और कहते फिरते है कि इनकी इर्या समिती ठीक नहीं है। ये उद्दिष्ट भोजी है। आदि, इन तथ्य कुतर्कों का उत्तर देते हुए पूर्वाचार्य कहते है कि–

" भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम् " अर्थात् श्रावक लोगो ! वीतराग मुनिराजों को केवल आहार देने मात्र के लिये तुम क्या परीक्षा करते फिरते हो ? जब कि पंचम काल के अंत समय तक साधु गण पाये जाएंगे और वे चतुर्थ कालवत् ही अठ्ठावीस मूल गुण–धारी परम पवित्र शुद्धात्मा होंगे ऐसा सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमि–चन्द्राचार्य त्रिलोकसार मे लिखते है। तब आज कल के मुनिराजों पर आक्षेप करना सिवा अशुभ कर्म बन्ध के और कुछ नहीं है।

आचार्य देवसेनजी का स्पष्ट वक्तव्य

आजकल के मुनिराजों के विषय में आचार्य देवसेन जी ने अपने द्वारा रचित इस भाव संग्रह मे बहुत ही सुन्दर आगमोक्त सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया है वह इस प्रकार है–

दुविहो जिणेहि कहिओ जिणकप्पो तह य थविर कप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणण धारिस्स ॥ ११९ ॥

जत्थण कंटय भग्गो पाए णयणम्मि रय पविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥ १२० ॥

जल वरिसणवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥ १२१ ॥

एयारसंग धारी एआइ धम्म सुक्क झणीय ।
यत्ता सेस कसाय मोणवई कंदरा वासी ॥ १२२ ॥

वाहिरंतर गंथ चहा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो ।
जिण इव विहरंति सया ते जीण कप्पट्ठिया समणा ॥ १२३ ॥

थविरकप्पोवि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥ १२४ ॥

पंच महव्वय धरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो ।
भत्ति भरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥

दुविह तवे उज्जमणं छव्विहु आवासएहि अणवरयं ।
खिदिसयणं सिर लाओ जिणवर पडिरुव पडिगहणं ॥ १२६ ॥

संहणणस्स गुणेण य दुस्सम कालस्स तव पहावेण ।
पुरणयरगाम वासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियप्स ।
गहियं पुत्थ य दाण जोग्गं जस्स तं तेण ॥ १२८ ॥

समुदाएण विहारो धम्मस पदावणं ससत्तीए ।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालनं गहणं ॥ १२९ ॥

संहणणं अइणिच्च कालो सो दुक्समो मणो चवलो ।
तहवि दुधारी पुरिसा महव्वय भरधरण उच्छहिया ॥ १३० ॥

बरससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
ते संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइदूणि संहणणे ॥ १३१ ॥

भावार्थ– मुनि दो प्रकार के होते है जिनकल्पी और स्थविरकल्पी जो उत्तम संहनन को धारण करने वाले है, जिनके पैर में कांटा लग जाय वा आंखों मे धूल भर जाय तो स्वयं नहीं निकालते दूसरा निकाले तो मौन धारण करले । जो वर्षा आदि ऋतु मे ६ महिने तक विना आहार लिये बैठे वा खडे रहे । जो ग्यारह अंग के पाठी हो धर्म वा शुक्ल ध्यान में लीन रहते हों जिनकी कषायें नष्ट हो गई हो, मौनव्रती हो, कंदरावासी हो, बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित हो, वीतराग निस्पृह

हों और जिनके समान विहार करे वे मुनि जिनकल्पी कहलाते है।

जो मुनि पांचो प्रकार के वस्त्रों के त्यागी हो जिनके पास कोई परिग्रह न हो, पीछी हो, जो पांचों महाव्रतों के धारी हों खडे होकर दिन मे एक बार करपात्र भोजन करते हो, दोनों प्रकार के तपश्चरण में उद्यमी हों सहा छहों आवश्यकों का पालन करते हो लोच करते हो पृथ्वी पर शयन करते हो इस प्रकार अठ्ठाईस मूल गुणों का पालन करते हों। जो हीन संहनन के कारण इस दुःषम काल में पुर नगर वा गांव मे (मन्दिर वा मठ आदि में) रहते हो उनको स्थविरकल्पी कहते है। जिनसे रत्नत्रय का भंग न हो ऐसे उपकरण रखते है अपने योग्य किसी के द्वारा दी हुई पुस्तक रखते है समुदाय से विहार करते है भव्यों को धर्म श्रवण कराते है शिष्यों को दीक्षा देते है और उनकी स्थिति का पालन करते है इस दुःषम काल मे हीन संहनन होने पर भी धीर पुरुष महाव्रत धारण करते हैं यह आश्चर्य है। पहले के उत्तम संहनन से जो कर्म हजारों वर्षों में नष्ट होते थे वे कर्म इस समय हीन संहनन के द्वारा एक वर्ष मे नष्ट हो जाते है।

इस उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि आज कल के मुनिगण स्थविर कल्पी मुनि है वे हिंसक जंतुओं से भरे हुए जंगलों मे रहकर निर्विघ्न धर्म ध्यान करने मे सर्वथा असमर्थ है इसलिये वे नगरों मे, उद्यानों मे मन्दिरों मे, मठों, बगीचों आदि मे रहतें है। यह वर्तमान शक्ति हीन संहनन के लिये समुचित शास्त्र मार्ग है। जो लोग वर्तमान मुनियों पर नाना आक्षेप करते है उन्हे इन महान पूर्वाचार्यों के शास्त्र विधानों से अपना समाधान कर वर्तमान मुनियों मे उसी प्रकार श्रद्धाभक्ति से देखना चाहिये जैसी कि चतुर्थ कालवर्ती मुनियों पर रहती है। शरीर सामर्थ्य को छोडकर बाकी चर्या और भावों की विशुद्धी वर्तमान मुनियों मे भी प्राच्य काल के समान ही रहती है।

इन दिगम्बर वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन गणी का संक्षिप्त परिचय भाई नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा लिखा हुआ माणिकचन्द ग्रंथ-माला के मुद्रित ग्रंथ नयचक्र संग्रह के प्राक्कथन का उद्धरण देते हुए हमने लिखा है।

आचार्य देवसेन की रचना में महत्त्व

आचार्य देवसेन ने अपने बनाए हुए ग्रन्थों मे द्रव्य गुण पर्यायों का बहुत ही गंभीर विवेचन किया है। नयों के गहन एवं सूक्ष्म विवेचन मे जिन अपेक्षा वादों का निदर्शन किया है उनसे उनकी अगाध विद्वत्ता का परिचय सहज मिल जाता है। गुणस्थाने के स्वरुप के साथ उनका मार्गणाओं में संघटन भी उन्होंने बहुत स्पष्टरुप से किया है। स्थविर कल्पी जिन कल्पी साधुओं का स्वरुप बताकर तो आचार्य देवसेन ने ने मुनिराजों के सम्बन्धों मे कुछ स्वाध्याय शील भ्रामक लोगों के भ्रम को सर्वथा दूर कर दिया है। हम श्रीमान परमाराध्य श्री आचार्य देव-सेन गणी के पुनीत चरणों में नत मस्तक होकर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रगट करते है। कल्याणमस्तु।

मैनपुरी (यू० पी०) — आचार्योपासक —
भाद्रपद वि० सं० २०१३ **लालाराम शास्त्री**



श्री वर्धमानाय नमः ॥

टीकाकार का परिचय

उत्तर प्रदेशवर्ती आगरा नगर के निकट एक चावली ग्राम है। है छोटा पर है सुन्दर। इसी गाँव की पद्मावती पुरवाल सज्जाति मे भूषण स्वरुप श्रीमान लाला तोताराम जी थे। वे जैसे धर्मात्मा थे वैसे ही अनुभवी निरपेक्ष वैद्य थे। तथा जैसे सज्जन थे वैसे ही परोपकारी थे। यही कारण था कि वह गांव के शिरोमणि गिने जाते थे। आपने अपने नश्वर शरीर को विक्रम सं० १९६५ मे छोडा था, आपके छह पुत्र हुए जिन-में

१-लाला रामलाल जी - आप आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करते हुए घर पर ही व्यवसाय करते रहे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलन-सार और अतीव सरल था। आप बहुत धर्मात्मा थे। आपने विक्रम सं० १९७० मे अपना शरीर छोडा।

२-लाला मिट्ठनलाल जी - आप घर पर ही रह कर व्यवसाय करते रहे। आपनें बाल्यजीवन मे कुछ समय अलीगढ की पाठशाला मे संस्कृत का अध्ययन किया क्षा। आप भी वैसे ही धर्मनिष्ठ थे। आपका स्वर्गवास विक्रम सं० २००७ मे हुआ था।

३-इस ग्रंथ के टीकाकार विद्वच्छिरोमणि धर्मरत्न सरस्वती दिवाकर पं० लालाराम जी शास्त्री।

४-श्री १०८ परम पूज्य आचार्य सुधर्म सागर जी महाराज। आपका पूर्व नाम पं० नन्दनलाल जी शास्त्री था। वीर निर्वाण संवत २४५४ फागुन मास मे जब कि श्री सम्मेद शिखर जी पर इतिहास प्रसिद्ध पञ्च कल्याण महोत्सव हुआ था उस समय आपने शुभमिती फागुन शुक्ला १३ त्रयोदशी के दिन परमपूज्य चरित्र चक्रवर्ती सिद्धांत पारंगत योगीन्द्र चूडामणि धर्म साम्राज्यनायक दिवतग आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज से गृह विरत सन्तम प्रतिमा की दीक्षा

ली थी इसके एक वर्ष पीछे श्री कुंडलपुर क्षेत्र पर दशमी अनुमती विरत प्रतिमा ग्रहण की थी फिर अलीगढ मे क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली। तदनंतर प्रतापगढ में आपने श्री जैनेश्वरी दीक्षा (मुनिपद) धारण की थी।

आप संस्कृत भाषा के उद्भट शास्त्री थे ही। साथ मे हिन्दी और गुजराती के भी प्रौढ लेखक थे। तथा प्रसिद्ध व्याख्याता भी थे। अपने चौबीस पाठ, दीपावली पूजन, आदि कविता मय ग्रंथ लिखे है। तथा सूर्यप्रकाश पुरुषार्थानुशासन आदि संस्कृत ग्रंथों की टीकाएं भी लिखी है उत्तमोत्तम उपदेशपूर्ण जीव कर्म विचार, यज्ञोपवीत संस्कार सदृश अनेक ट्रेक्ट भी लिखे है। कितनी ही लेखमालाएं लिखी है और गुजराती भाषामे भी कितने ही ग्रंथ लिखे है। आप वैद्यक भी जानते थे। आप की लिखी एक नीतिवाक्यमाला नाम की पुस्तक मिली है जो बहुत ही उत्तम उपदेशों से पूर्ण है। उसमें आपने एक सदाचार नामकी पुस्तक का भी उल्लेख किया है। परन्तू वह हमारे देखने में नहीं आ सकी है।

गृहस्थावस्था का अन्तिम जीवन आपने बम्बई मे व्यतीत किया। श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन की उन्नती के मूल कारण आप ही थे। श्री आचार्य संघ को उत्तर प्रांत मे लाने का मुख्य प्रयत्न आपका ही था। इसलिये आप संघ के साथ हो लिये थे। और फिर संघ मे ही रह गये थे।

श्री जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आपने कितने ही बडे काम किये थे। आपने नीमाड गुजरात वागड मालवा आदि प्रांतों में विहार कर शास्त्रोक्त मार्ग का अनुपम प्रचार किया था। तथा साथ मे चतुर्विंशति तीर्थंकर महास्तुती, सुधर्म ध्यान प्रदीप और सुधर्म श्रावकाचार ऐसे सस्कृत भाषा में महाग्रंथों की रचना भी की थी। आपने कुलगढ मे मुनि ऐलक क्षुल्लक भट्टारक ब्रह्मचारियों के मध्य श्रेष्ठ समाधिमरण पूर्वक पौष शुक्ला द्वादशी सोमवार विक्रम सं० १९९५ के सन्ध्याकाल मे इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

आप की इस यात्रा के समय कुशलगढ स्टेट ने अपना वैचड ध्वजा

निशान आदि लवाजमा भेज दिया था, उनकी निषद्या बनाने के लिये स्टेट ने नदीं के किनारे एक सुन्दर स्थान भी दिया है। ऑफिसर लोग नागरिक सब शवयात्रा के साथ थे। तथा स्टेट भर में सदा के लिये उस दिन की स्मृत्ति में राज्य छुट्टी रखने और किसी भी जीव की हिंसा नहीं होने देनें की घोषणा सरकार ने कर दी थी। यह स्टेट की सराहनीय भक्ति का नमूना है।

निषद्या स्थान पर कूआ, बाग धर्मशाला बन गई है, छतरी बन गई है और उस छतरी मे उनके चरण कमल प्रतिष्ठित होकर स्थापन किये जा चुके है। उनके चरण कमलों की स्थापना स्वयं आचार्य श्री १०८ कुंथु सागर महाराज ने की थी। आचार्य श्री कुंथु सागर जी महाराज आचार्य श्रीं सुधर्म सागर जी को अपना विद्या गुरु मानते थे। तथा उन्होंने अपने समस्त स्वरचित संस्कृत ग्रंथों मे आचार्य सुधर्म सागर जी को अपना विद्या गुरु के नाम से सर्वत्र उल्लेख किया है। आचार्य सुधर्म सागर जी के गृहस्थावस्था के पुत्र वैद्यराज पं० जयकुमार जी आयुर्वेदाचार्य नागोर (राजस्थान) में सकुटुम्ब रहते हुए अपना स्वतन्त्र वैद्य क व्यवसाय चला रहे है।

५–न्यायालंकार पं० मक्खनलालजी शास्त्री – आप संस्कृत के अद्वितीय विद्वान है। और हिन्दी भाषा के सम्मान्य लेखक और वक्ता है आपने देहली नगर मे आर्य समाज के साथ लगातार छह दिन तक शास्त्रार्थ कर बडी शानदार विजय प्राप्त की थी। उसी समय वहां के अग्रवाल खण्डेलवान पद्मावती पुरवाल आदि समस्त पंचायत नें तथा प्रान्त और दूर से आय हुए समस्त जैनियों ने मिलकर 'वादिभ केसरी' यह सुप्रसिद्ध उपाधि आपको प्रदान की थी। इसके सिवा न्यायालंकार विद्यावारिधि की उपाधियां भी आपको प्राप्त है। भा० दि० जैन महा सभा ने आपकी निःस्वार्थ अनुपम सेवा से प्रसन्न होकर धर्मवीर की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है।

इस समय आप समस्त दि० जैन समाज में एक अच्छे माननीय विद्वान गिने जाते है। आपनें वर्षो तक उक्त महासभा के मुख पत्र साप्ताहिक जैन गजट की सम्पादक का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य बडी

सुयोग्यता से किया था तथा अधार्मिक वातावरण को हटाते हुए धर्म का उद्योत किया है।

आपने पंचाध्यायी, पुरुषार्थसिध्युपाय तथा उत्तरार्ध राजवार्तिकालंकार की अत्यंत विस्तृत स्वतन्त्र टीकायें लिखी है जिनमें प्रत्येक पदार्थ का विवेचन बडी योग्यता और सरलता के साथ किया है। आपने भा० दि० जैन महासभाश्रित परीक्षालय के मंत्रित्व का कार्य भी बडी योग्यता के साथ किया है।

इस समय आपने श्री गो० दि० जैन सिद्धांत महाविद्यालय मोरेना का संचालन बहुत योग्यता और उत्तरादायित्व के साथ किया था। साथ में जैन धर्म के प्रौढ तत्त्वों को बतानेवाले तथा उनकी रक्षा करनें वाले "जैन दर्शन" पाक्षिक पत्र का सपादन भी किया है। गवालियर स्टेट ने आपको आ० मॅजिस्ट्रेट भी बनाया था, आपको सेकन्ड क्लास पावर के अधिकार थे उस कार्य को आपने करीब २० वर्ष तक प्रभावक एवं न्यायरूप में किया, फल स्वरूप राज्य ने आपको पोशाक और प्रमाण पत्र भेट किये।

६–बाबू श्रीलालजी जौहरी – आप इस समय करीब २५ वर्षों से जयपूर में जवाहरात का व्यापार करते है और सहकुटुम्ब वहीं पर रहते है। जवाहरात की पारख करनें मे आपकी जैसी प्रसिद्धी है वैसे ही आप जवाहरात के व्यवसाय में भी एक प्रतिष्ठित प्रामाणिक जौहरी माने जाते है। विशेषता यह है कि सभी भाई और पूरा घराना ही दृढ धार्मिक है।

इस ग्रथ के टीकाकार–श्रीमान् धर्मरत्न, सरस्वतीदिवाकर विद्वच्छिरोमणि, समाज मे प्रसिद्ध एव संस्कृत सिद्धांत के पूर्ण मर्मज्ञ प्रभावक अनुभवी विद्वान् श्रद्धेय पं० लालाराम जी शास्त्री महोदय है।

आपने अनेक गम्भीर महान ग्रंथों की बडे सरल रूप में हिन्दी टीकाएं की है। तथा ग्रंथों के मर्मस्थलों को बहुत ही उत्तमता के साथ स्पष्ट और विशद किया है। आपकी टीकाओं मे ग्रंथ का कठीन भाग भी सरलता से समझाया गया है। आपकी बनाई हुई टीकाओं में खास

विशेषता यह है कि मूलग्रंथ के अनुसार ही आशय रहता है। ग्रंथ के बाहर की कोई भी बात स्वतन्त्र रूप से लिखी हुई आपकी टीकाओं मे प्रक्षिप्त नहीं की जाती है।

आपके द्वारा टीका किये हुए बहुत से ग्रंथ है जिनमे कुछ के नाम इस प्रकार है–आदि पुराण, उत्तरपुराण, शान्तिपुराण, धर्मामृत श्रावकाचार, सुबोधसार, चारित्रसार, आचारसार,, बोधा मृतसार, ज्ञानामृत–सार, सुधर्मोपधर्मदेशामृतसार, प्रश्नोत्तर, श्रावकाचार, समन्तभद्र कृत जिनशतक, पात्र केशरी स्तोत्र संशयि वदन विदारण, गौतम चरित्र, सुभौम चरित्र, सूक्तो भुक्तावली, तत्त्वानुशासन, वैराग्यमुनिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा, (यशस्तिलक चम्पू स्थित), बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, लघीयस्त्र, चतुर्विंशतितीर्थंकर महास्तुती, चतुर्विंशतितीर्थंकर स्तोत्र, सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार, शान्ति सिंधु, मुनिधर्म प्रदीप, दशभक्त्यादि संग्रह, मोक्षशास्त्र, भावसंग्रह, आशाधर सहस्र नाम, जिनसेन सहस्रनाम मूलाचार प्रदीप, सार समुच्चय, आलाप पद्धति, दशलाक्षणिक जयमाला आदि।

इनके सिवा षोडश संस्कार,, क्रियामंजरी, बालबोध जैनधर्म तीसरा चौथा भाग, जैनधर्म, जैनदर्शन, आदि कितनी ही स्वतन्त्र पुस्तके श्रद्धेय धर्मरत्नजी ने लिखी है।

आचार्य शान्तिसागर पूजन, आचार्य शान्तिसागर छाणी पूजन, आचार्य कुंथुसागर पूजन, श्री सम्मेद शिखर पूजन, श्री अकंपन संघ, पूज्य विष्णू कुमार मुनि पूजन, भक्तासार शतद्वयी, नमस्कारात्मक सहस्रनाम शान्त्यष्टक, आदि संस्कृत पद्य रचनात्मक स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना भी आपने बहुत सुन्दर और प्रासाद गुणयुक्त की है।

आपने आदि पुराण समीक्षा की परीक्षा लिखी थी उसका प्रभाव भी जैन समाज में बहुत अधिक पडा था आपने इन ग्रंथों को लिखकर तथा अनेक ग्रंथों की सरल टीकाएं लिखकर समाज को जो लाभ पहुंचाया है तथा हिन्दी और संस्कृत साहित्य की जो उन्नति की है उसके लिये समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा।

आप वर्षों तक भा० दि० जैन महासभा के साप्ताहिक मुखपत्र जैनगजट के सफल सम्पादक रह चुके है तथा भा० दि० जैन महासभा के सहायक मंत्री भी रह चुके है। उक्त महासभा ने आपकी दूरदर्शितापूर्ण निपृह सेवा से प्रसन्न होकर आपको " धर्मरत्न " की महत्वशालिनी उपाधि से विभूषित किया है। आप भा० दि० जैन शास्त्री परिषद के सभापती तथा संरक्षक भी रह चुके है।

भा० दि० जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा का जो प्रथम अधिवेशन पैठण (औरंगाबाद निजाम) मे हुआ था उसके आप ही सभापती नियत हुए थे तथा आपने उस अधिवेशन का कार्य वडी सफलता के साथ किया था। उसी सभा का दुसरा अधिवेशन श्री अंदेश्वर पार्श्वनाथ मे (जिला डुंगरपुर कुशलगढ के निकट) हुआ था उसमे आपको उक्त सभा ने अपना संरक्षक बनाया है तथा उसी अधिवेशन मे उस सभा ने आपको " सरस्वती दिवाकर " प्रभावशालिनी उक्त उपाधि प्रदान की है।

श्रीमान् सरस्वती दिवाकरजी की यह साहित्य सेवा जैन साहित्य के प्रचार के लिये पूर्ण सहायक हुई है। जैन समाज हृदयों से इन परोपकारी महा विद्वान का अभिनन्दन करेगा। हम भी शास्त्री जी का अभिनन्दन करते है।

भाद्रपद शु० २ वि० सं० २०१३ **ब्रह्मचारी चांदमल चूडीवाल**
नागौर (मारवाड)

इस ग्रन्थ की विषयसूची

विषय	श्लोक संख्या
मंगलाचरण	१
जीवों के भेद	२
भावों के भेद	४
गुणस्थानों के नाम	१०
मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण	१२
मिथ्यात्व से होने वाले भाव	१५
मिथ्यात्व के भेद	१६
विपरीत मिथ्यात्व	१७
जल शुद्धि के दोष	१८
मांस के दोष, श्राद्ध के दोष	२६
गोयोनि वंदना के दोष	४६
एकांत मिथ्यादृष्टी का स्वरूप	६३
वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप	७३
संशय मिथ्यात्व का स्वरूप	८५
सपरिग्रह मोक्ष का निषेध	८८
स्त्री मुक्ति निषेध	९२
कवलाहार निषेध	१०३
जिन कल्पी स्थविर कल्पी का स्वरूप	११६
श्वेताम्बरों की उत्पत्ति	१३७
अज्ञान मिथ्यात्व	१६१
मिथ्यात्व का त्याग करने का उपदेश और मिथ्यात्व से हानियां	१६५
चार्वाकमत का निराकरण	१७२
सांख्यमत का निराकरण	१७७
सासादन गुणस्थान का स्वरूप	१९५
मिश्रगुणस्थान का स्वरूप	१९८
ब्रह्मा के कार्य और उसका निराकरण	२०४

विषय--	श्री श्लोक संख्या

विष्णु के कार्य और उनका निराकरण	२२४
महादेव के कार्य और उनका निराकरण	२४१
अविरत सम्यग्दृष्टी चतुर्थ गुणस्थान का स्वरूप	२५९
सम्यग्दर्शन का लक्षण	२६२
सम्यग्दर्शन के भद	२६४
परमात्मा और उसके भेद	२७२
जीव का स्वरूप	२८६
अजीवपदार्थ	३०३
आश्रव	३१९
संवर	३२१
बन्ध	३२४
निर्जरा	३४४
मोक्ष	३४६
विरताविरत का स्वरूप	३५०
बारह व्रतों का स्वरूप	३५३
पांचवें गुणस्थान में होने वाले ध्यान	३५७
भद्रध्यान	३६५
धर्मध्यान के भेद स्वरूप	३६६
सालंबन धर्मध्यान और पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप	३७४
निरालंबन ध्यान	३८१
पुण्य के भेद और उसके फल	३९९
पुण्य के कारण	४२५
पूजा की विधी	४२६
दान, दान के भेद, विधि और फल	४८९
प्रमत्त संयत गुणस्थान का स्वरूप	६००

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषय–	श्री श्लोक संख्या
अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप	६१४
अपूर्वकरण गुणस्थान का स्वरूप	६३२
अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का स्वरूप	६४९
सूक्ष्मसांपराय नाम के दशवें गुणस्थान का स्वरूप	६५२
ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान का स्वरूप	६५५
क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान का स्वरूप	६६१
सयोग केवली तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप	६६८
अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान का स्वरूप	६७९
श्री आचार्य द्वारा अन्तिम मंगल	६९८
भावसंग्रह के पढने का फल	७००
संक्षिप्त प्रशस्ति	७०१
उपसहार तथा चौदह गुणस्थानों का स्वरूप	
परिशिष्ट	
टीकाकार का अन्तिम मंगलाचरण	

समयसार का सार

(णमो समयसाराणं)

शास्त्राध्ययन क्रम–

जैनागम रूपी महासमुद्र के चार भेद है। (१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। ये चारों अनुयोग सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी अरिहन्त भगवान की दिव्यध्वनि से निसृत होने के कारण सत्य हैं, तथ्य हैं, और उपादेय हैं। चारों अनुयोगों का अध्ययन मनन, चिन्तन, एव उपलब्धि क्रमशः सेही होती हैं।

यथा–अथेष्ट प्रार्थना–

प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः।
शास्त्राभ्यासो– – – – – ॥

पहले प्रथमानुयोग का अध्ययन, मनन, चिंतन, प्राथमिक साधक करें। उसके बाद करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का भी करें। अर्थात् साधक पूर्व–पूर्व अनुयोग एवं अपनी अवस्थानुसार कर्तव्य में दक्ष होते हुये उत्तरोत्तर अनुयोगों का अध्ययन, मनन, एवं अनुकरण करें।

प्रथमानुयोग में पुण्य पुरुषों का चरित्र बोधि समाधि आदि समोचित विषय का वर्णन है। उसको पढ़कर प्राथमिक साधक महापुरुषों के चरित्र के माध्यम से धर्म को सरल, सहज अवगत कर लेता हैं। इस लिये इस को प्रथम – अनुयोग – प्रथमानुयोग प्राथमिक साधकों का अनुयोग करणानुयोग जिस अनुयोग में लोक, अलोक, युग परिवर्तन, गुणस्थान, जीवसमास आदि का वर्णन हैं। उसे करणानुयोग कहते हैं इस में आधिकतर गणित का अवलम्बन लेकर वर्णन है। इसमें सूक्ष्म रुप से गणितिक पद्धति से जीवो के विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म एवं अत्यन्त प्रामाणिक वर्णन हैं। इसमें जो भावों का वर्णन हैं वह भाव अन्य अनुयोग के लिये मानदण्ड स्वरुप हैं। भाव किस तरह उत्तरोत्तर ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होती हैं उसकी सूक्ष्म गणितिक एव वैज्ञानिक वर्णन हैं। इस अनुयोग से ही अन्य तीन अनुयोग के वर्णित भावों कि परीक्षा कि जाती है। यदि करणानुयोग इन भावों को सत्य साबित करता है तो सत्य हैं अन्यथा मिथ्या हैं। इसमें किसी प्रकार साहित्यिक, मनोरंजक, अतिश्योक्ति उपमा, अलंकारात्मक वर्णन नही हैं।

चरणानुयोग में गृहस्थों के अनुव्रत, शिक्षाव्रत, द्विव्रतादि चारित्र तथा मुनियोंके महाव्रत, समिति आदि २८ मूलगुण-उत्तरगुणादि का वर्णन है। बारह अंग में प्रथम अंग आचारांग है। आचारांग का मूल कारण यह है कि विना आचरण के रत्नत्रय की वृद्धि नहीं हो सकती है। तथा केवलज्ञान और मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस लिये आचार (चारित्र) प्रथम एवं मुख्य धर्म है, इसलिये आचाराङ्ग का वर्णन प्रथम किया गया है।

जिस अनुयोग में जीव, अजीवादि सात तत्वो का वर्णन है उसको द्रव्यानुयोग कहते हैं। द्रव्यानुयोग अति इन्द्रिय विषयों का सूक्ष्म वर्णन करने के कारण नय ज्ञान विरहित प्राथमिक शिष्यों के लिये अत्यन्त दुरह, दुरासाध्य एवं क्लिष्ट है।

जिस ने विज्ञ अनुभवज्ञ अनेकान्त एवं पारंगत गुरु से क्रमशः प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग का अध्ययन मनन-चिन्तन एवं आचरण कर लिया है वह शिष्य गुरु के तत्वावधान में इस रहस्य पूर्ण नय उपनय से अकीर्ण सूक्ष्म अनुयोग का अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं आचरण करके शुद्ध परम उपादेयतत्व स्वातंत्र्य रुपी समयसार को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा साधक का विशेष उत्थान होना कठीन ही नहीं अशक्य है।

जैसे एक विद्यार्थी पहले गुरु के अवलम्बन से वर्ण माला को पढ़ता है उसके पश्चात् पद् वाक्य शास्त्रादि का अध्ययन करते-करते आगे बढ़ता है। उसी प्रकार मुमुक्षु साधक पहले गुरु से प्रथमानुयोग पढ़कर उससे आत्मा का उत्थान-पतन जानकर संसार शरीर भोग से संवेग, वैराग्य को प्राप्त कर करणानुयोग के माध्यम से विभिन्न भावों को एवं उनके फल को जानकर चरणानुयोग के माध्यम से उत्तरोत्तर विशुद्ध भावों को प्राप्त करता हुआ, द्रव्यानयोग में वर्णित स्व शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह चारो अनुयोगों का क्रमः एवं विषय है। जब तक पहले-पहले के तीन अनुयोग रुप परिणमन नहीं करते है तब तक चतुर्थ अनुयोग में वर्णित शुद्ध तत्त्व भी अत्यन्त दूर है।

समयसार-

महान आध्यात्मिक योगी पुरुष आध्यात्मिक क्रांतिकारी एवं मूल आम्नाय के मुख्यस्तंभ स्वरुप आचार्य कुन्दकुन्द के अनेक वाङ्मय में समयसार अन्यतम कृति है। इस शास्त्र में आचार्यवर्य ने समयसार स्वरुप शुद्धात्म द्रव्य सिद्ध भगवान का वर्णन किये है।

समय पाहुडं प्राकृतं सम्यक् अयः बोधो यस्य भवति का समय आत्मा, अथवा समं एकी भावेनायनं गमनं समयः । प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समवस्या मनः प्राभृतं समय प्राभृत, अथवा समय एव प्राभृत समय प्राभृत.

स. सार. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. १

समय प्राभृत ग्रन्थ को-सम्यक्-समीचीन अर्थ बोध, ज्ञान है जिस के वह समय अर्थात्, आत्मा । अथवा समम् एकी भावेनायनम्, समनं "ममयः" अर्थात् एकमेक रुप से जो गमन उसका नाम समयः प्राभृत अर्थात् सार शुद्धावस्था इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात शुद्धावस्था वही हुआ समय प्राभृत । अथवा समय जो है वही प्राभृत सो समय प्राभृत ।

स्वरुपाद प्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः समयः समयत एकत्वेन युगमज्जानाति ।

स. सा. अमृतचन्द्र आचार्य । गा. २

स्व स्वरुप से च्युत न होने से टंकोत्कीर्ण चित्स्वभाववाला जीव नाम पदार्थ है वही समयसार है । एक काल में ही जानना और परिणमन करना ये दो क्रियायें जिसमें हो वह समय है ।

"स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरुप न पुनः पर समय"

स. सा. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. ३

स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरुप है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरुप नहीं । अर्थात शुद्धात्मा सिद्ध परमेष्ठी ही स्वसमय है । अन्य समस्त संसारी जीव परसमय है ।

बहिरंतरप्प भेयं पर समयं भण्णयं जिणिंदेहिं ।
परमप्पो सगसमयं तब्भेय जाण गुण ठाणे ।।

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्प जहण्णा ।
संतोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम जिण सिद्धा ।।

रयणसार । कुन्दकुन्दाचार्य / गा. १४८-१४९

जिनेन्द्र भगवान द्वारा बहिरात्मा एवं अंतरात्मा को परसमय कहा गया है, परमात्मा स्वसमय है उसको गुणस्थान के अनुसार जान लेना चाहिये ।

मिश्र गुणस्थान पर्यन्त अर्थात मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव तारतम्यसे बहिरात्मा है । चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि

जीव जघन्य अन्तरात्मा है। पाँचवे गुणस्थान अर्थात देशव्रती श्रावक से लेकर ग्याहरवाँ उपशांत मोही महामुनि उत्तम अन्तरात्मा है। अरिहन्त भगवान अयोग केवली भगवान एवं सिद्ध भगवान परमात्मा है। जैसे पंडित दौलतरामजी ने भी अपने छहढाला में कहा है।

बहिरातम अन्तर आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह जीव को एक गिनै, बहिरातम तत्त्व मुधा है।
उत्तम-मध्यम, जघन त्रिविध के अन्तर आतम ज्ञानी।
द्विविध संग बिन शुद्ध-उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानि॥

पं. दौलतरामजी। छहढाला। ढ. ३/४

जीवो चरित्त दंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥

स. सा.। गा. २

जीवस्वारित्र दर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावे निज परमात्मनि यद्रुचिरुपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादि रहित स्वसंवेदन ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूति रुपं वीतरागचारित्रमित्युक्त लक्षणेन निश्चय रत्नत्रयेण परिणत जीव'पदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि। पुद्गल कर्मोपदेश स्थितंच तमेव जानीहि परसमयम्। - - - पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रयाभ'वात्र यदा स्थितो भवत्यय जीवस्तदा त जीवं परसमयं जानीहि।

स. सा. जयसेनाचार्य / त. वृ. गा. २

वह जीव जब चारित्र-दर्शन-ज्ञान में स्थित रहता है उस समय में उसे स्वसमय समझो। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाल निज परमात्मामें रुचि रुप सम्यग्दर्शन और उसमें रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूति रुप वीतराग चारित्र इस प्रकार कहे गये लक्षणवाले निश्चय रत्नत्रय के द्वारा परिणत जीवपदार्थ को हे शिष्य तू स्वसमय समझ। पुद्गल प्रदेश में स्थित उसी जीव को तू परसमय समझ। पूर्वोक्त रत्नत्रय न होने से इस काल में परसमय जान।

अथ शुद्ध परमात्म तत्त्व प्रतिपादन मुख्यत्वेन विस्तर रुचि शिष्य प्रति बोधन र्थं श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव निर्मिते समयसार प्राभृतग्रन्थं।

स सा. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा १

अब शुद्ध परमात्म तत्त्व को मुख्य लकर विस्तार में रुचि रखने वाले

शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा बनाया हुआ समयप्राभृत ग्रन्थ है। समयसार रुप शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस ग्रन्थ में विशेष रुप प्रतिपादन करने स इस ग्रन्थ का यथार्थ नाम समयसार है।

समयसार के लिये योग्य पात्र–

समयसार ग्रन्थ में वर्णित जो आत्मतत्त्व उ का प्रत्यक्ष अनुभव निर्विकल्प समाधिस्थित निश्चयनय का अवलम्बन स्थित महामुनि को ही होता है। और समयसार में प्रतिपादित विषय उनके अनुभव भव्य एवं आचरण होने के कारण समयसार ग्रन्थ भी महामुनि के लिये ही विशेष प्रयोजनवान अन्तः बाह्य चित्त चमत्काररुप समयसार को आत्मसात कर सकता है। जो अन्तरंग बहिरङ्ग ग्रन्थ रुपी परसमय को त्याग किया है वह है, हृदयंगम कर सकता है, आचरण में ला सकता है। परंतु जो अन्तरंग बहिरंग ग्रंन्थवान (परिग्रही) पर सम्यक्त जीव है वह केवल इस ग्रन्थ को ग्रंन्थरुप से (परिग्रह) सिर पर धारण कर सकता है, परंतु पूर्ण रुप से ग्रहण करके हृदय में ग्रहण नहीं कर सकता है। जैसे कि शेरणी (सिहणी) का दूध जिस किसी पात्र में नहीं रहता उसे सुवर्ण पात्र ही चाहिवे, अन्यथा पात्र छिन्न-भिन्न होता है उसे योग्य पात्र ही चाहिये। अतः सम्पूर्ण रुप से निर्मोह, निस्संग, निराग, निक्षेप, मुनि ही उस समयसार को जानने के समझने के, कथन करने के पात्र हैं, अन्यथा अपात्र होने पर भी इस समयसार को धारण करने लगे तो जीवन रुपी पात्र छिन्न-भिन्न होगा, तुकडे तुकडे होगा अर्थात स्वच्छंद विषयी-कषायी होगा जैसे भोजन को योग्य व्यक्ति, योग्य रीति से भोजन करके पचाने पर वह भोजन शक्तिवर्धक होता है। परंतु अयोग्य व्यक्ति अयोग्य रीति से भोजन करने पर अपचन होकर शक्ति क्षीण होती है, रोगों का कारण बनता है। भोजन सिर पर रखने पर केवल वह भार स्वरुप होता है, परन्तु योग्य रीति से भोजन करने से शक्ति वर्द्धक होता है। उसी प्रकार शास्त्र को केवल सिर पर रखने पर सिर का बोझ बढ़ता है एवं आत्मा को कोई लाभ नहीं मिलता है। इस समयसार में वर्णित शुद्धात्म तत्व का परिज्ञान एवं प्राप्ति किनको होता है स्वयं जयसेनाचार्य ने प्रथम गाथा की टीका में कहा है

"निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञानेन शुद्धात्म परिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः।"

इस समयसार ग्रन्थ का प्रयोजन यह है कि निर्विकार स्वसम्वेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना व प्राप्ति है।

सद्दृष्टि जनः पुनरभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिबलेन फलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मामनुभवतीत्यर्थः ।

स. सा. जयसेनाचार्य त. वृ. / गा. ११

सम्यग्दृष्टि जीव पुन अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि बल से स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है ।

निश्चयनय किसके लिये–

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहिं ।
ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे ।

स. सा. / गा. १२

भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतवानां प्रयोजवान् भवति । किन्तु निर्विकल्प समाधि रहितानां पुनः षोडशवर्णिका सुवर्णलाभाभावे अधस्तन वर्णिका सुवर्णलाभवत्केषां चिन्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्व विषय कषाय दुर्ध्यानवंचनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति

तात्पर्यवृत्ति-सुद्धो शुद्धनय निश्चयनयः कथंभूत सुद्धादेसो शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । णादव्वो ज्ञातव्यः भावयितव्यः कैः परमभावदरसीहि शुद्धात्म भावदर्शिभिः । कस्मादिति चेत् यतः षोडशवर्णिकाकार्तस्वरलाभवेद्र भेद रत्नत्रय स्वरुप समाधिकाले प्रयोजनो भवति । निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । ववहार देसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण दर्शितः कथित इति व्यवहार देशितो व्यवहार नयः पुनः पुनः अधस्तन वर्णिक सुवर्ण लाभवत्प्रयोजनवान् भवति । जे ण ये पुरुषा दु पुन अपरमे अशुद्धे असंयत सम्यग्दृष्टयपक्षया श्रावकापक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ताप्रमत्त संयतापक्षयाच भेद रत्नत्रय लक्षणे वा ठिदा स्थिता कस्मिन स्थिता ? भावे जीव पदार्थे तेषामिति भावार्थ ।

स. सा. तात्पर्यवृत्ति / गा. १२

शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है, वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुये पुरुषों के द्वारा अंगिकार करने योग्य है । परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे क अवस्था में स्थित है । उनके लिये व्यवहार नय ही कार्यकारी है अर्थात उपादेय है ।

शुद्ध निश्च। नय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है वह शुद्धता को प्राप्त हुये आत्मदर्शियों के द्वारा जानने–भावने अर्थात अनुभव करने योग्य

है। क्यों कि वह सोलहवानी सुवर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरुप समाधि काल में प्रयोजनवान होता है। किन्तु व्यवहार अर्थात विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहार नय है वह पन्द्रह, चौदह आदि वानी के सुवर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजन हैं जो लोग अशुद्ध रुप शुभोपयोग में जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणवाला हैं और प्रमत्त-अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षणवाला हैं ऐसे शुभोपयोग रुप जीव पदार्थ में स्थित है।

व्यवहार नय त्यागने से हानि–

यद्यपि व्यवहार नयो बहिर्द्रव्यावलंबनत्वेन भूतार्थस्तथापि रागादि बहिर्द्रव्यावलंबन रहित विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव सहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति यदा–पुनर्व्यवहार नयो न भवति तदा शुद्ध निश्चय नयेन त्रस स्थावर जीवा न भवंतीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वंति जनाः। ततश्च पुण्यरूप धर्माभाव इत्येकं दूषणं तथैव शुद्धनयेन राग द्वेष मोह रहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं। तस्माद् व्यवहार नय व्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।

स. सा. त. वृ / गा. ५१

यद्यपि व्यवहार नय बहिर्द्रव्य का आलबन लेनें से अभूतार्थ हैं किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान, दर्शन स्वभाव के आलम्बन सहित ऐसे परमार्थ का प्रतिपादक होने से इसका भी कथन करना आवश्यक है क्योंकि यदि व्यवहार नय को सर्वथा भुला (छोड) दिया जाय तो फिर शुद्ध निश्चय नय से तो त्रस स्थावर जीव है ही नहीं। अतः फिर लोग स्वच्छंद, निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे ऐसी दशा में पुण्य रुप धर्म का अभाव हो जायेगा एक दूषण तो यह आयेगा।

तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव राग–द्वेष–मोह से रहित पहले से ही हैं अतः मुक्त ही हैं, ऐसा मानकर फिर मोक्ष के लिये भी अनुष्ठान कोई क्यों करेगा? अतः मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, यह दूसरा दूषण आयेगा। इसलिये व्यवहार नय का व्याख्यान परम आवश्यक है, निरर्थक नहीं है।

आचार्य ज्ञानसागर हिंदी टीका से उद्धृत

परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग–द्वेष मोह से भिन्न कहता कहता है। यदि किसी का एकांत किया जावे, तब शरीर तथा राग द्वेष

मोह से भिन्न पुद्गलमय ठहरे और तब पुद्गल की बात से हिंसा नहीं हो सकती है और राग-द्वेष-मोह से बंध नहीं हो सकता है इस प्रकार परमार्थ से संसार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जायेगा ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तु रूप ही है इस लिये व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध रहित श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

प जयचन्द्रजीकृत हिन्दी टीका

समयसार की दृष्टि में ज्ञानी व अज्ञानी–

यद्यपि सम्यग्दर्शन होने के बाद आगम अपेक्षा सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी है, परंतु अध्यात्मिक दृष्टि अर्थात समयसार दृष्टि से सम्पूर्ण पंचेंद्रिय जनित विषय भोगों से रहित सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प से रहित अंतरंग बहिरंग परिग्रह रहित निर्विकल्प ध्यान स्थित महामुनि ही ज्ञानी है उससे अतिरिक्त उस अवस्था से रहित नीचे-नीचे के गुणस्थानवर्ती जीव अज्ञानी है, क्यों कि जो शुद्धात्मानुभूती रूप निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान, अनुभूति रूप आत्मानंद का आस्वादन पूर्ण रूप से नहीं कर पाता है। यथायोग्य विषय कषाय पर पदार्थ में अनुरंजित होने के कारण वह अज्ञानी है। समयसार बाह्य शास्त्रीय ज्ञान को कोई प्रकार महत्त्व नहीं देता है अर्थात ज्ञानी नहीं मानता है।

पंडिय-पंडिय-पंडिया कण छंडि कि तुरा कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि।"

पाहुड दोहा मुनि रामसिंह

हे शब्द-अर्थ ग्रंथ से संतुष्ट को प्राप्त करने वाला पंडित! तू परमार्थ ज्ञा बिना केवल मूढ़ है, अज्ञानी है, मिथ्य दृष्टि है। जैसे कण रहित तुस को कूटने पर उससे विशेष लाभ नहीं होता उसी प्रकार तू ने परमार्थ रहस्य को जाने बिना केवल शब्द ग्रन्थमें संतुष्ट होकर गाथाए रटकर लचकदार भाषा से भाषण करके, पर मनोरंजन करके भी तूने कुछ विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर पाया। कारण कि शब्द, ग्रन्थ में परमार्थ तत्त्व, धर्म अथवा अध्यात्मिक नहीं है वह केवल सूचना मात्र है। जैसे किसी रोगी ने औषधी का नाम लिखे हुए कागज को सेवन करने से उस रोग दूर नहीं होता है उसी प्रकार शास्त्र कण्ठस्थ करने से भवरोग दूर नहीं होता है। जैसे चित्रित कूए से जल प्राप्त नहीं होता है एवं प्यास भी नहीं बुझती है। चित्रित मिष्ठान्न व भोजन से जिव्हा को स्वाद नहीं मिलता है एवं पेट नहीं भरता है। जैसे माँ बेटे को हाथ की अंगुली से चन्द्र को संकेत करती है, दिखाती

परन्तु चन्द्र अंगुली में नहीं, है, इसी प्रकार शास्त्र में परम तत्त्व का संकेत है। परम तत्त्व को दिखाता है किन्तु परमतत्त्व नहीं है। जैसे पानी के पात्र मे सूर्य बिम्ब दिखाई देता है किन्तु सूर्य बिम्ब नहीं है किन्तु बहुत दूर में है उसको प्राप्त करने के लिये तदनुकूल क्रिया करना आवश्यक है। जैसे मान-चित्र में देश-विदेशों का चित्र है परंतु हम उसमें ही देश विदेशों को ढूंढेंगे तो उसमें देश-विदेश नहीं मिल सकता है। उसी प्रकार शास्त्र मे तत्त्वों का मान चित्र है किन्तु यथार्थ तत्त्व उसमें नहीं है उस संकेत के अनुसार हम सम्यक् क्रिया करेंगे तो उस तत्त्व को प्राप्त कर सकते है जैसे रोड (रास्ते) पर माईल स्टोन में नगरों का नाम एवं दूरी एवं दिग् सूचित रहता है परंतु उस माईल स्टोन को पकड़ कर बैठने पर उन-उन नगरों में नहीं पहुँच सकते है। उस माईल स्टोन को छोड़कर एव गमन करने पर ही उन-उन नगरों को प्राप्त कर सकते है उसी प्रकार शास्त्र में मोक्षादि तत्त्वों का वर्णन है उस वर्णन के अनुसार यदि सम्यक् आचरण करेंगे तब मोक्षादि तत्त्व की प्राप्ती हो सकती है। जैसे एक विद्यार्थी वाणिज्य विद्या (कॉमर्स) मे स्नातकोत्तर (M. Com.) होने के बाद भी वह कुशल व्यापारी नहीं हो सकता है, वाणिज्य विद्या का विद्यार्थी होने मात्र से वह सेठ नहीं बन सकता है। उस विद्या के अनुकूल व्यापार करने पर ही धनोपार्जन कर सकता है। एक कुशल निरक्षर व्यापारी व्यापार के माध्यम से सेठ बन सकता है। परन्तु साक्षरी वाणिज्य विद्या विशारद भी उस निरक्षरी सेठ का नोकर होकर कार्य करता है।

अक्खरडेहि जि गव्विया कारणु ते ण मुणंति।
वंस विहूणा डोंम जिम परहत्थडा धुणंति॥

पाहुड दोहा मुनि रामसिंह

कारण को नहीं जानने वाला अक्षरज्ञ मनुष्य का ज्ञान व्यर्थ है उससे वह आत्मोन्नति नहीं कर सकता है। वह स्वावलंबी रुप आत्मावलंबी नहीं हो सकता है। जैसे डोम बांस से रहित होने के कारण अपना खेल दिखाने रुप कार्य नहीं कर सकता है। केवल हाथ धुनते रहता है उसी प्रकार शास्त्र के रहस्य को हृदयंगम नहीं करने वाला, आचरण में नहीं लाने वाला केवल हाथ मलते रहता है।

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति॥
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति॥

स. सा. / गा. ४१४-४१५

शास्त्र और ज्ञान एक नहीं है क्यों कि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता है वह तो जड है। इसलिये ज्ञान भिन्न वस्तु है और शास्त्र उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते है।

शब्द भी ज्ञान नहीं है क्यों कि शब्द कुछ नहीं जानता है। इसलिये ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है। और शब्द उससे भिन्न वस्तु है ऐसा जिन भगवान कहते है।

पुस्तकेषु च विद्या परहस्तेषु यदधनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्॥

चाणक्यनीति दर्पण / श्लो. २०

जो विद्या कण्ठ में न रह कर पुस्तक में लिखी पडी है। जो धन अपने हाथ में न रहकर पराये हाथ में पडा है अतएव आवश्यकता पडने पर अपने काम नहीं आ सकती, वह विद्या न विद्या है और न वह धन, धन ही है।

जैसे एक कृषि विद्या में स्नातकोत्तर उत्तीर्ण होकर भी कृषि कार्य करने में अर्थात हल चलाने में, मिट्टी खोदने में, मिट्टी ढाने आदि में असमर्थ भी हो सकता है। परंतु जो कृषक है जिसने कृषि विद्या संबंधी विशेष आक्षरीक अध्ययन भी नही किया वह कृषि कार्य दक्ष होकर करता है। उसी प्रकार केवल शास्त्रज्ञ भी आत्मतत्त्व से, आत्म भावना से, धर्म-कर्म से दान पुजादि कर्तव्यों के पालन करने मे असमर्थ भी हो सकता है, और परांमुख भी हो सकता है। उसी प्रकार अक्षरज्ञ पंडित के लिये वह शास्त्र विशेष कार्यकारी नहीं है। परंतु जो विशेष शास्त्रज्ञ नहीं है किन्तु आचरण मे धर्म को लाता है वह कृतकार्य हो सकता है। जैसे कि प्रथमानुयोग में शिवभूति, भीमसेन जैसे अनेक अक्षर ज्ञान से अनभिज्ञ मोक्ष को प्राप्त किये मिलते है। तथा ग्यारह अंग पाठी भी अपने कुकृत्यों से अधोगति–दुर्गति को प्राप्त हुये। जैसे केवल भोजन करने मात्र से शक्ति वृद्धि नहीं होती है। भोजन यथार्थ पाचन से ही शक्ति वृद्धि होती है। उसी प्रकार शास्त्र को आत्मसात करके तदनुकूल आचरण करने से ही आत्मविशुद्धि होती है। जैसे भोजन नहीं पचाने से उससे रोग ही बढता है उसी प्रकार शास्त्र को भी नहीं पचाने पर अर्थात आचरण में नहीं लाने पर वह भी अपाच्य आहार के समान अपत्थ का अर्थात विष का कार्य करता है।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति॥

– नीति वाक्य

जिसका विवेकरूपी ज्ञान चक्षु नहीं है। उसके लिये शास्त्र कोई कार्यकारी नहीं है। जैसे दृष्टि रहित अंध के लिये दर्पण कोई कार्यकरी नहीं है। अर्थात दृष्टि शक्ति बिना मनुष्य स्वच्छ दर्पण में भी अपना मुख नहीं देख पाता है उसी प्रकार हिताहित विवेक रहित मनुष्य भी शास्त्र से अपने आत्मस्वरुप को प्राप्त नहीं कर पाता है।

विद्या विवादाय धन मदाय शक्ति परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

खल दुर्जन व्यक्ति विद्या प्राप्त करके विवाद करता है धन प्राप्त करके मदोन्मत्त होता है, शक्ति प्राप्त करके दूसरों को पीडा देता है, परंतु साधु धर्मात्मा पुरुष विद्या प्राप्त करके हिताहित विवेक वित ज्ञानी बनता है, दान प्राप्त करके दान देता है, एवं शक्ति प्राप्त करके दुसरों की रक्षा करता है। जैसे अग्नि के द्वारा भोजन तयार करके उससे शरीर की पुष्टि कर सकते हैं, और अग्नि को शरीर के ऊपर डालकर नष्ट भी कर सकते है। उसी प्रकार शास्त्र के माध्यम से आत्म विशुद्ध करने से शास्त्र, शास्त्र है अन्यथा वह शस्त्र है अर्थात स्वयं काही घातक भी हैं।

"अज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां।"

जो निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट है अर्थात निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं है वह अज्ञानी है। और जो निर्विकल्प समाधि में स्थित है वह ज्ञानी है।

निर्विकल्प समाधि परिणाम परिणत कारक समयसार लक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारम्भापरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मप्रतीति संवित्युपलब्धनुभूति रुपेण ज्ञानमय एव भवति। अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्त भेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूति स्वरुपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः।

जयसेनाचार्य। त. वृ / गा. १३४

निर्विकल्प समाधिरुप परिणाम से परिणतर हने वाला जो कारण समयसार है लक्षण जिसका उस भेदज्ञान के द्वारा सभी प्रकार के आरंभ से रहित होने के कारण ज्ञानी जीव का वह भाव शुद्धात्मा की ख्याति प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि, या अनुभूति रुप से ज्ञानमय ही होता है। किन्तु अज्ञानी जीव को पूर्ववित भेदज्ञान न होने से शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप का अभाव होने से उसका वह भाव अज्ञानमय होता है।

जो आत्मा अनंतज्ञान, दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रुप चतुष्टय को प्राप्त है वह कार्य समयसार कहलाता है। किन्तु जो अनंत चतुष्टय को

प्राप्त न होकर उसकी प्राप्ति के लिये निर्विकल्प समाधि में लगता है वह उपर्युक्त कार्यसमयसार का सम्पादक होने से कारण समयसार कहलाता है। जो सब प्रकार आरंभ-परिग्रह आदि से रहित होकर अपनी शुद्धात्मा को अनुभूति लिये हुये रहता है अतः उसके राग-द्वेषादि रहित शुद्ध ज्ञानमय भाव ही होता है। किन्तु जो समाधि से च्युत होकर अशुद्ध होता है। अतः उसका भाव उस समय अज्ञानमय होता है ऐसा आचार्य का कहना है।

स सा. आचार्य ज्ञा सागर हिंदी टी ा का विशेषार्थ / गा. १३२

"आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो तावत्कालं परमसमाधे-भावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः"

तब तक परम समाधि के न होने से वह जीव अज्ञानी होता है जो की कर्मों का करने वाला होता है ऐसा समझना चाहिये।

निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणे भेद ज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावना दृढयति। यथा को ऽ प राजसेवक पुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्मा ऽ राधक पुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः।

समयसार। त. वृ गा २०-२१-२२

निर्विकार स्वसंवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेद ज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिये। इसी बात को फिर दृढ करते है कि जैसे कोई राज पुरुष भी राजा के शत्रू ओं के साथ संसर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता। उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा की प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादि भाव है उन रुप परिणमन करने वाला होता है तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता यह इसका निचोड (तात्पर्य) है।

जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थों में अहंकार रखने वाले को भी अप्रतिबद्ध बतलाया है उसी प्रकार उन में ममकार रखने वाला को भी अप्रतिबद्ध बताते हुये उन सब से दूर हटकर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही अप्रतिबद्ध, ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि कहा है।

आचार्य ज्ञानसागरजी की हिन्दी टीका से उद्धृत

निश्चयज्ञ कौन–

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥

समयसार गा. ३६ में क्षेपक / कर्ताकर्माधिकार

निश्चय मे तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोक उसे जितेन्द्रिय कहते है। जो इन्द्रियों को वश मे करके अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है।

यःकर्ता द्रव्येंद्रिय- भावेन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय विषयान् जित्वा शुद्ध ज्ञान चेतना गुणेनाधिक परिपूर्ण शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयति। तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधवः के ते ? निश्चयज्ञा।

स. सा. जयसेनाचार्य। त. वृ. गा. ३६

जो जीव द्रव्येंद्रिय-भावेन्द्रिय रुप पञ्चेंद्रियों के विषयों को जीतकर शुद्धज्ञान चेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्धात्मा को मानता है, जानता, अनुभव करता है; संवेतन करता है अर्थात् शुद्धात्मामे तन्मय होकर रहता है, उस पुरुष को ही निश्चय नय के जानने वाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं।

यः पुरुष उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रैकाग्रयरुप निर्विकल्प समाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति। तं साधुं जितमोहं रहितमोह परमार्थ विज्ञायका ब्रुवन्ति कथयन्तीति।

(स. सा. जयसेनाचार्यकृत. गा. ३६)

जो पुरुष उदयमे आये हुये मोह को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र इन तीनों की एकाग्रता रुप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर, अर्थात् दबाकर शुद्धज्ञान गुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानता है, जानता है, और अनुभव करता है उस साधु को परमार्थ के जाननेवाले 'जित मोह' अर्थात् मोह से रहित जिन, इस प्रकार कहते है।

(आचार्य ज्ञानसागर जी की हिन्दि टीका से उद्धृत)

उपरोक्त आगम प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि केवल शास्त्र-शास्त्र कण्ठस्थ करने से अध्ययन-अध्यापन करने से उपदेश देने से, शास्त्रों की रचना एवं टीका करने से अथवा आत्म तत्त्व (निश्चय नय) का वर्णन करने से कोई निश्चयज्ञ नहीं हो सकता। किन्तु जब भव्य सम्यग्दृष्टी जीव संसार-शरीर भोगों से विरक्त होकर अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को त्याग कर पञ्चेन्द्रिय विषय कषाय को जीतकर परिषह उपसर्ग को सहन कर, कषायों का क्षय या उपशम करके, समस्त संकल्प-विकल्प से दूर होकर निर्विकल्प समाधि के माध्यम से स्व शुद्धात्मा को जानता है, मानता है, भावना करता है वही निश्चयज्ञ है अन्य नहीं। अर्थात् सातिशय सप्तम गुणस्थानवर्ती से ऊपर के

गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयपञ्च है। उसके नीचे के गुणस्थानवर्ती जीव निश्चयज्ञ नहीं है। पूर्ण निश्चयज्ञ तो केवलज्ञानी अरिहंत एवं सिद्ध ही है। जो परिग्रह दि धारण करके स्त्री भोगकर, विषय कषायों मे स्वपच होते हुये अपने को निश्चयज्ञ मानता है वह स्वयं को ही वंचित करता है। और उसी प्रकार गृहस्थ-श्रावक को पंडितों को भी अथवा निर्विकल्प समाधिसे नीचे स्थित मुनियों को भी जो निश्चयज्ञ मानता है, वह भी आगम के रहस्य को नहीं जाना वह भी अंधकारमय ही है।

मुख्यरुप से समयसार किस के लिए–

" अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्या वीतराग सम्यग्दृष्टे ग्रहणं, वस्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्या गृहण "

स. सा. त. वृ. २ २ जयसेनाचार्य

इस ग्रंथ मे वास्तविक वीतराग सम्यग्दृष्टि (ध्यानस्थ एव श्रेणी स्थित मुनि) का ही ग्रहण है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि का कथन यहाँ गौण है।

ध्यान स्थित मुनि समयसारमे वर्णित विषयों का अनुभव करता है; आचरण करता है, श्रद्धान करता है, मानता है, जानता है, इसलिये समयसार का विषय मुख्य रुप से मुनियों के लिए है उसके नीचस्थ सम्यग्दृष्टि जीव जैसे छठवें गुणस्थान स्थित मुनि, पाँचवें गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक एव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयत सम्यग्दृष्टि जीव समयसार के पूर्ण आचरण नहीं कर पाते है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव मुख्यवर्ती से श्रद्धान करता है किंतु आचरण में नहीं ला पाता है उसके लिये समयसार गौण है। सम्यग्दृष्टि जीव केवल तत्वों का श्रद्धान करता है परंतु पंचेन्द्रियों के विषय से विरत नहीं हो पाता है, भोग–उपभोग को भोगता रहता है, धनोपार्जन के लिये व्यापार धंधा करके त्रस और स्थावर का भी वध करता रहता है, मन सतत राग-द्वेष कामादि विषय वासना में रत रहता है, अत्यन्त स्थूल अणुव्रत भी धारण नहीं कर पाता है।, उसका अन्तरंग–बहिरंग परिग्रह रहने के कारण उसका मन क्षुभित रहता है। मन और इन्द्रियों को वश करने में वह समर्थ नहीं हो पाता है जिससे वह स्थूल परिग्रह त्याग नहीं कर पाता है। जब वह उत्कृष्ट धर्मध्यान व पुण्यकर्म, शुभोपयोग भी नहीं कर पाता है तब वह कैसे अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरंग परिग्रहों को त्याग करके मन को वशवर्ती करके कैसे निर्विकल्प ध्यान कर सकता है ? इसलिए समयसार के विषय को सम्यग्दृष्टि श्रद्धान करता है, किंतु आचरण नहीं कर पाता है,

परंतु उसके योग्य अन्य अन्य धार्मिक क्रियाओं को करते हुए जब आगे बढ़ते हुए अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह को छोड़ते हुए आर्त-रौद्र ध्यान को नष्ट करते शुभ ध्यान को ध्याते हुए मुनि व्रत को धारण करते हुए निर्विकल्प समाधि में लीन होता है तब समयसार को प्राप्त कर सकता है। जब तक इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है तब तक यथायोग्य दान-पूजा-अभिषेक षड्आवश्यक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तीर्थ-यात्रा, देवदर्शन-जपतप-सामायिक आदि शुभ क्रियायें करना चाहिये, जो कि आत्म-विशुद्धि के लिए कारण है, पाप निर्जरा के लिये कारण पुण्यबंध का कारण, एवं परंपरा मोक्ष के लिए कारण है। यदि श्रावक अवस्था में रहते हुए यथायोग्य श्रावकों की क्रियाओं को नहीं करता है वह इतोभ्रष्ट ततोभ्रष्ट उभयभ्रष्ट है। इसी प्रकार मुनि भी निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं करता है तब तक २८मूलगुण, देववंदनादि षट् आवश्यक निर्दोष पूर्वक पालन करना चाहिये, यदि इन शुभ क्रियाओं से पुण्यबंध होता है ऐसा मानकर त्याग कर देता तो वह भी उभयभ्रष्ट है, क्योंकि घर-द्वार स्त्री कुटुम्बादि को छोड़कर इहलोक सुख से वंचित है, तथा स्वकर्त्तव्य पालन नहीं करने से परलोक सुख से भी वंचित हो जायेगा। जो केवल संसारिक सुख भोगते हुए, परिग्रह का संचय करते हुए, स्त्री कुटुम्ब का सुख लेते हुए भोग से योग मानते हुए भक्ति से मुक्ति मानते हुए, संभोग से समाधि मानते हुए स्वयं को मोक्षगामी मुमुक्षु वीतरागी मानते हैं वह अपने को धोखा दे रहा है। क्योंकी उपरोक्त कार्य आत्मा से विपरीत होने के कारण उससे मोहनीयादि तीव्र पाप बंध होते हैं जिससे केवल संसारिक घोर दुःख ही दुःख मिलता है।

" दो मुख पन्थी चले न पन्था, दो मुख सुई सिये न कन्था।
दोय बात नहि होय सयाने, विषय भोग अरु मुक्ति हु पाने "

रागद्वेषके त्याग विना यथार्थ पद नाही।
कोटि ग्रन्थ पढ़ो व्याख्या करो सब अकारज जाहि॥

समयसार क्या ? उसका अनुभव कौन कर सकता है ?

कम्म बद्धमबद्धं जीवे तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥
समयसार। गा १५०

जीव में कर्म बन्धे हुये है अथवा नहीं बन्धे हुए है इस प्रकार तो नय पक्ष जानो और जो पक्ष से दूरवर्ती कहा जाता है, वह समयसार है निर्विकल्प शुद्धात्म तत्व है।

" ततो य एव समस्तं नयपक्षमतिक्रमति स एव समस्तं विकल्पमति-

क्रामति, य एव समस्त विकल्पमतिक्रामति स एव समयसार विंदति"

(श्रीमदामृतचन्द्राचार्यकृत आत्मख्याति)

इस लिये जो समस्त नयपक्षो को छोड़ता है, तथा वही समयसार का अनुभव कर सकता है। नयपक्षातिक्रांतो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा। तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नय विकल्पः शुद्ध जीव स्वरुपं न भवति निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नय विकल्पः शुद्ध जीव स्वरुप न भवति निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्ध जीव इति वचन विकल्पः शुद्ध जीव-स्वरुपं न भवति, कस्मादिति चेत्? श्रुत विकल्पा नया इति वचनात्। श्रुत-ज्ञानं च क्षायोपशमिक क्षायोपशमस्तु ज्ञानावरणीय क्षायोपशमजनित तत्वात। यद्यपि व्यवहार नयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरुप भण्यते तथापि केवल ज्ञानापेक्षया शुद्धजीव स्वरुपं न भवती। तर्हि कथभूत जीवस्वरुपमिति चेत्? योसौ नयपक्षपात रहित स्वसंवेदन ज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्ध मूढा-मूढादि नय विकल्परहितं चिदानंदेक स्वभाव जीवस्वरुप भवतीति।

(जयसेन आचार्यकी तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा १५)

शुद्धात्म तत्व क वास्तविक स्वरुप जो की समयसार नामसे कहा जाता है वह है तो इन दोनो पक्षोंसे भिन्न प्रकारका ही है; क्योंकी व्यवहार नयके कहने के अनुसार जीव कर्मोंसे बधा हुवा है जो की शुद्धजीवका स्वरुप नही है और निश्चयनय से जीव कर्मोंसे अबद्ध है। वह भी नय का विकल्प है जो की शुद्ध जीवका स्वरुप नही है इसलिये निश्चय और व्यवहार के द्वारा जीव को बद्ध या अबद्ध कहना यह जीव मात्र का स्वरुप नही है। यह नय का विकल्प है। नय जितने भी होते है वह सब श्रुतज्ञानके विकल्प रुप होते है वह सिद्धांत की बात है। और श्रुतज्ञान है सो क्षायोप-शमिक है। वह क्षायोपशम ज्ञानावर्णीय कर्म के क्षायोपशमसे प्रकट होने के कारण यद्यपि व्यवहारनय के द्वारा छद्मस्थ जीव की अपेक्षा से जीव का स्वरुप होता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से वह शुद्ध जीव का स्वरुप नहीं है तब फिर जीव का स्वरुप क्या है इस प्रश्न के होने पर आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं— नय के पक्षपात से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञानी जीव है उसके विचारानुसार जीव का स्वरुप बद्धाबद्ध या मूढामूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंदस्वरुप होता है।

ण एव मुक्ता नयपक्ष पातं स्वरुप गुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्प जाल च्युत शांत चित्तास्तएव साक्षादमृतं पिबंति ॥ ६८ ॥

जो लोग नय के पक्षपात को छोडकर सदा अपने आप के स्वरुप मे तल्लीन रहते है एवं सभी प्रकार के विकल्प जालसे रहित शांतचित्त वाले होते है वे लोग ही साक्षात् अमृत का समयसार का पान करते है।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वावपि पक्ष पातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥६९॥

जीव व्यवहार नय की अपेक्षा से बद्ध होता है और निश्चय नय की अपेक्षा से बद्ध होता है। और निश्चय नय की अपेक्षा से वह बद्ध नहीं होता है। अतः इन दोनो नयों के विचार मे अपना-अपना पक्षपात है। इसलिये पक्षपात रहित तत्त्ववेदी पुरुषके ज्ञान मे तो चेतन-चेतन ही है।

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका। वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते ॥

हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात्। त्यक्त्वा हेयमुपादेयेवस्थानं साधुसम्मतं ॥

(स. सा. जयसेनाचार्य त. वृ.)

आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों को लेकर चलती है। किन्तु तत्व को जान लेने के बाद स्वस्थ हो जानेपर उहापोहात्मक बुद्धि दूर हो जाती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्त्वका निर्णय कर लेने पर हेय का त्याग करके उप देय तत्त्व मे लगे रहना साधु-संतों को अभीष्ट है

आह्वान–

जिस करणी से हम हुए अरहंत सिद्ध महान।
उस करणी तुम करो हम तुम दोनों समान॥

उपसंहार:–

समयसार वस्तुतः शास्त्र नहीं है, जो कि कुछ स्वर व्यंजनात्मक वाक्य मे लिपिबद्ध है। वह तो एक परमोत्कृष्ट, अलौकिक, अभौतिक, अतिन्द्रिय, शब्दातीत, वचनातीत, अनाकार, मनातीत परमतत्व है। वह परमतत्व वचन के अगोचर, शब्द से अवर्णनीय, शास्त्र की सीमा से परे है, कोई भी उसको हाथ मे लेकर देख नहीं सकता है। सूक्ष्म अणुवीक्षण दूरदर्शक यंत्र से देख

नहीं सकता है, भौतिक विज्ञान शाला का अविषय है। वच. के अगोचर होते हुए भी जिसका कथन सतत आध्यात्मिक शिखरस्थ करते हैं, शास्त्र की सीमा से परे होते हुए भी जिसका वर्णन समस्त आध्यात्मिक शास्त्र करता है, जिसका प्रदर्शन करवाना असंभव होते हुये भी समस्त आध्यात्मिक प्रशिक्षक जिसका ही प्रदर्शन कराते हैं, वह ही परमोत्कृष्ट स्वतत्व समयसार है। जिसका दर्शन चक्षु आदि इन्द्रियों से, सूक्ष्म शक्तिशाली अणुदर्शक दूर दर्शक यंत्र से, तर्क, व्याकरण, छन्द, साहित्य, काव्य, नाटक, न्याय, दर्शन, आगम, आध्यात्मिक शास्त्र से भी नहीं हो सकता है; उसका दर्शन निःशंक निरालम्बी अकिंचन महामुनि सहज स्वभावी निर्विकल्प परमसमाधि के माध्यम से करते हैं। जो तर्क, वितर्क, कुतर्क, सुतर्क के अगम्य वाद विवाद कुवाद सुवाद के परे होते हुए भी जो सहज सरल महामुनि के वेदगम्य हैं। जो परम मुनियों का परम ध्यान का विषय होते हुए भी स्वयं ध्यानातीत, जो निश्चय–व्यवहार, द्रव्य-पर्यायात्मक नय का विषय होते हुये भी स्वयं सर्व नयातीत है, जो निक्षेपों के विषय होते हुये भी स्वयं निक्षेपातित है, जो सर्व ज्ञेय पदार्थ को जानते हुए भी स्वयं अन्य ज्ञेय स्वरुप नहीं, जो सर्व द्रव्य संयोग सहित होते हुये भी स्वयं असंग स्वरुप वह है, अतिविचित्र अतिगूढ़ शुद्ध स्वात्मतत्व। जो अमूल्य होकर भी त्रिलोक के मूल्य से भी खरीदा नहीं जा सकता, जो गुरुता से (भारीपना) रहित होकर भी त्रिलोक के गुरु है, जो सूक्ष्म होकर भी लोकालोक से भी अनन्त गुण (ज्ञानापेक्षा) बड़ा है वह है महान तत्व स्वशुद्धात्म तत्व। जो अगुरुलघु (न भारी, न हल्का) होते हुये भी जिसको चलायमान कराने में त्रिलोक की शक्ति असमर्थ, जो दुसरों को प्रतिरोध (अव्याबाध) नहीं करते हुये भी कोई उनको बाधा नहीं पहुँचा सकता, जो मन वचन कायं बल से रहित होकर भी अनंतवीर्य है, वह स्वयम् सर्वशक्तिवान समयसार तत्व स्वशुद्धात्म तत्व है। जो समस्त चर चर का दर्शक होते हुये भी स्वयं सर्वदृष्टि के अगोचर, सर्व का दर्शन होते हुये भी जो स्वयं अनन्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि है वह शुद्ध बुद्ध सुदर्शन रुप आत्मतत्व समयसार स्वशुद्ध तत्व है। (जो मिथ्या देवादियों का दर्शन करता है वह मिथ्यादृष्टि परंतु शुद्धात्मा, अनंतदर्शन से सबका दर्शन करते हुये भी क्षायिक अनन्त सम्यक्त्ववाला है) जो सुख से (काम-भोग इन्द्रिय जनित सुख से) रहित होकर भी जो त्रिकालवर्ती नर-नरेन्द्र, देव-देवेन्द्र, असुर असुरेन्द्रादिकों के सुख से भी अनंत गुणित अतिन्द्रिय, अव्य बाध, निरापेक्ष, आत्मोत्थ, निराकुल, ज्ञानानंद रुप अमित सुख को अनुभव करता है वह अनंत शान्ति, सुखी, आत्मोपयोगी, महेन्द्र, विष्णु, शंकर, शुद्ध-बुद्ध-प्रबुद्ध परम अभौतिक चिज्ज्योतिस्वरुप, आनंद घन स्वरुप

त्रैकाली ध्रुवतत्व स्वशुद्ध आत्मतत्व ही निश्चय से समयसार है। जो दूसरों का तो कभी स्मरण नहीं करता है परंतु जिनका स्मरण मुनिन्द्र, देवेन्द्र नरेन्द्रादि करते है वह परमेश्वर, प्रभुविभु अर्हंत, विष्णु पूज्यपाद, परमाराध्य त्रिलोक पूज्य स्वशुद्ध तत्व, उत्कृष्ट परमोपादेय द्रव्य समयसार है।

यः स्मर्यते सर्व मुनीन्द्र वृन्दैः
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेद पुराण शास्त्रैः
स देव देवो हृदये ममास्ताम् ॥ भा द्वा. १२ ॥
यो दर्शन ज्ञान सुख स्वभावः
समस्त संसार विकार बाह्यः
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. १३ ।
यो व्यापको विश्व जनीन वृत्तेः
सिद्धो विबुद्धो श्रुत कर्मबन्धः ।
ख्यातो धुनीतो सकलं विकार
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ भा. द्वा. १३ ॥
निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ समाधिशतकम् ६ ॥
नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्व भावान्तरच्छिदे ॥ अमृतकलश १ ॥

उपाध्याय मुनिश्री कनकनन्दि

७–११–८७

धर्मकी परीक्षा–

यथा सुवर्णं परिक्ष्यते घर्षण छेदन ताप ताउनैः ॥
धर्मो विदुषाः परीक्ष्यते श्रुतेन शीलेन तपदयागुणैः ॥

जैसे सुवर्णको घर्षण, छेदन, अग्निमे तपना, एवं ताडना से परीक्षा करके शुद्धसुवर्ण ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी धर्म को शास्त्रसे, शीलसे, तपसे एवं दया गुण से परीक्षा करके शुद्ध धर्म को ग्रहण करता है। अर्थात् जिस धर्म मे अविरोध शास्त्र है, शील है, तपश्चर्या है, दया धर्म है वही धर्म सत्यधर्म है अन्य धर्म कुधर्म है। अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बुद्धिहीन जन दयादिहीन धर्मको स्वीकार करते है, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि बुद्धिमान जन नहीं ॥

धर्म: कल्पवृक्ष–

धर्म कल्पवृक्षस्य अहिंसा दृढमूल:
सुरत्न त्रय: स्कंध: क्षमादि दिव्य शाखा: ।

समिति सुमन शोभे गुप्तित्रय: पराग:
अमृतफलं दिव्य: नित्यानन्द रसाल: ॥

सरस्वती स्तव–

सर्वज्ञदेव तनुजा शुद्धशुभ्रगात्री
विज्ञान हंसवाहिनी वेद-चतुर्भुजी ।

स्याद्वादवीणा अनेकान्त धर्मधारिणी
जगत जननी नमो अमृत वर्षणी ॥

सर्वज्ञहृदोद्भुत: पवित्र तीर्थ: पूनी
अनेकान्त: वहुर्मि स्याद्वाद कलध्वनी ॥

अहिंसा स्वच्छगात्री भव्यानां तीर्थमूर्ती:
ससार ताप हर्त्री भव्यानां मोक्षदात्री ॥

अमृत नीति–

विनयसमं न नीति स्वाध्याय सम तप:
स्वरुचिसमस्वाद: प्रेमसमान वन्ध:
न क्षमासमं शस्त्रं लोभसमान पापं
धैर्य समानं शक्ति: त्रैलोक्ये नान्य अन्य ॥

स्वाधीन सुखं परमेव सुखं
भोगसमं रोग न अन्य क्वचित् ।
रत्नत्रयधारी समं न श्रीमान्
भारवाही पशुरेव धनवान् ॥

देवसम देवसेन आचार्य की अद्वितीय व्यक्तित्व एवं कृतित्व की

विषय-सूची

-विषय-	पृष्ठ	-विषय-	पृष्ठ
दर्शनसार	१	एकान्त नियतिवादी	४६
जैनाभास	२	प्रत्येक कार्य के लिए ५	
काष्ठासंघ	२	कारणों की आवश्यकता	४६
श्वेताम्बर संघ	२	मिथ्यात्व में बन्ध	५०
द्राविड संघ	३	सासादन गुणस्थान	५४
यापनीय संघ	३	मिश्र गुणस्थान	५४
निपिच्छिक संघ	४	अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान	५५
निमित्त उपादान से कार्य होता है		देश विरत (श्रावक)	५९
नयचक्र	५	अष्टमूलगुण	६२
नय	९	श्रावक के षट् आवश्यक	६३
निश्चय-व्यवहार नय	१२	देवपूजा	६५
आलाप पद्धति	१४	जिनदर्शन महिमा	६६
श्रुतभवन दीपक नयचक्र		जिन चैत्य-चैत्यालय का स्वरूप	६८
(आध्यात्मिक नय) नयपक्षातीत	१५	अकृत्रिम चैत्य	६८
तत्वसार	२४	जिनेंद्रपूजा विधि	७०
पंचमकालमे भावलिंगी मुनियोंका		अभिषेक पूजा का फल	७४
सद्भाव (मुनि निवास)	२५	अरिहंत भक्तिसे तिर्थंकर नाम	
पंचम कालमे मुनियोंकी १ वर्ष का		कर्म बन्ध	७८
तपस्या चतुर्थ कालमे १००० वर्ष		गुरुपास्ति	८०
के समान है	२७	वैयावृत्य न करने में दोष	८१
पंचम कालके अन्तम तक भाव		वैयावृत्य का प्रयोजन व फल	८१
लिंगीमुनि	२८	वैयावृत्यसे तिर्थंकर नामकर्मका	
आराधना सार	३०	बन्ध	८२
ध्यान का पात्र	३१	स्वाध्याय	८३
भावसंग्रह (देवसेन के स्वयं देव		संयम	८४
होने का प्रायोगिक मार्ग)	३७	तप	८५
मिथ्यात्व मे बन्ध	४२	दान	८५
एकान्त कालवादी	४६	दानोंश	८७

–विषय–	पृष्ठ	–विषय–	पृष्ठ
दान अभावसे दोष	९०	व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान	१३५
दान पूजादि कथा पाप बन्धका कारण	९०	पंचम कालमें क्यों नहीं श्रुतकेवली हो सकते हैं?	१३५
पाप-पुण्य	९३	शुभ क्रियाओंसे कर्म निर्जरा	१४२
पुण्य का लक्षण	९६	शुभोपयोगका स्वरूप	१४४
सालम्बन एवं निरालम्बन ध्यान	९६	पुण्यास्रवके कारण	१४५
गृहस्थोंको उत्कृष्ट धर्मध्यान हों होनेका कारण	९७	पुण्य फल	१४६
अप्रमत्त गुणस्थानमें मुनिओंको निरालम्ब ध्यान	९८	पापका स्वरूप	१४६
इक्का गुणस्थान सकल संयमी	१००	पापास्रवका कारण	१४७
मुनिका स्वरूप	१००	पाप बन्ध का कारण	१४७
मुनियोंका कर्तव्य	१०२	सम्यग्दर्शन घातक व्यक्ति	१४८
यम नियमोंका फल	१०३	पाप फल	१५१
शुभोपयोग एवं पुण्यपाप	११०	पाप अत्यन्त हेय है	१५२
शुद्धात्मानुभूति	११६	पुण्य त्याग करने योग्य व्यक्ति कौन है?	१५२
परमध्यान के पर्यायवाची शब्दार्थ	११८	किनके पुण्य हेय है?	१६०
वीतराग निर्विकल्प समाधी	१२५	पाप भी उपादेय है	१६१
पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थोंमें होने योग्य ध्यान	१२९	ध्यानावस्था-अप्रमत्त गुणस्थान	१६५
ध्याताका लक्षण	१३१	अपूर्वकरण गुणस्थान	१६७
आज्ञाविचय धर्मध्यान	१३३	अनिवृत्तिकरण गुणस्थान	१६७
अपायविचय धर्मध्यान	१३३	सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान	१६७
विपाकविचय धर्मध्यान	१३४	उपशान्तमोह गुणस्थान	१६८
संस्थानविचय धर्मध्यान	१३४	क्षीणमोह गुणस्थान	१६८
पृथक्त्ववितर्क वीचार शुक्लध्यान	१३४	जीवनमुक्त गुणस्थान	१६९
एकत्ववितर्क वीचार शुक्लध्यान	१३५	शैलेश	१६९
सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान	१३५	अरहंत का विशेष वर्णन	१६९
		सिद्धावस्था	१७१
		उपसंहार	१७१

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

– तस्य भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स –

देवसम देवसेन आचार्य का अद्वितीय व्यक्तित्व और कृतित्व

परम जिनागम रहस्य ज्ञाता उभय भाषावित् नय चक्र संचारक धुरन्धर, अक्षुण्ण चारित्र पालनेक धीर, मूल संघ कुन्द कुन्द आम्नाय के समर्थ पोषक एवं प्रचारक महा प्राज्ञ देवसेन आचार्य जैन धर्मके एक अलौकिक ज्योतिपुंज थे। उनके वर्तमान उपलब्ध निश्चय व्यवहार समन्वयात्मक अनेक बेजोड ज्वलन्त कृतिसे उनका व्यक्तित्व स्पष्ट रुप से प्रतिभाषित होता है। आचार्य प्रवर समन्वय अनेकान्तवादी होते हुए भी मिथ्या मत का सम्यक् खण्डन करके सत्य धर्म का प्रतिपादन स्पष्ट एवं निर्भय रुप से अपनी समस्त कृति में यत्र तत्र किये हैं। कृतित्वसेही व्यक्तिका व्यक्तित्व पहिचाना जाता है इस न्यायानुसार उनके द्वारा रचित वर्तमान उपलब्ध कुकृतियों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व का हम अवलोकन करेंगे उनकेद्वारा रचितशास्त्र निम्नलिखित है। १) दर्शनसार २) नय चक्र ३) आलाप पद्धती ४) श्रुत भवन दीपक नय चक्र ५) तत्वसार ६) भावसंग्रह ७) आराधनासार, इतने शास्त्र उपलब्ध है। धर्मसंग्रह पुस्तक अप्राप्य है।

१) दर्शनसार

दर्शनसार एक लघुकृति प्राकृत दोहा बद्ध शास्त्र है। इसमें मूल आम्नाय के समर्थक प्रचारक एवं पोषक देवसेन आचार्यने जैनाभासियोंका उत्पत्ति काल एवं उनके शिथिलाचार के बारे में ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक वर्णन किये हैं। भाव संग्रह मे आचार्यश्रीने समस्त मिथ्यामत एवं श्वेताम्बरो का सविस्तृत खण्डन किये हैं। दर्शनसार में आचार्य श्रीने पांच जैनाभासियोंका वर्णन किया है –

गोपुच्छक श्वेतवासा द्रविडोयापनीय ।
निष्पिच्छश्चेति चैसे पञ्च जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ।

१) गोपुच्छक (काष्ठा संघ) २) श्वेताम्बर ३) द्राविड ४) यापनीय ५) निपिच्छिक (माथुर) ऐसे पांच प्रकार जैनाभास कहे गये हैं।

१) गोपुच्छक (काष्ठा संघ) –

प्रासीकुमार सेणो णंदियडे विणय सेणा दिक्खिओ ।
सण्णास भंजणेंण अगहिय पुणदिक्खओ जादो ।।३३।।
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ।।३८।
णंडियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थ विण्णाणी ।
कट्ठो दंसण भट्ठो जादो सल्लेहणा काले ।।३।।

आचार्य विनयसेन के द्वारा दीक्षित आचार्य कुमार सेन जो संन्यास से भ्रष्ट होकर पुनः गुरु से दीक्षा न ली और सल्लेखना के समय दर्शन से भ्रष्ट होकर नन्दितट ग्राम में (वि. सं. ७५३ में) काष्ठासंघी हो गए।

काष्ठासंघ में मूलसंघ के विरुद्ध सिद्धांत –

कुमार सेन ने मयूर पिछी का त्याग कर तथा चमरी गाय की पूंछ के बालों को ग्रहण कर सारे बागड़ प्रांत में उन्मार्ग का प्रचार किया । उसमें स्त्रियों को पूर्ण दीक्षा देना, क्षुल्लकों की वीर्य चर्चा, मुनियोंको कडे बालों की पीछी रखना और रात्रि भोजन त्याग नामक छट्ठे गुणव्रत का विधान किया। उन्होंने आगम, शास्त्र, पुराण प्रायश्चित ग्रंथों को कुछ और ही प्रकार रचकर मूर्ख लोगों में मिथ्यात्व का प्रचार किया । इस संघ मे गोपुच्छ की पीछी रखने के कारण इसे गोपुच्छ संघ कहा जाता है ।

२) श्वेताम्बर संघ –

श्वेतवस्त्रधारी, स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहारी आदि को माननेवाले प्रसिद्ध श्वेताम्बर संघ का वर्णन स्वयं देवसेन आचार्य भाव संग्रह में वर्णन करेंगे इसलिये उसका विशेष कथन नहीं कर रहे हैं ।

३) द्राविड संघ –

सिरि पुज्जपाद सीसो दाविड़ संघस्य कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥ दर्शनसार
अप्पा सुय चणयाणं भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहि।
परिइयं विवरीयं वग्गणं चोज्जं ॥२५॥ दर्शनसार
बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिह् कप्पियं अट्ठं ॥२६॥
कच्छं खेत्तं वसहि वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं स संजदि ॥२७॥
पंचसय छब्बीसे विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिण महुराजो दाविड़ संघो महामोहो ॥२७॥ दर्शनसार

श्री पूज्यपाद या देवनंदि आचार्य के शिष्य दुष्ट ब्रजनंदि दाविड़ संघ को उत्पन्न करनेवाले हुए। ये प्राभृत ग्रंथो के ज्ञाता और महान सत्वधारी थे। मुनिराजों ने उन्हें अप्रासुक या सचित्त चनों को खाने के लिय रोकें। परंतु वे नहीं माने और भ्रष्ट होकर विपरित प्रायश्चित आदि ग्रंथो की रचना की। उनके मतानुसार बीजों में जीव नहीं होते, मुनियोंको खडे होकर भोजन लेने की विधि नहीं है। कोई वस्तु प्रासुक नहीं है। वह सावद्य भी नहीं मानते थे और गृह कल्पित अर्थ को भी नहीं मानते थे। कच्छार क्षेत्र वसतिका और वाणिज्य आदि कराके जीवन निर्वाह करते हुए और शीतल जल में स्नान करते हुए उन्होंने प्रचुर पापोंका संग्रह किये। विक्रम राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा में यह महामोहरूप द्राविड संघ उत्पन्न हुआ।

४) यापनीय संघ –

कल्लाणे वरणयरे सत्तसय पंच उत्तरे जादे।

जावणिय संघ भावो सिरी कलसादो हु सेवडदो ॥२९॥ दर्शनसार यापनीयास्तु वेसरा इवो भयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं, पूजयन्ति, कल्पंच वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं केवलि जिनानां कवलाहारं, पर शासने सग्रन्थानां मोक्षंच कथयन्ति।

कल्याण नगर में विक्रम राजा की मृत्यु के ७०५ वर्ष बीतने के बाद तथा दूसरी प्रति के अनुसार २०५ वर्ष बीतने के बाद श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु द्वारा यापनीय संघ का उद्भव हुआ। यापनीय संघवाले दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों को मानते है, रत्नत्रय को पूजते हैं, कल्पश्रुत को पढ़ते हैं, स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष मानते हैं, केवलियों को कवलाहार मानते हैं। परमत वालों (मिथ्यात्व वादियों को) और परिग्रह धारियो को भी मोक्ष बताते हैं।

५) निपिच्छिक संघ – (माथुर संघ)

तत्तो दुसए तीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
णामेण रामसेणो णिप्पिच्छं वण्णियं तेण ॥४०॥
सम्मत पयडि मिच्छंतं कहियं जं जिणिद बिंबेसु।
अप्प यरणिट्ठिएसु य ममत्त बुद्धीए परिवसणं ॥४१॥
एसो मम होऊ गुरो अवरो णत्थि त्ति चित्त परियरणं।
सग गुरू कुलाहि माणो इयरेसु वि भंग करणंच ॥४१॥

काष्ठा संघ के २०० वर्ष पश्चात विक्रम सं. ९५३ मे मथुरा नगरी में माथुर संघ के प्रधान गुरु रामसेन हुए। जिन्होंने निपिच्छ रहने का उपदेश दिए। उन्होंने अपने और पराये प्रतिष्ठित किए हुए जिनबिम्बों की ममत्व बुद्धि के द्वारा न्यूनाधिक भावों से पूजा वंदना करने एवं यह मेरा गुरु है दूसरा नहीं है इस प्रकार के भाव रखने और अपने गुरु कुल का अभिमान करने और दूसरे गुरुकुलोंका मान भंग करने के लिये सम्यक्त्व प्रकृति रुप मिथ्यात्व का उपदेश दिये।

पिच्छे ण हु सम्मत्तं कर गहिए मीर चमर डंबरए।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्वो ॥१॥
सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य अण्णो य।
समभाव भावियप्पा लहेय मोक्खं ण संदेहो ॥२॥

मोर पंख या चमरी गाय के बालों की पिच्छ हाथ में लेने से सम्यक्त्व नही है। श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई

भी हो, समभाव से भायी गयी आत्मा ही मोक्ष प्राप्त करती है इसमें संदेह नही ।

निमित्त उपादान से कार्य होता है –

इस संघ का मत वस्तुतः एकान्तवाद शिलिन्ध्रीवारी निश्चयाभासीय है, क्योंकि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यान्तर कारण से होता है ।

जैसा कि तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्त भद्रने स्वयंभू स्तोत्रमें कहा है–

बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां, तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानाम ॥६०॥

प्रभाचंद्राचार्य की टीका –

बाह्येत्यादि । बाह्यच इतरश्चाभ्यन्तरः तौ च तौ उपाधीच हेतू उपादान सहकारि कारणे तयोः समग्रता संपूर्णता । इयं प्रतीयमाना खलु कार्येषु घटादिषु । ते तव मते । कथम्भूता सा? द्रव्यगतः स्वभावः जीवादि पदार्थगतमर्थक्रियाकारि स्वरुपं । अन्यथा एतस्मात्तत्समग्रता-तत्स्वभावता प्रकारात् अन्येन तदस्वभावता प्रकारेण । नैव मोक्ष विधिश्च । च शब्दोऽपि शब्दार्थः । न केवलं घटादि विधानं नैवान्येन प्रकारेण घटते किंतु मोक्षविधिरपि । पुंसां मुक्त्यर्थिनां । यत एवं तेन कारणेन अभिवंद्यस्त्वं बुधानां गणधर देवादीनां विपश्चितां । कथम्भूतः? ऋषिः परमर्द्धि सम्पन्नः ॥

बाह्य कारण अर्थात निमित्तकारण एवं आभ्यान्तर कारण अर्थात उपादान कारणों की परिपूर्णता से ही कार्य की उत्पत्ति होना यह द्रव्य का स्व स्वभाव है अर्थात जीवादि पदार्थगत अर्थ क्रियाकारित्व के लिये दोनों कारणों का समन्वय होना अनिवार्य है । जैसे घट रुप कार्य के लिये योग्य मिट्टी उपादान कारण है एवं कुंभार, चक्र, पानी, चीवर आदि बाह्य कारण है । यदि केवल योग्य मिट्टी है परंतु बाह्य योग्य कुंभारादि कारणों का अभाव होने पर मिट्टी घट रुप परिणमन नहीं करती है । उसी प्रकार योग्य कुंभारादि के सद्भाव होने पर भी योग्य

मिट्टी के अभाव में भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि इसी प्रकार नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष आगम विरोध प्राप्त होगा। बाह्यनिमित्त कारण के अभाव से भी मिट्टी स्वयमेव ही घट बनती है ऐसा मानने पर समस्त मिट्टी स्वयमेव घट रुप परिणमन हो जाना चाहिये किंतु इस प्रकार उपलब्ध नही है और अनुपलब्ध को ही उपलब्ध मानना मिथ्यात्व है। उसी प्रकार केवल बाह्य निमित्त से कार्य होता है। तो कुंभारादि बाह्य निमित्त से घट बनता है मानने पर मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती तथा कुंभारादि के हाथ, पैर आदि ही घट रुप परिणमन कर जाना चाहिए किंतु ऐसा भी उपलब्ध नहीं है। केवल लौकिक घटादि कार्य के लिये दोनों कारणों का सद्भाव चाहिये ऐसा नहीं किंतु अलौकिक अभूतपूर्व महान कार्य मोक्ष के लिये भी दोनों कारणों का समन्वय अनिवार्य है।

मोक्ष के लिये रत्नत्रय परिणत स्वात्मा उपादान कारण है एवं बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, कालादि, निर्ग्रन्थ मुनि लिंग आदि निमित्त कारण है। अन्तरंग परिणाम एवं बहिरंग साधनों के माध्यम से मोक्ष रुप कार्य सिद्ध होता है। आध्यात्मिक सम्राट मूल आम्नाय के कर्णधार कुन्दकुन्द आचार्य अष्टपाहुड में बताये हैं –

णवि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जह वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

जिन शासन में वस्त्रधारी तीर्थंकर को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक केवल निर्ग्रन्थता ही मोक्ष मार्ग है अन्य सर्व उन्मार्ग हैं, कुमार्ग हैं। जैसे आचार्य कहे हैं –

कारण द्वयं साध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित् ॥

जो कार्य दो कारण से होता है वह कारण से नहीं हो सकता है। जैसे पुत्र उत्पत्ति रुप कार्य माता पिता रुप दो कारणों से होता है।

इसी प्रकार अन्तरंग चारित्र एवं बाह्य चारित्र रुप कारण से ही मोक्ष प्राप्ति रुप कार्य हो सकता है। अन्यथा नही।

इस ऐतिहासिक ग्रंथ भेदो में मूल कारण शिथिलाचार, मनो कल्पित सिद्धांत, हठग्राहितावादी। यदि अंतरंग में परिग्रह की इच्छा नहीं है तो बाह्य में परिग्रह कदापि नहीं हो सकता। यदि बाह्य में परिग्रह है तो अन्तरंग में मूर्च्छा है ही। इसी प्रकार प्रायः एकान्त निश्चय आध्यात्मवादी करण चरण को छोडकर स्वछन्द होकर संसार वृद्धि करते हैं। इस प्रकार देवसेन आचार्य ने दर्शनसार में दर्शन विषयक कलंक धोकर निर्मल दर्शन प्राप्त करने का वर्णन किये हैं।

२) नयचक्र —

वर्तमान उपलब्ध नय विषयक स्वतंत्र कृति आचार्य देवसेन की है। आचार्य देवसन द्वारा नय चक्र में गाथाएँ प्राकृत भाषा में है। इस नय चक्र में आचार्य श्रीने सम्पूर्ण नयों का आगमानुसार संक्षिप्त वर्णन किया है। आचार्य श्री अपने काल में नय विषयक ज्ञान में अत्यंत दक्ष थे। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नय चक्र के कर्त्ता माइल्ल धवल ने देवसेनाचार्य कृत नय चक्र के अवलम्बन से ही नय चक्र की रचना की।

सिय सद्धसुणय दुण्णय दणुदेह विदारणेक्क वर वीरं।
तं देवसेण देवं णय चक्कयरं गुरुं णमह ॥४२३॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक

दव्व सहाव पयासं दोहय बंधेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहा बंधेण रइयं माइल्ल धवलेण ॥४२४॥ ,, ,,
सुसमीरणेण पोयं पेरयं संतं जहा तिरणट्ठं।
सिरिदेवसेण मुणिणा तह णय चक्क पुणो रइयं ॥४२५॥ ,, ,,

स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नयरूपी दैत्य के शरीर को विहारण करने में एक मात्र वीर नय चक्र के कर्त्ता उन देवसेन नामक

गुरुदेव को नमस्कार हो । इससे सिद्ध होता है कि देवसेनाचार्य नय विषयक मर्मज्ञ महाप्राज्ञ विद्वान थे उन्होंने सुनय चक्र के माध्यम से दुर्नय रुपी मोहान्धकार स्वरुप दैत्य को नाश किये थे अर्थात जैन धर्म का सम्यक् प्रचार प्रसार उन्नयन किये थे ॥४२३॥

द्रव्य स्वभाव प्रकाशक दोहा मे रचा हुआ था उसको माइल्ल धवल ने गाथाबद्ध किया ॥४२४॥

अनुकूल वायु के द्वारा प्रेरित हुआ जहाज तैरने में समर्थ होता है वैसे ही श्री देवसेन मुनि ने नयचक्र पुनः रचा । इससे सिद्ध होता है उस समय की परिस्थिति से प्रेरित होकर आचार्य श्रीने पुनः नयचक्र को रचा । अन्य प्रति में स्थित अन्य गाथा –

दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा तिरं नट्ठं ।
सिरि देवसेन मुणिणा तह णय चक्कं पुणो रइयं ॥

दुःषम काल रुपी आंधी से संसार सागर से पार उतारने वाला जहाज के समान जो नय चक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने पुनः रचा । इससे सिद्ध होता है कि नयचक्र विषयक उस समय शास्त्र था परंतु दुःकाल के कारण वह शास्त्र नष्ट होने से धर्म वात्सल्य से प्रेरित होकर जिन शासन की रक्षा प्रसार प्रचार के लिये एवं मिथ्या नयों का निरसन करने के लिये आचार्य श्रीने संसार से पार उतारने के लिये जहाज के समान, एक नवीन नय चक्र रचा ।

जैन धर्म एक पंथ व वाद नहीं है जैन धर्म वस्तु स्वभाव सहज सरल स्वभाव प्राकृतिक धर्म है । वस्तु सत्त स्वरुप होने से त्रिकाल अबाधित एवं शाश्वत है । वस्तु अनादि अनंत है एवं जैन धर्म वस्तु स्वभाव धर्म है उसी कारण जैन धर्म शाश्वतिक अनादि अनंत प्राकृतिक सहज सरल धर्म है । प्रत्येक वस्तु अनंत गुण पर्याय होने से प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है इसलिये जैन धर्म भी अनेकान्तात्मक है । अनंत गुण पर्यायात्मक वस्तु को जानने के लिये अनंत ज्ञान भी चाहिये ।

जो अनंत ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ हैं वे ही वस्तु को पूर्ण यथार्थ रूप से जान सकते हैं अन्य कोई असर्वज्ञ नहीं जान सकते हैं। सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होनेसे वस्तु जैसी है उसी प्रकार हैं। परंतु दिव्यध्वनि में युगपत सम्पूर्ण गुण पर्यायों का वर्णन नहीं हो सकता इसलिये दिव्यध्वनि भी नयात्मक हैं। जैसे कि स्याद्वादसूरि सिद्धसेन दिवाकरने सन्मति सूत्र में कहा है–

तित्थयर वयण संगह विसेस पत्थार मूल वागरणी ।
दव्वट्ठियो य पज्जवणयो य सेसा वियप्पा सिं ॥३॥

तीर्थंकर के वचन सामान्य विशेषात्मक हैं। सामान्य रुप से मूल व्याख्यान करनेवाला वचन द्रव्यार्थिक नय है। विशेष रुप का प्रतिपादन करनेवाला मूल व्याख्यान पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दो नयों के भेद है इसलिये द्रव्यार्थिक अर्थात् निश्चय नय भी सत्य है उसी प्रकार व्यवहार में पर्यायार्थिक नय भी सत्य है।

नय :–

जं णाणीण वियप्पं सुयत्रेयं वत्थुंयंस संगहणं ।
तं इह णयं पउत्तं णाणि पुण तेहि णाणेहिं ॥२॥ नय चक्र
जह्या ण णएण विणा होइ णरस्स सियवाय पडिवत्ती ।
तह्या सो बोहव्वो एअंतं हंतुकामेण ॥३॥ नयचक्र

नय :– ज्ञानी का जो विकल्प हैं उसे नय कहते हैं अथवा श्रुत ज्ञान के भेद को नय कहते हैं अथवा वस्तु के एक अंश ग्राही को ज्ञानियों ने नय कहा है। इसलिये नय न पूर्ण ज्ञान है न अज्ञान है परंतु ज्ञानांश है। नय में द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और नय अन्यथा वस्तु का प्रतिपादन करता है केवल वस्तु अंशग्राही होता है ॥२॥

नय के बिना स्याद्वाद की सिद्धी नही होती है इसलिये स्याद्वाद सिद्धि के लिये एवं एकान्त खण्डन के लिये नय विषयक ज्ञान अनिवार्य है क्योंकि "णयमूलो अणेयंतो" अनेकांत का मूल नय है ॥३॥

वस्तु अनेकांत स्वरुप है। अनेकांत को जाननेपर ही वस्तू के स्वरुप को जान सकते हैं। जब वस्तू के स्वरुप को जानेंगे तभी सम्यगृष्टि हो सकते हैं। जब सम्यगृष्टि होंगे तभी मोक्षमार्गी होंगे।

जं णयदिट्ठि विहीणा तेसि ण हु वत्थुरुव उवलद्धि।
वत्थु सहाव विहूणा सम्माइट्ठी कहं हुंति ॥१०॥ नय चक्र।

नय दृष्टि से विहीन व्यक्ति वस्तु स्वरुप को प्राप्त नहीं कर सकता है वस्तु स्वभाव रहित जीव सम्यगृष्टी नहीं हो सकता है॥१०॥

एअंतो एअणओ होइ अणेयंतमस्स सम्मूहो।
तं खलु णाणवियप्पं सम्मं मिच्छं च णायव्वं ॥९॥ नयचक्र

एक नय एकांत स्वरुप है सम्पूर्ण नयों का सम्यक् समन्वय अनेकांत है। नय और अनेकांत दोनों ज्ञान के विकल्प हैं। तो भी एकांत नय मिथ्या है और अनेकांत सम्यक् है। वह भले द्रव्यार्थिक या निश्चय नय हो अथवा पर्यायार्थिक या व्यवहार नय हो ये दोनों निरपेक्ष होने से दोनों मिथ्या एवं अवस्तु स्वरुप हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहे हैं –

दव्वट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु अवत्थु णियमेण पज्जव णयस्स।
तह पज्जव वत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठिय णयस्स ॥१०॥

द्रव्यार्थिक नय का सामान्य कथन पर्यायार्थिक नय के लिये नियम से अवास्तविक है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय का विषय द्रव्यार्थिक नय के लिये अवास्तविक है। क्योंकि विवक्ष भेद से दोनों नयों के विषय भिन्न भिन्न हैं। दोनों ही नय एक ही वस्तु के विभिन्न स्वरुप को ग्रहण करते हैं।

कथञ्चित्– दोनों नय परस्पर एक दूसरे के विषय को ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि दोनों नय सापेक्ष हैं। द्रव्यार्थिक नय सामान्य है और पर्यायार्थिक नय विशेष है। अतएव एक दूसरे के विषय को अवस्तु

मानने के कारण ये दोनों नय भिन्न भिन्न हैं। उदाहरण स्वरुप समयसार मे कुन्द कुन्द देव कहते है–

ववहारेणु वदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

From the vyavahara point of view, conduct, belief and knowledge are attributed (as different characteristics) of the knower, the self. But from the real point of view there is no (differentiation of) knowledge, conduct and belief, in pure self.

व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानी का चारित्र, दर्शन, ज्ञान है किंतु निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञानी का ज्ञान दर्शन चारित्र नहीं है केवल एक ज्ञायक शुद्ध स्वभाव है ॥७॥

इस गाथा में दोनों नयों का विरुद्ध विषय प्रतिपादन है जैसे कि ज्ञानी का चारित्र आदि है किंतु निश्चय नय की अपेक्षा ज्ञानी का चारित्र आदि नही है तो निश्चय नय की अपेक्षा चारित्र आदि नष्ट हो गए क्या? यदि चारित्र आदि नष्ट हो जायेंग तो आत्म द्रव्य ही नष्ट हो जागेगा, परंतु ऐसा है नही। सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा चारित्र आदि भेद है, तथा शुद्ध नय की अपेक्षा अभेद से एक ज्ञायक स्वभाव में अन्तर्भूत किया गया है। व्यवहार अपेक्षा तीन भेद होकर परस्पर अलग अलग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहते है क्या? नही परंतु गुण-गुणी भेद से भेद है। इस प्रकार दोनों नयों का परस्पर विरोध और समन्वय हुआ। दुसरा उदा, –

" सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया " शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से प्रत्येक जीव शुद्ध, बुद्ध, नित्य निरंजन, अनंत दर्शन ज्ञान स्वरुप है। परंतु पर्यायार्थिक नय को अपेक्षा अभव्य लब्ध्य पर्याप्तक जीव अनंत मोही, अज्ञानी. दुःखी है। द्रव्य दृष्टिसे वह भी सिद्ध के समान होते हुए भी पर्याय रुप से वह कभी सिद्ध हो सकता है? कदापि नहीं। इससे सिद्ध होता है निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय भी मिथ्या है परंतु शक्ति

रुप से उस अभव्य में जों गुण हैं वे सर्वथा कभी लोप हो सकते है? कभी नहीं। यदि लोप होगा तो जीव ही अजीव बन जायेगा ऐसा कभी संभव नहीं है। इसलिये वस्तु का स्वरुप प्रतिपादन करने के लिये एवं धर्म प्रचार-प्रसार के लिये, आत्म उद्धार के लिये दोनों नयों की परम आवश्यकता है। यथा -

निश्चय - व्यवहार नय

जइ जिणमयं पवज्जइ ता वा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

यदि जिनधर्म का प्रचार-प्रसार प्रवर्तन करना है एवं आत्म उद्धार करना है तो केवल एकांत व्यवहार का पक्षपाती मत बनो इसी प्रकार केवल एकांत निश्चय का भी पक्षपाती मत बनो। यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तब संसार से उत्तीर्ण होने रुप जो व्यवहार तीर्थ है उसका लोप हो जायेगा और जिसके कारण आत्मोपलब्धि रुप निश्चय धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि निश्चय को नहीं मानेगें तो व्यवहार धर्म के माध्यम से जिस परम तत्व को प्राप्त करना है उस परम तत्व का लोप हो जायेगा फिर उस व्यवहार धर्म के द्वारा किस तत्व को प्राप्त करेंगे।

समयसार के गुप्त रहस्य को उद्घाटित करनेवाले, कुंदकुंद साहित्य रुपी सागर में अवगाहन करनेवाले समयसार के आद्य टीकाकार आध्यात्मिक संत अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थ सार में कहते हैं:-

निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरुपः स्याद्, द्वितीयस्तस्य साधनम्॥

मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। (१) निश्चय मोक्षमार्ग (२) व्यवहार मोक्षमार्ग। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रुप है जिसे प्राप्त करना है जो कार्य स्वरुप है। द्वितीय व्यवहार मोक्ष मार्ग साधन स्वरुप है

जिसके द्वारा साध्य रुप निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है समर्थ कारण से कार्य होता है अर्थात् साधन से साध्य सिद्धि होती है इस न्यायानुसार व्यवहार मोक्ष मार्ग के द्वारा निश्चय मोक्ष मार्ग की उपलब्धि होती है। व्यवहार मोक्ष मार्ग बिना निश्चय मोक्ष मार्ग त्रिकाल में अनुपलब्ध ही रहेगा।

पंडित शिरोमणि चतुर अनुयोग पारंगत निश्चय–व्यवहारज्ञ आर्ष परम्परा संरक्षक संस्कृत के महान धर्मामृतादि अनेक मौलिक कृति के रचयिता आचार्यकल्प आशाधरजीने अनगार धर्मामृतमें लिखे हैं :–

व्यवहार पराचीनः निश्चयं यः चिकीर्षति।
बीजादि बिना मूढः सः शस्यानि सिसृक्षति ॥

व्यवहार से जो विमुख होकर जो निश्चय को चाहते हैं वे मूढ हैं जैसे कि एक मूढ बीज के बिना वृक्ष को चाहता है अर्थात जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसलिये अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थ सिद्धि मे कहते है –

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलम विकलं शिष्यः ॥२॥

पुरुषार्थ सिद्धि

जो व्यवहार और निश्चय में ज्ञानी होकर अर्थात दोनों नयों कों अच्छी तरह समझकर कोई भी नयों का पक्षपाती नहीं होकर मध्यस्थ होते हैं अर्थात यथायोग्य दोनों को मानते हैं वही योग्य शिष्य हैं वही उपदेश प्राप्त करने के लिये योग्य हैं। अन्य हठग्राही, पक्षपाती जन उपदेश के पात्र नहीं है ॥च॥

देवसेन आचार्य नयचक्र को समाप्त करते हुए लिखते है –

जह इच्छह उत्तरिदुं अज्झाण महोवहिं सुलीलाए।
तो णादुं कुणह मइं णय चक्के दुणय तिमिर मत्तण्डे ॥२६॥

नयचक्र

यदि अज्ञान रुपी महासमुद्र को लीला से तरने की इच्छा है तो नयचक्र को जानने के लिये मति को नयचक्र में प्रवेश कराओ। दुर्नय रुपी अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यक् नय सूर्य के समान है॥२६॥

इसी प्रकार देवसेनाचार्यने गुरु परंपरा से प्राप्त सम्पूर्ण नयों उपनयो का वर्णन इस लघुकृति नयचक्र में समावेश किये हैं। सुप्रसिद्ध नीति–गागर में सागर यहाँ लागू नही होती किंतु बिंदु में सिंधु है यह नीति इसनय चक्र में लागू होती है। जिस अनेकांतवाद को बडें बडे दिग्गज आचार्य विनम्र नतमस्तक होते हैं उस भगवंत अनेकांत को को स्वलेखनीसे जीवंत प्रकट करनेवाले पूज्यपाद देवसेन आचार्य को मेरा विनम्र अनंत नमस्कार हो।

३) आलाप पद्धति —

देवसेन आचार्य की तीसरी कृति संस्कृत सूत्र बद्ध नय विषयक शास्त्र आलाप पद्धति है। बहुश: देवसेन आचार्य ने नयचक्र लिखने के पश्चात् आलाप पद्धति की रचना की उसकी निम्नसूत्र से पुष्टि होती है –

आलाप पद्धतिर्वचन रचनाऽनुक्रमेण नय चक्रस्योपरि उच्यते॥१॥

आलाप पद्धति अर्थात् वचन की पद्धति नय चक्र के आधार पर मैं (देवसेन आचार्य) कहता हूँ। इसको पुन: स्वतंत्र लिखने का कारण मंद बुद्धि जनों के सुखबोधन के लिये है। आचार्य श्रीने आलाप पद्धति की समाप्ति में कहा है –

इति सुखबोधार्थमालाप पद्धति: श्रीमद्देवसेन विरचिता परि समाप्ता॥

इसमें गुण, पर्याय, स्वभाव, नयों, उपनयोंका अनूठा वर्णन है। इसमें भी आध्यात्मिक नयों, आगम नयों का वर्णन है। जैसे –

णिच्छय ववहार णया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छय साहण हेऊ दव्वय यज्जत्थिया मुणह॥४॥ आलाप पद्धति

सामान्य रुप से समस्त नयों के दो भेद हैं १) निश्चय नय २)

व्यवहार नय । उनमें से निश्चयनय की सिद्धि के लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनो नय कारण है ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से नय दो प्रकार है। १) निश्चय २) व्यवहार
तत्र निश्चयनयोऽभेद विषयो, व्यवहारो भेद विषय ॥२१६॥

१) निश्चय नय – अभेद विषयो ज्ञेयः यस्य सः निश्चय नयः।
२) व्यवहार नय – भेदेन ज्ञातुं योग्यः सो व्यवहार नयः ।

निश्चय नय का विषय अभेद है । व्यवहार नय का विषय विशेष भेद स्वरुप है । जैसे :– गुण–गुणी पर्याय–पर्यायी, धर्म–धर्मी भेद नहीं करके अभेद रुप से जो नय ग्रहण करता है उसको निश्चय नय कहते हैं । जैसे:–आत्मा गुणी, ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि गुण हैं उन ज्ञान–दर्शनादि को अभेद करके केवल आत्मा ग्रहण करना निश्चय नय है ।

आत्मा में ज्ञान, दर्शनादि हैं इसी प्रकार भेद करके अथवा आत्मा ज्ञानवान, दर्शनवान ग्रहण करना व्यवहार नय का विषय है । सामान्य से आत्मा एक होते हुए भी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि से अनेक है । इसलिये दोनों नय स्वक्षेत्र में यथार्थ हैं ।

आध्यात्मिक नय

(४) श्रुतभवन दीपक नय चक्र :–

नयचक्र धुरन्धर आचार्य देवसेनने पूर्वोक्त दोनों नय विषयक शास्त्रों में मुख्यतः आगम भाषा में तथा गौण रुप से आध्यात्मिक भाषा में नयों का वर्णन किये हैं । आगमज्ञ होने के पश्चात् आध्यात्मिक साम्राज्य में प्रवेश करने के लिये आचार्य श्रीने " श्रुत भवन दीपक नय चक्र " का प्रतिपादन किया किया है । यह नय चक्र संस्कृत गद्य पद्यात्मक शैली में है देवसेनाचार्यने शास्त्र प्रारंभ में इष्ट देव वर्धमान स्वामी को नमस्कार पूर्वक श्रुत भवन दीपक नय चक्र को प्रतिपादन करने के लिये प्रतिज्ञा की है । आचार्य श्रीने मंगलाचरणमें ही प्रतिज्ञा

की। " गाथार्थस्याविरोधेन नयचक्रं मयोच्यते " अर्थात् मैं गाथा के अर्थ से अविरुद्ध नय चक्र को कहता हूँ। एक छंद में कहते हैं :-

जिनपतिमत भूमा रत्नशैलादपापा, दिह हि समयसाराद्बुद्ध बुद्धया गृहीत्वा।

प्रहतघन विमोहं सुप्रमाणादिरत्नं श्रुतभवनसुदीपं विद्धि तद्वयापनीयम् ॥२॥

जिनेन्द्र भगवान के मतरुपी भूमि में समयसार रुपी निर्दोष पवित्र रत्नपर्वत को बुद्धि के द्वारा अच्छी तरह समझकर, गाढ़ मोह को नष्ट करनेवाले तथा सम्यक् प्रमाणादि रत्नोंवाले "श्रुत भवन दीपक नय चक्र" को प्रकाशमान करने के उद्देश्य से लिखता हूँ ॥२॥

इसके पश्चात् समयसार की ११, १२, १४३ वीं गाथाओं का उल्लेख किया है-

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्ध णओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥
समयसार

प्रथम व्याख्यान की अपेक्षा :-

व्यवहार नय अभूतार्थ है किंतु शुद्ध निश्चय भूतार्थ है। भूतार्थ का अवलम्बन लेकर जीव सम्यग्दृष्टि होता है ॥११॥

द्वितीय व्याख्यान की अपेक्षा :-

द्वितीय व्याख्यानेन पुनः व्यवहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः। न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्ध निश्चय नयोपि दु शब्दादयं शुद्धनिश्चय नयो पीति व्याख्यानेन भूता. भूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा शुद्ध निश्चयाशुद्ध निश्चय भेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नय चतुष्टयं।

(श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य वृत्ति)

व्यवहार नय अभूतार्थ भी है और भूतार्थ भी है ऐसे दो प्रकार का कहा गया है अब केवल व्यवहार नय ही दो प्रकार का नहीं है किंतु (सुद्धणओ) निश्चय नय भी शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय के भद से दो प्रकार है ऐसा गाथा में आये हुए ' दु ' शब्द से प्रगट होता है ॥ ११ ॥

अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थं नयाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टि-र्भवति । अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चय नयो निर्विकल्प समाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति । किंतु निर्विकल्प समाधिरहितानां पुनः षोडषवर्णिका सुवर्णलाभाभावे अधस्तन वर्णिका सुवर्णलाभवत्केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्व विषय कषाय दुर्ध्यान वंचनार्थं व्यवहार नयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति –

(श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्य वृत्ति)

यहाँ इस पूर्वोक्त गाथा मे कहा गया है कि भूतार्थ नय को आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किंतु इस गाथा मे स्पष्टीकरण करते है कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहनेवाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरुप निश्चय नय ही प्रयोजनवान हो ऐसा नहीं है परंतु उन्ही निर्विकल्प समाधिरतों को किन्हीं किन्ही को कभी सविकल्प अवस्था मे मिथ्यात्व विषय कषाय रूप दुर्ध्यान को दूर करनें के लिये व्यवहार नय भी प्रयोजनवान होता है जैसे किसी को सोलहवानी के सुवर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह चौदहवानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है । ऐसा कहते है –

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहिं ।
ववहार देसिदो पुण जे दु अपरमें ट्ठिादाभावे ॥ १२ ॥ समयसार

सुद्धो शुद्धनयः निश्चय नयः कथंभूतः सुद्धादेसो शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । णादव्वो ज्ञातव्यः भावयित्वः कैः परम-भाव दरसीहिं शुद्धात्मभाव दर्शिभिः । कस्मादिति चेत् यतः षोडषवर्णिका कार्त्त स्वरलाभ वद भेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि काले सप्रयोजने भवति निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । ववहार देसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन

पर्यायेण दर्शितः कथित इति व्यवहार देशितो व्यवहार नयः पुण पुनः अधस्तनवर्णिक सुवर्ण लाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केषां जे थे पुरुषाः तु पुनः अपरमें अशुद्धे असंमत सम्यग्दृष्टचा पेक्षया श्रावकापेक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोग प्रमत्ताप्रमत्त संयतापेक्षया च भेद रत्नत्रय लक्षणे वा ठिदा स्थिताः कस्मिन् स्थिताः ? भावे जीव पदार्थे तेषामिति भावार्थः ।

(श्री जयसेनचार्यकृत तात्पर्य वृत्तिः)

' सुद्धोसुद्धादेसो ' शुद्ध निश्चय नय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है (णादव्वो परम भाव दरसीहि) वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह सोलह वानी स्वर्ण के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि काल में प्रयोजनवान् होता है। (ववहारदेसिदो किंतु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहार नय है वह (पुण) पन्द्रह, चौदह वानी के स्वर्णलाभ के समान उन लोगों के लिये प्रयोजनवान् है। (जे तु) जो लोग (अपरमे ठिदा भावे) अशुद्ध रूप शुभोपयोग मे, जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षण वाला है ऐसा शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित है।

अथ नय पक्षातिक्रांतस्य शुद्ध जीवस्य किं स्वरूपमिति पृष्टे सति पुनर्विशेषेण कथयति ।

दोण्हपि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णय पक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्ख परिहीणो ॥१४३॥

समयसार

योसौ नय पक्षपात रहितः स्वसंवेदन ज्ञानी तस्यात्रिप्रायेण बद्धाबद्ध मूढामूढादि नय विकल्प रहित चिदानंदैक स्वभावं । दोण्ह वि णयाण भणियं जाणइ यथा भगवान् केवली निश्चय व्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणित मर्थं द्रव्य पर्याय रूपं जानति । णवरि तु पडिबद्धो तथापि नवरि केवलं

सहज परमानंदैक स्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन् णय पक्ख परिहीणो सतत समुल्लसन् केवलज्ञानरुपतया श्रुत ज्ञानावरणीय क्षयोपशम जनित विकल्प जाल रूपान्नयद्वय पक्षपाताद् दूरीभूतत्वात् ण दु णय पक्खं गिण्हदि किंचि वि न तु नय पक्षं विकल्पं किमप्यात्म रूप तया गृण्हाति तथायं गणधर देवादि छद्मस्थ जनोपि नयद्वयोक्तं वस्तु स्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानंदैक स्वभावस्य समयस्य प्रविद्धत आधीनः सन् श्रुत ज्ञानावरणीय क्षयोपशम जनित विकल्प जालरूपान्नय द्वय पक्षपातात् शुद्ध निश्चयेन दूरीभूत त्वान्नय पक्षपात रूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्प समाधिकाले शुद्धात्म स्वरुपतया न गृण्हाति । अयं शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिक नयेन नय विकल्प स्वरूप समस्त पक्षपातातिक्रांत एव समयसारे ज्ञायेत स्थितिः ।

(श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य वृत्तिः)

'दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ' जो कोई नयों के पक्षपात से दूर स्वसवेदन ज्ञानी है वह बद्ध अबद्ध मूढ अमूढ आदि नय के विकल्पों से रहित चिदानंदमयी एक स्वभाव को उसी प्रकार जानता है जैसा भगवान केवली, निश्चय नय तथा व्यवहार नय के विषय द्रव्य पर्याय रूप अर्थ को जानते है । 'णवरि तु समय पडिबद्धो' किंतु सहज परमानंद स्वभाव जो शुद्धात्मा उसके आधीन होते हुए केवली भगवान् (णय पक्ख परिहीणो) निरन्तर केवल ज्ञान के रुप में वर्तमान होने से श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले विकल्प जाल रूप जो निश्चय नय और व्यवहार नय उन दोनो नयों के पक्षपात से रहित होनें के कारण (ण दु नय पक्खं गिण्हदि किंचिवी) किसी भी नय के पक्षरूप विकल्प को कभी स्विकार नहीं करते अर्थात् उन्हे छूते नहीं है । वैसे ही गणधर देव आदि छद्मस्थ महर्षि लोग भी दोनों नयों के द्वारा बताये हुए वस्तु के स्वरूप को जानते अवश्य है फिर भी चिदानंदैक स्वभाव रूप शुद्धात्मा के आधीन होते हुए अर्थात् शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करने में लीन होते हुए श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न विकल्पों का जाल रूप जो दोनों नयों का पक्षपात उस से शुद्ध निश्चय के द्वारा दूर होकर नयों के पक्षपात रूप विकल्प को निर्विकल्प समाधिकाल मे अपने आत्म रूप से ग्रहण नही करते है ।

इस से सिद्ध होता है कि निश्चय नय का अवलम्बन ध्यानावस्था में स्थित अप्रमत्तादि गुणस्थान वर्ती महामुनि के लिये है जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं होती है तब तक उस अवस्था को प्राप्त करनें के लिये व्यवहार नय आवश्यक है। व्यवहार रत्नत्रयका प्रतिपादक व्यवहार नय है एवं निश्चय रत्नत्रय का प्रतिपादक निश्चय नय है। व्यवहारोऽ सत्कल्पना निवृत्यर्थं सद्रत्नत्रय सिध्यर्थंच । सद्रत्नत्रयेण तु परमार्थ सिद्धिः ।

(श्रुतभवन दीपक नयचक्र)

व्यवहार से असद्कल्पना की निवृत्ति होती है एवं सद्रत्नत्रय की सिद्धि होती है।

स्वभाव सिद्धस्य परमार्थस्य कथं तेन सिद्धिरिति वक्तव्यं । सद् रत्नत्रयात्सर्वथा भेदे निश्चय भावः । सर्वथात्वादभेद व्यवहारो मा भूदिति कथंचिद्भेदेन तेन सिद्ध इति वचनं ।

(श्रुतभवन दीपक नयचक्र)

शंका :– स्वभावसिद्ध परमार्थ की सिद्धि व्यवहार से कैसे हो सकती है ?

समाधान :– व्यवहार का सद्रत्नत्रय से सर्वथा भेद मानने पर निश्चय का भी अभाव हो जायेगा, तथा सर्वथा भेद को माननें पर अभेद का व्यवहार भी नहीं हो सकेगा, अतः कथञ्चित् भेद मानने पर ही उसकी सिद्धि होती है – ऐसा आचार्यों का वचन है।

एवमात्मा यावद् व्यवहार निश्चयाभ्यां तत्त्वनुभवति तावत्परोक्षानुभूति । प्रत्यक्षानुभूतिर्नय पक्षातीता ।

(श्रुतभवन दीपक नयचक्र)

जब तक अह आत्मा **व्यवहार और निश्चय इन नयों के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तब तक परोक्षानुभूति रहती है, प्रत्यक्षानुभूति नय पक्षातीत है।**

तर्हीवं द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ न ।
ह्यवं व्यवहार पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात् ।
(श्रुतभवनदीपक नयचक्र)

शंका:- यदि ऐसा है तो दोनों ही नय सामान्यरुप से ही पूज्यत्व को प्राप्त होंगे ।

समाधान:- नही, व्यवहार नय तो पूज्यतर है, लेकिन निश्चय नय पूज्यतम है । नयपक्षातीत:-

यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्या व्यवहारो निवर्त्तते तथा निश्चयेन व्यवहार विकल्पोति निवर्त्तते । यथा निश्चयनयेन व्यवहारो विकल्पोपि निवर्त्तते तथा स्वपर्यवसित भावेनेकत्व विकल्पोपि निवर्त्तते । एवं हि जीवस्य यो सौ स्वपर्यवसित स्वभाव स एव नय पक्षातीत: ।
(श्रु. मं. दी. नय.)

जिस प्रकार सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार का निराकरण होता है, उसी प्रकार निश्चय के द्वारा व्यवहार का विकल्प भी निवृत्त होता है तथा जिस प्रकार निश्चय नय द्वारा व्यवहार का विकल्प निवृत्त होता है उसी प्रकार स्वपर्यवसित स्वभाव (परम निरपेक्ष स्वाश्रित स्वभाव) के अवलम्बन से एकत्व का विकल्प भी छूट जाता है । इस प्रकार जीव का जो स्वपर्यवसित स्वभाव है वह नय पक्षातीत है ।

शुभाशुभ संवर हेतु क्रममाह :-

जह व णिरुद्धं असुहं सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण ।
तम्हा एण कमेण य जोई झाएउ णियआदं ।। ३४७ ।।
द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र ।।

जैसे शुभ के द्वारा अशुभ का विरोध होता है शुद्धोपयोग के द्वारा शुभ कर्मों का भी विरोध होता है । इसलिये योगी को पहले अशुभ का त्याग कर शुभोपयोगी होना चाहिये शुभोपयोग बढते बढते आत्म विशुद्धि बढती है और शुद्धोपयोग मे स्थिर हो जाता है तब शुभ कर्मों का भी संवर हो जाता है ।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परमात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥ ८६ ॥

समाधि शतक

अव्रती सराग चारित्र रूप मुनि धर्म को स्वीकार करके भेद ज्ञान सम्पन्न होकर आत्मा मे लीन होता है उस समय स्वयमेव ही समस्त सकल्प विकल्प व्रत, अव्रत निश्चय व्यवहार से परे होकर निर्विकल्प रुप परमात्म स्वरुप बन जाता है। यह परमात्म पद प्राप्त करने का त्रिकाल अबाधित परम सत्य सिद्धांत है। अभी तक जो अनंत सिद्ध हुए, सिद्ध हो रहे है, आगे होंगे, वे सभी इसी मार्ग के द्वारा ही हुए है अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥

उदा. :– आमरस का आस्वादन करना लक्ष्य है तो उसके लिये पहले बीज चाहिये। बीज से वृक्ष, योगावस्था, प्राप्त होनेपर वृक्ष मे फूल आते है फूल मे कैरी, कैरी से अपक्व आम, उससे रस पश्चात् आस्वादन होगा। जिस समय रस का आस्वादन होता है उस समय न वृक्ष, न फूल न कच्चा आम, न गुठली आदि रहती है केवल वहां रस ही रस है। रसावस्था में अन्न अन्य प्रारंभिक अवस्थाएं नही रहने पर भी बिना प्रारंभिक अवस्था के बिना रस की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदि विचार करे कि हमें तो रस चाहिये। बीज, वृक्ष, फूलादि नहीं चाहियें। बीज के बिना वृक्ष कैसे होगा, वृक्ष के अभाव में फूल कैसे होगा, फूल के बिना फल कैसे होगा ? यदि हम सोंचे कि फूल में तो आम रस नहीं है इसलिये फूल को तोडकर फेक दे तो फल की प्राप्ति हो सकती है क्या ?फल के अभाव मे रस की प्राप्ति कैसे होगी ?परंतु बीज अकुर होकर वृक्ष रुप परिणित हो जाता है तो स्वयमेव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार फूल से फल बन जाता है तब स्वयमेव फूल योग्य समय में गिर जाता है फूल को तोडना नहीं पडता है। यदि योग्य सगय के पूर्व ही फूल को तोड देंगे तो फल की प्राप्ति नही हो सकती है। इसी प्रकार निर्विकल्प आत्मानुभव रुप रस प्राप्त करने के लिये आत्म रुप भूमि मे सम्यक्त्व रुप बीज रोपण करना होगा। इसके लिये मिथ्यात्त्व हिंसा, झूठ, चोरी, अन्याय, अत्याचार, दुराचार, कुशील, अतिकांक्षा,

शोषण, कालाबाजारी, संग्रहवृत्ती, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन,मद्यपान, मांसभक्षण, रात्रिभोजन, अभक्ष भोजन, ईर्ष्या-द्वेष, मात्सर्य, आदि अशुभ भावों का त्याग करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, समता शांती, क्षांति, ऋजुता, मृदुता, विश्वमैत्री, उदारता, वात्सल्य, गुणानुराग धर्मानुराग, अनुकम्पा आदि शुभ भावों को धारण करना चाहिये। इनमे सतत तत्पर होकर जब आत्मा मे विशेष निर्मलता आती है, तब वह महा संयमी आत्मानंद रुप रस को निर्विकल्प होकर आस्वादन करता है। उस समय व्रत अव्रतों का विकल्प स्वयमेव छूट जाता है, जिस प्रकार रस अवस्थामे पूर्व की अवस्थाएं नहीं रहती है।

शंका:– आम रस के लिये बीज, वृक्षादि की क्या आवश्यकता है बाजार से पका आम खरीदकर लाकर उससे रस निकालकर अथवा रस खरीदकर लाकर रस का आस्वादन कर सकते है।

समाधान:– हे भाई धर्म कभी भी रुपये के माध्यमसे नहीं खरीदा जा सकता है। धर्म को तो आद्योपान्त स्वयमेव ही आचरण करके प्राप्त कर सकते है। आध्यात्मिक सम्राट अमृतचन्द्र सूरी अमृतकलश में कहते है:–

य एव मुक्त्वा नय पक्षपात, स्वरुप गुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्प जालच्युत शांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥२४॥
(अमृत कलश)

जो समस्त प्रकार नय पक्षपात से रहित होकर समस्त संकल्प–विकल्प जालों से रहित होकर शांत चित्त में स्वरुप में ही सतत निवास करते है वे साक्षात् आत्मानंद रूप अमृत का पान करते है। जो समयसार रुप शुद्ध आत्म द्रव्य है वह समस्त नय पक्ष से अतीत है।

देवसेनाचार्य इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रधान्य नय चक्र को समाप्त करते हुए लिखते है:–

निश्चयव्यवहारयोरविनाभावित्व निर्णीति कथनो नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः। भट्टारक श्री देवसेन आचार्य
(कर्म रुप शत्रु को नाश करने वाले विशेष ज्ञानी मुनि)

विरचित व्योम पंडित को प्रतिबोध करने वाले श्रुतभवन दीपक नय चक्र में निश्चय व्यवहार का अविनाभाव का कथन करनेवाला तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ।

" निश्चयव्यवहारयोविनाभावित्व " यह वाक्यांश अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है । समस्त आगम और आध्यात्मिक रहस्य को उद्घाटित करने वाली एक गुरु चाबी है अर्थात् निश्चय व्यवहार परस्पर विरोधी नहीं है दोनो परस्पर सापेक्ष, उपकारक, सहायक है । दोनों सापेक्ष होने पर ही सम्यक् है और निरपेक्ष होने पर दोनों मिथ्या हो जाते है ।

५) तत्त्वसार:-

आचार्य प्रवर की अन्य एक ध्यान प्रधान कृति तत्वसार है इस शास्त्र में गाथाएं प्राकृत में है । इसमें ७४ गाथाएँ है । इसमें स्वतत्त्व, परतत्त्व, सविकल्प तत्त्व, अविकल्प तत्त्व, अपरमतत्त्व परमतत्त्वों का आध्यात्मिक भाषा में वर्णन है । आचार्य श्री ने हुण्डावसर्पिणी पंचम-कालस्थ में वक्र जड़ स्वभावी भ्रष्ट मिथ्यादृष्टियों का जो एक ध्यान संबंधी शका है उसका स्पष्टीकरण किये है यथा:-

पंचम काल मे भाव लिंगी मुनियों का सदभाव :-

संकाकंरवा गहिया विसय वसत्था सुमग्गयब्भठ्ठा ।
एवं भणंति केई णहु कालो होइ झाणस्स ।। १४ ।। तत्त्वसार

सदेह शील विषय सुख के प्रेमी भोगों में आसक्त एवं विषय भोगों में अपना हित मानने वाले जिनेन्द्र प्रणीत रत्नत्रय रुपी सुमार्ग से भ्रष्ट कितने ही इस प्रकार कहते है कि वर्तमान पचम काल ध्यान योग्य काल नहीं है, इस काल में मोक्ष नहीं है, ध्यान भी नहीं होता है, यदि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है तो मुनि होकर क्या करना है । पूर्वोक्त समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य कहते है :-

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊन जंति सुरलोचं ।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ।।१५।। (तत्वसार)

आज भी इस पंचम काल में रत्नत्रयधारी मुनि आत्मा का ध्यान कर स्वर्ग लोक को जा सकते है वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव कुल में जन्म लेकर मुनि होकर निर्वाण की प्राप्ति कर सकते है ।

मुनि निवास :-

कले: काले वने वासो वर्जनीयो मुनीश्वरैः ।
स्थीयतेच जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥ (इन्द्रनंदि नीतिसार)

कलि काल में मुनिश्वरों को वनवास छोडने योग्य है, विशेषतः जिन मंदिर, ग्रामादिक में रहना चाहिये ॥

कुन्दकुन्दाचर्य मोक्ष पाहुड में कहते है :-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
त अप्पसहाव ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

अज्ज वि तिरयण सुद्धा अप्पा झाए विलहइ इंदत्तं ।
लोयंतिय देवत्त तत्थ चुआ णिव्वुदि जंति ॥७७॥ (समयसार)

भरत क्षेत्र में दुःषम काल में मुनियों को धर्म ध्यान होता है वे धर्मध्यान के माध्यम से आत्मा में स्थित रहते है जो इस प्रकार नहीं मानता है वह भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है ॥७६॥

अभी भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र से शुद्ध मुनि आत्म ध्यान कर इन्द्रत्व एवं लौकान्तिक देव होता है वहाँ से च्युत होकर उत्तम मानव पर्याय को प्राप्त कर मुनि होकर परम निर्वाण को प्राप्त करते है ।

शंका :- वर्तमान काल में मुनियों को शुक्ल ध्यान नहीं होता है तो क्या चारित्र भी नहीं हो सकता है ? "वीतराग चारित्राभावे कथं गौणत्व मित्या शंक्याह :-"

समाधान :- माइल्ल धवल "द्रव्य स्वभाव प्रकाशक" में इसका निर्णय करते है ।

मज्झिम जहाणुक्कस्सा सराय इव वीयराय सामग्गी ।
तम्हा सुद्धचरित्तं पंचमकाले वि देसदो अत्थि ॥३४४॥
"द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र"

जिस प्रकार सरागदशा के भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होते है । अतः एक देश वीतराग चारित्र पंचम काल में भी होता है ॥३४४॥

श्री नागसेन मुनि भी कहते है :–

अत्रेदानीं निषे धंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा: ।
धर्मध्यानं पुन: प्राहु: श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनां ॥८३॥

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वच: ।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं ॥८४॥

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्यश्रुत सागरपारगा: ।
तत्किमल्पश्रुतैर्नं ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥८५॥

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥८६॥

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं ।
धारणासौष्ट वाद्धचानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणिस्युर्महान्त्यपि ।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्त्तिनां ॥८८॥

श्री जिनेन्द्र भगवान ने इस पंचम काल मे यहाँ पर भरत क्षेत्रमें शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है । उपशम-क्षपक श्रेणी से नीचे रहने वालों को धर्मध्यान होना बताया है । वज्रकायधारी उत्तम संहननवालों को जो ध्यान आगम मे कहा है वह श्रेणी की अपेक्षा से कहा है । अधस्तन ध्यान के लिये निषेध नही है। यद्यपि वर्तमान में श्रुतकेवलीसमान ध्यानी मुनी नहीं हो सकते है, तो भी क्या अल्पश्रुत के ज्ञाताओं को अपने शक्ती के अनुसार ध्यान नहीं करना चाहिये ? अर्थात अवश्य करना चाहिये । तत्त्वार्थ सूत्र से " शक्तीतस्त्यागतपसी " शक्ती के अनुसार त्याग और शक्ती के अनुसार तपस्या करना चाहिये । यद्यपि वर्तमान काल मे यथाख्यात चारित्र के आचरण करनेवाले नहीं हो सकते है, तो क्या तपस्वियोंको यथाशक्ती सामायिक-छेदोस्थापनादि सराग चारित्र नहीं पालन करना चाहिय अर्थात अवश्य ही पालन करना चाहिये । जो साधक भले प्रकार गुरु के उपदेश से भले प्रकार आध्यात्मिक अभ्यास निरंतर करते रहेगा, तो उसकी धारणा उत्तम हो जायगी तो वह अनेक चमत्कार को भी देख सकेगा । जैसे बडे बडे

शास्त्र भी अभ्यास के बल से समझने में आते है उसी प्रकार अभ्यास करनेवालों का भी ध्यान स्थिर हो जाता है। इसलिये पंचम काल में भी यथाशक्ति प्रमाद रहित होकर काम भोग, पंचेन्द्रिय के विषयों से, स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादि स विरक्त होकर, ख्यातिपूजा लाभादि से रहित होकर धर्मध्यान पूर्वक आत्मध्यान करना चाहिये। इससे पाप कर्मों का सवर, निर्जरा होगी ।। निरिच्छक सातिशय पुण्य बंध होगा, जिससे परम्परा स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति होगी। जैसे करोडपति, अरबपति स्वमूल-धन के अनुसार व्यापार करते है, उसी प्रकार साधारण व्यक्ती स्वशक्ति अनुसार व्यापार करता है। अधिक धन नहीं रहने पर निरुद्यम होकर बैठा नहीं रहता है, यदि बैठा रहेगा तो पेट पोषण भी नहीं हो पायेगा, श्रीमंत होने की बात तो दूर रही। इसी प्रकार पंचम काल में स्वशक्ति अनुसार श्रावक दान पूजा शील व्रत, उपवासादि जघन्य शुत्र देश चारित्र पालन नहीं करेंगे तो पाप संचय के कारण नरक निगोद ही मिलेगा, संसार वृद्धि होगी, मोक्ष तो अत्यन्त दूर की बात है, सुस्वर्ग की भी प्राप्ति नहीं होगी।

पंचम काल में मुनियों की एक वर्ष की तपस्या चतुर्थ काल में १००० वर्ष के समान :-

इस अत्यंत विपरीत हुण्डावसर्पिणी रुप इस पंचम काल में अत्यंत दुर्द्धर महाव्रतादि धारण कर अत्यन्त भौतिक भोग विलास वातावरण में विचरण करना लोहा के चना चबाने के समान है। यह कोई बच्चों का खेल नहीं है, अथवा बहुरुपीयों का खेल नहीं है, वाग्विलास नहीं है। वातानुकूल (एयरकण्डिशन) कमरे में बैठकर वातानुकूल (स्वयं के अनुकूल वात), अध्यात्मिक शुष्क बौद्धिक चर्चा नहीं है। जो धीर, वीर है, वही पंचग काल में जिनेन्द्र भगवान का निर्ग्रंथ लिंग को धारण कर सकता है।

सहणणं अइणीचं कालो सो दुस्समो मणो चवलो ।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वय भर धरण उच्छहिया ॥१३०॥
(भाव संग्रह)

वरिस सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणह तेण काएण ।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण संहणणे ॥१३१॥
(भाव संग्रह)

इस पंचम काल में सहनन अत्यन्त हीन है, काल अत्यन्त दुःषम है। मन अत्यन्त चंचल है, तथापि जो धीर वीर पुरुष महाव्रत रुपी महाभार को धारण करने के लिये उत्साहित है वह महान प्रशंसनीय वंदनीय, पूज्यनीय है ॥ १३० ॥

चतुर्थ काल में जिस उत्तम संहनन युक्त शरीर माध्यम से तपश्चरण द्वारा जो कर्म एक हजार वर्ष में नष्ट होता था, उतना ही कर्म वर्तमान दुःषम काल में हीन संहनन युक्त हीन शरीर से एक वर्ष की तपश्चरण द्वारा नष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है, चतुर्थकाल अपेक्षा पंचम काल में मुनिव्रत धारण, पालन,तपश्चरणादि १००० गुणा दुष्कर है। निर्ग्रंथ रुप की दुर्धरता के लिये भगवान जिनसेन स्वामी आदि पुराण में बताये है :-

अशक्य धारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् ।
जनं निस्संगता मुख्यं रुपं धीरैः निषेव्यते ॥

जिसमे यथाजात रुप अन्तरंग-बहिरंग संग रहितता मुख्य है ऐसा निर्ग्रंथ लिंग उसी प्रकार दुर्धर, दुरासाध्य अत्यन्त कठीण रुप को कातर कायर, मन एव इन्द्रियों के दास, भोगों के कीडों के द्वारा धारण करना अत्यन्त अशक्य है । जो धीर, वीर, गंभीर, दमी, यमी होते है उनके द्वारा ही निर्ग्रंथ लिंग धारण किया जा सकता है। जैसे-चक्रवर्ती के चक्र को कायर पुरुष प्रयोग नहीं कर सकता है, केवल वीर पुरुष, पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकता है। उसी प्रकार इस निर्ग्रंथ रुप को धीर, वीर एवं पुण्यात्मा पुरुष धारण कर सकते है ।

अन्तर विषय वासना वरतैं बाहर लीक लाज भय भारी ।
यातैं परम दिगम्बर मुद्राधर नहीं सकै दीन संसारी ॥
ऐसी दुर्द्धर नगन परिषह जीतै साधु शील व्रतधारी ।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी ॥७॥

(२२ परिषद)

पचमकाल के अंतिम समय तक भाव लिंगी मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका रहेंगे, यह त्रिलोकसार में सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचंद आचार्य कहते है :-

अथ चरम कल्की स्वरुपं गाथा पञ्चकेनाह :-

इदि पडि सहस्स वस्से वीसे कक्कीणदिक्कमे चरिमो ।
जल मथणो भविस्सदि कक्की सम्मग्ग मंथणओ ॥८५७॥

इह इंदराय सिस्सो वीरंगद साहु चरिम सव्वसिरी ।
अज्जा अग्गिल सावय वरसाविय पंगुसेणावि ॥८५८॥

पंचम चरिमे पक्खड मासतिवासो वसेसए तेण ।
मुणिपढम पिंड गहणे सण्णसणं करिय दिवस तियं ॥८५९॥

सोहम्मे जायंते कत्तिय अमवास सादि पुव्वण्हे ।
इगि जलहि ठिदो मुणिणो सेसतिए सांहियं पल्लं ॥८६०॥

तव्वा सरस्स आदी मज्झंते धम्मराय अग्गीणं ।
णासो तत्तो मणुसा णग्गा मच्छादि आहारा ॥८६१॥

इस प्रकार एक एक हजार वर्ष बाद एक एक कल्की होगा, तथा २० कल्कियों के अतिक्रम अर्थात् पूर्ण होने के पश्चात् सन्मार्ग का मंथन करने वाला जलमंथन नाम का अंतिम कल्की होगा। उसी काल में इन्द्रराज नामक आचार्य के शिष्य वीराङ्गद नामक अंतिम साधु, सर्वश्री नाम की आर्यिका, अग्गिल नामक उत्कृष्ट श्रावक, पंगुसेना नाम की श्राविका होगी। पञ्चमकाल के अंत में तीन वर्ष, ८ माह और १ पक्ष अवशिष्ट रहने पर उस कल्की द्वारा पूर्वोक्त प्रकार मुनिराज के हस्तपुट का प्रथम ग्रास शुल्क स्वरुप ग्रहण किया जायेगा। तब वे चारों तीन दिन के सन्यास पूर्वक कार्तिक वदी अमावस्या को स्वाति नक्षत्र, एवं पूर्वाण्ह काल में मरण को प्राप्त हो सौधर्म स्वर्ग में मुनि तो एक सागर आयु के धारी, शेष तीनों साधिक एक पल्य की आयु के धारी उत्पन्न होंगे। उसी दिन आदि मध्य और अंत में क्रम से धर्म, राजा एवं अग्नि का नाश हो जायगा इसलिये उसके बाद मनुष्य मत्स्यादि का भक्षण करनेवाले और नग्न होंगे ॥८५७-८६१॥

पंचमकाल २१ हजार वर्ष प्रमाण है। वर्तमान केवल २५१३ वर्ष (१९८७ में) प्रमाण व्यतीत हो रहा है। यह तो केवल पंचम

काल की शैश्व अवस्था है। अर्थात् प्राथमिक अवस्था है। अभी प्राय: १८४८४ वर्ष प्रमाण और भाव लिङ्गी मुनि रहेंगे। उपरोक्त सिद्धांत से ज्ञात होता है कि पहले धर्म का जीवन्त स्वरुप मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका का पूर्वाण्ह में अंत होगा, उनके अंत में धर्मका भी अंत होगा क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना", मध्यान्ह में राजा का लोप, एवं सन्ध्याकाल में अग्नि का लोप होगा। इससे सिद्ध होता है भरत क्षेत्र मे जब तक अग्नि है तब तक भाव लिङ्गी मुनि भी है। जो पंचम काल में भाव लिङ्गी मुनियों का अस्तित्व नहीं मानता, वह जिनवाणी को नहीं मानता, जिनवाणी के न मानने के कारण मिथ्यादृष्टी है। भाव लिङ्गी मुनियों के सद्भाव के लिये स्वयं अग्नि ही साक्षीभूत है।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धर्मादिक के नाश का कारण :–

पोग्गल अइरुक्खादो जलणे धम्मे णिरासएण हदे ।
असुर वइणा णरिंदे सयलो लोओ हवे अंधो ॥८६२॥

पुद्गल द्रव्य में अत्यन्त कक्षता आ जाने से अग्नि का नाश, समीचीन धर्म के आश्रयभूत मुनिराज का अभाव हो जाने से धर्म का नाश तथा असुरेन्द्र द्वारा राजा का नाश हो जाने से सम्पूर्ण लोक अंधा हो जायेगा अर्थात् मार्गदर्शक कोई नहीं रहेगा।

आचार्य श्री ने अंत में आशिर्वादात्मक अपना नाम देकर इस शास्त्र की समाप्ति की है :–

सोऊण तच्चसारं रहयं मुणिणाह देवसेणेण ।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावए सासयं सोक्खं ॥७४॥ (तत्वसार)

मुनिराज देवसेन रचित तत्वसार को सुनकर जो सम्यग्दृष्टी भावना करेगा वह शाश्वतिक सुख को प्राप्त करेगा।

(६) आराधनासार :–

आचार्य श्री के द्वारा प्रतिपादित आराधनासार में प्राकृत गाथाएँ ११५ है। इसमें निश्चय एवं व्यवहार दोनों आराधनाओं का संक्षिप्त एवं मौलिक वर्णन है। निश्चय आराधना साध्य और व्यवहार

आराधना साधन है । जब तक व्यवहार आराधना नहीं करेंगे तब तक निश्चय आराधना नहीं हो सकती है ।

– निश्चय व्यवहार आराधना –

ननु निश्चयाराधनायां सत्यां किमनया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदन्तं प्रत्याह

पज्जय णयेण भणिया चउव्विहाराहण हु जा सुत्ते ।
सा पुणु कारण भूदा णिच्छयजयदो चउवकस्स ॥१२॥

(आराधनासार)

जो निश्चय से आत्मा से अभिन्न रुप दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, आराधना है उसके कारणभूत व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र तपाराधना है। कारण बिना कार्य कभी भी संभव नहीं है । इस न्याय के अनुसार जब तक साधक व्यवहाराधना रुप परिणमन नहीं करता है तब तक निश्चयाराधना को प्राप्त नहीं कर सकता है ।

कश्चिद्भव्यः प्राथमिकावस्थायां निश्चयाराधनायां स्थितिमलभमान स्तावद् व्यवहाराधनामाराधयति पश्चान्मनसो दाढर्यं प्राप्य क्रमेण निश्चयाराधनामाराधतीत्यभिप्रायः ॥ (आराधना सार)

अनादि कुसंस्कार के कारण इन्द्रिय और मन की बहिर्मुखता के कारण पुनः पुनः पूर्व में आत्मतत्व की भावना से रहित होने के कारण जब एक प्राथमिक आत्म तत्व की आराधना करता है तब वह व्यवहाराधना को पुनः पुनः आराधना करते हुए जब चंचल मन दृढ हो जाता है बाह्य विषय वासनाओं से विरत होता है, आत्म भावना स्थिर होती है तब क्रमशः निश्चयराधना की आराधना करता है ।

ध्यान का पात्र :–

देवसेन आचार्य ने शून्य ध्यान का विशेष वर्णन किया है । शून्य ध्यान अर्थात निर्विकल्प शुक्ल ध्यान है ।

जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाण जुत्तस्स ।
ताम ण सुण्णं झाणं चिंता वा भावणा अहवा ॥ ८३ ॥

(आराधनासार)

ध्यान युक्त मुनि को जब तक कोई प्रकार विकल्प उत्पन्न होते रहते है तब तक शून्य अर्थात संकल्पातीत ध्यान अर्थात निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता है। किंतु चिंता, भावना, अनुप्रेक्षा, मनन चिंतन होता है, तब तक निर्विकल्प ध्यान नहीं होता है, चिंता भावनादि ध्यान के लिये साधन है। इस प्रकार ध्यान सबको प्राप्त नहीं होता है। उसके लिये विशेष साधक चाहिये ॥ यथा–

चइऊण सव्वसंगं लिंगं धरिऊण जिण वरिंदाणं।
अप्पाणं झाऊणं भविया सिज्झंति णियमेण ॥ ११२ ॥

(आराधनासार)

समस्त अंतरंग बहिरंग ग्रंथों को त्याग करके यथाजात रुप जिनेंद्र लिंग को धारण कर जो आत्मा का ध्यान करेंगे वे भव्य सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके नियम से सिद्ध परमेष्ठी पद को प्राप्त करेंगे। इस प्रकार सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्र आचार्य ने भी कहा है।

तव सुदवदवं चेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ ॥ ५७ ॥

(द्रव्य संग्रह)

ध्यान रुपी धुरा को धारण करने के लिये वही धीर पुरुष समर्थ हो सकता है जो अन्तरंग बहिरंग तपश्चरण को धारण किया है, जिनवाणी का अवगाहन किया है, महाव्रतों का पालन किया है। जो तप, एवं व्रतों की आराधना नहीं करता है, वह भीरु पुरुष ध्यान रुपी धुरा को धारण करनें में समर्थ नहीं हो सकता है। यदि ध्यानामृत के पान करने की इच्छा रखता है तो वह व्रत, श्रुत, एवं तप मे रत रहे, निरतिचार पूर्वक सेवन करें। ध्यान के लिये योग्य पात्रता चाहिये, विना पात्रता के ध्यान की सिद्धी नहीं हो सकती है। आचार्यों नें कहा है:–

ध्यान का पात्र अपात्र:–

वैराग्य तत्वविज्ञान नैर्ग्रंथ वसचित्तता।
परिषह जयश्चेति पंच ते ध्यान हेत्वा ॥

ध्यान के लिये पांच कारण है :– १) वैराग्य २) तत्वविज्ञान

३) निर्ग्रंथता ४) मनवशता ५) परिषह जय। जहाँ पर उपरोक्त ५ कारण है वहाँ पर ध्यान हो सकता है। जो परिग्रहधारी, तत्व विज्ञान से रहित, काम भोग विषय वासना में रत, शरीर पोषण करनेवाले है इनको त्रिकाल में भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। ज्ञानार्णव में कहा है :-

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ६ ॥

(ज्ञानार्णव चतुर्थ सर्ग)

(१) जो मोक्ष का इच्छुक है, (२) जो संसार से विरक्त है, (३) मोह क्षोभ रहित शांतचित्त है, (४) मन वश में है, (५) अंगोपांग दृढ होने के कारण ध्यायासन में स्थिर हो, (६) इन्द्रियों को जीतकर उनके विषयों से विरक्त हो, (७) संवर सहित हो, (८) उपसर्ग परिषह सहन करने में धीर हो वही ध्यान के लिये योग्य पात्र है। उपरोक्त गुण अथवा विशेषण केवल निर्ग्रंथ मुनि में ही पाये जा सकते है। किंतु जो उपरोक्त विशेषण से रहित, भुभुक्षु, बकध्यानी, संसार-शरीर-भोग-धनसंपत्ति, स्त्रीकुटुम्ब में आसक्त है, चंचल मन वाले है, पंचेन्द्रिय के दास है, व्रत-नियम-त्याग-तपश्चरण करने में नपुंसक के सदृश कायर है, वे कभी भी ध्यान के लिये योग्य पात्र नहीं हो सकते है।

मिथ्यादृष्टि की बात तो दूर रही किंतु सम्यग्दृष्टि और श्रावक भी जब तक गृह-धंधा में लीन रहता है तब तक उसको भी ध्यान की सिद्धि नहीं सकती है।

---

(१) नवदेवता स्तवन (संस्कृत)

लेखक - पू. कनकनन्दि महाराज

१) **धर्मचक्रधरः जिनं ज्ञाणार्णवः चतुष्टचम् ।**
चत्वार वदनं ध्यायेत् सर्व मोहोपो शान्तये ॥

२) **ज्ञानाम्बर धरः सिद्धं वर्णातितं गुणाष्टचम् ।**
प्रणष्ट कर्माय स्मरेत् सर्वकर्म प्रणास्त्राये ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोह वन्हिना ।
प्रमाद मदमुत्सृज्य निःक्रान्ता योगिनः परम ॥८॥ (ज्ञानार्णव)

महामोहरुपी अग्नि से जलते हुए इस जगत में से केवल मुनिगण ही प्रमाद को छोडकर निकलते है, अन्य कोई नहीं ।

न प्रमादजयं कर्तुं धी धनैरपि पार्यते ।
महाव्यसन संकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥९॥ (ज्ञानार्णव)

अनेक कष्टों से भरे हुए अतिनिन्दित गृहवास में बडे २ बुद्धिमान् भी प्रमाद से पराजित करने में समर्थ नहीं है । इस कारण गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती ।

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।
अतश्चित्त प्रशान्त्यर्थं सद्भिस्तत्यक्ता गृहे स्थिति ॥१०॥ (ज्ञानार्णव)

गृहस्थ गण घर में रहते हुए अपने चपल मन को वश करने में असमर्थ होते है, अतएव चित्त की शांती के अर्थ सत्पुरुषों ने घर में रहना छोड दिया और वे एकांत स्थान में रहकर ध्यानस्थ होने को उद्यमी हुए ।

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्त्त चेतसां नृणां दुराशाग्रह पीडितात्मनाम् ।
नितम्बिनी लोचन चौर संकटे गृहाश्रमे स्वात्महिते न सिद्धयति॥११॥
(ज्ञाना.)

सैकडों प्रकार के कलहों से दुःखित चित्त और धनादिक की दुराशारुपी पिशाची से पीडित मनुष्यों के प्रतिक्षण स्त्रियों के नेत्ररुपी चोरों का है उपद्रव जिसमे ऐसे इस गृहस्थाश्रम में अपने आत्म हित की सिद्धी नहीं होती ॥

निरन्तरार्त्ता नलदाह दुर्गमे कुवासनाध्वान्त विलुप्त लोचने ।
अनेक चिंता ज्वर जर्जितात्मनां नृणां गृहेनात्महितं प्रसिद्धयति ॥१२॥

निरन्तर पीडा रूप आर्त्तध्यान की अग्नि के दाह से दुर्गम, वसने के अयोग्य तथा काम क्रोधादि की कुवासना रूपी अंधकार से विलुप्त हो गई नेत्रों की दृष्टी जिसमे ऐसे घरों में अनेक चिन्तारूपी ज्वर से

विकार रूप मनुष्यों के अपने आत्मा का हित कदापि सिद्ध नहीं होता ऐसे गृहस्थावास मे उत्तम ध्यान कैसे हो ?

विपन्महापङ्क निमग्न बुद्धयः प्ररुढरागज्वरयन्त्रपीडिताः ।
परिग्रहव्यालविषाग्नि मूर्च्छिता विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी॥१३॥
(ज्ञानार्णव)

गृहस्थ अवस्था की आपदा रुपी महान कीचड मे जिनकी बुद्धि फंसी हुई है, तथा जो प्रचुरता से बढे हुए राग रुपी ज्वर के यंत्र से पीडित है, और जो परिग्रह रुपी सर्प के विष की ज्वाला से मूर्च्छित हुए है, वे गृहस्थ गण विवेकरुपी वीथी मे (गली मे) चलते हुए स्खलित हो जाते है अर्थात च्युत हो जाते है। अथवा समीचीन मार्ग से (मोक्ष मार्ग) भ्रष्ट हो जाते है।

हिताहित विमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद्गृही ।
अनेकारम्भजैः पापैं कोशकारः कृमियथा ॥१४॥ (ज्ञानार्णव)

जैसे रेशम का क्रिडा अपने ही मुख से तारों को निकालकर अपने को ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहित में विचार शून्य होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकार के आरंभों से पापोपार्जन करके अपनें को शीघ्र ही पाप जाल मे फँसा लेते है।

जेतुं जन्म शतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
बिना संयम शस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥१५॥ (ज्ञानार्णव)

रागादि शत्रुओं की सेना संयमरुपी शस्त्र के बिना बडे बडे सत्पुरुषों से (राजाओं से) सैकडों जन्म लेकर भी जब जीती नहीं जा सकती है, तो अन्य की कथा ही क्या है।

---

३) **अष्टाचारं धरः सूरीं गुण निधिः संघाधिपम् ।**
गम्भीररुपाम ध्यायेत् शुद्ध चारित्र प्राप्तये ॥

४) **आगमरधः पाठकं ज्ञान निधिः गुणाधारः ।**
प्रशान्त रुपाय ध्यायेत् विनयाचारप्राप्तये ॥

प्रचण्ड पवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।
तत्राङ्गनाविधः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥१६॥ (ज्ञानार्णव)

स्त्रियां प्रचंड पवन के समान है। प्रचंड पवन बडे बडे भूभृतों (पर्वतों) को उडा देता है और स्त्रियाँ बडे बडे भूभृतोंको राजाओं को चला देती है। ऐसी स्त्रियों से जो स्वभाव से ही चंचल है ऐसा मन क्या चलायमान नहीं होगा ?

भावार्थ:– स्त्रियों के ससर्ग में ध्यान की योग्यता कहां ? ॥

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देश कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥ (ज्ञानार्णव)

आकाश के पुष्प और गधें के सींग नहीं होते है। कदाचित किसी देश वा काल मे ध्यान की सिद्धि होनी हो तो किसी देश वा काल मे संभव नहीं है ॥१७॥

जो विषय वासना मे लीन होकर गृहस्थ में रहकर स्वयं को उत्कृष्ट ध्यानी मानता है वह आत्मवंचन है। वह बक ध्यानी के समान विषयों का ही ध्यान करता है न कि आत्मध्यान। यदि अंतरंग में विषयों के प्रति अनुराग नहीं है तो बाह्य में सेवन भी नहीं सकता है।

रागद्वेष निवृत्ते हिंसादि निवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥
(रत्नकरण्ड श्रावका.)

अन्तरंग रागद्वेष की निवृत्ती से बाह्य हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील, परिग्रहादि बाह्य पापों से निश्चित रुप से निवृत्ती हो जाती है। जब तक अतरंग में रागादि भाव रहेंगे तब तक बहिरंग में उसके कार्यरुप धन सम्पत्ती के ऊपर लालसा, काम भोग, सेवन आदि रहेगा। अन्तरंग बहिरंग परिग्रह रहने के कारण श्रावक उत्कृष्ट ध्यान का पात्र नहीं हो सकता।

देवसेन आचार्य महाप्राज्ञ होने पर भी अत्यन्त निगर्वी थे। 'गुणी विद्वान न करोति गर्वम्' इस न्याय के अनुसार आराधना सार को

समाप्त करते हुए लघुता प्रगट किये है :-

अवणिय तच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण ।
सो हंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयण विरुद्धम् ॥११५॥

(आराधना सार)

तत्व को नहीं जाननेवाला मैं देवसेन आचार्य जो कुछ कहा है उसमें यदि निश्चय से आगम के विरुद्ध कुछ भी हो तो द्रव्य भाव श्रुत के धारी श्रुत केवली महामुनि सशोधन करें। ये भावश्रुतविरहिताः केवलं द्रव्यश्रुतावलंबिनस्तेषां पुनरिहाराधनासार शोधने नाधिकारः। ये पर-ब्रह्माराधनातत्परास्त एवात्राधिकारिण इत्यर्थः ॥

जो भावश्रुत से रहित होते हुए जो द्रव्यश्रुत का आश्रय लेते है वे इस आराधनासार ग्रथ के सशोधन करने के अधिकारी नहीं है। किंतु जो परम ब्रह्म की आराधना में तत्पर है वे ही इस आराधना सार के संशोधन करने के अधिकारी है। इससे सिद्ध होता है कि भावश्रुत ज्ञान से रहित द्रव्यश्रुत ज्ञानी का कोई महत्व नहीं है क्योंकि स्वमत या स्वाभिप्राय के विरोध मे कुछ जिनागम मे परिवर्तन करके स्वभावानुसार प्रतिपादन करेगा उससे जिनागम का हनन एवं सत्य का नाश होगा।

भावसग्रह :- देवसेन के स्वयं देव होने का प्रायोगिक मार्ग (भाव संग्रह) देवसेन आचार्य की बृहत्तमकृति यह भाव सग्रह है। इसमे प्राकृत गाथा बद्ध ७०१ गाथाएँ है। इसमे कुशल, निर्भीक आचार्यश्री ने मिथ्या मान्यताओं व परम्पराओं का सशक्त मुक्त कंठ से विरोध किया है। आचार्यश्री ने किसी प्रकार कलुषित मनोभाव से अथवा पक्षपात से अथवा सम्प्रदाय व्यामोह से अथवा दूसरों को अपमानित करने के लिये कुठार घात नहीं किये किंतु वस्तु स्वरुप का प्रतिपादन करने के लिये अथवा सम्यक् मार्ग से भ्रष्ट हुए प्राणियों के ऊपर दया भाव कथन

---

५) **मौनव्रतधरः मुनि रत्ननिधिः निर्विकारम् ।**
निर्वाणरुपाय ध्यायेत् आत्मप्राप्ति संसिद्धये ॥

६) **दिव्यध्वनि धारिणी देवी शुभ्रवर्णा ज्ञानरुपम् ।**
सर्वतो वदनी ध्यायेत् अज्ञान ध्वान्त नाशये ॥

किये है। जो भव्य सम्यग्दृष्टि है उनके लिये इनकी वाणी अमृततुल्य है जिसका पान कर वह अमृत पद अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है। परंतु जो अभव्य है वह इस अमृत को प्राप्त नहीं कर सकता है –

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

(आत्मानुशासन.)

शास्त्ररुपी अग्नि में भव्य (सम्यग्दृष्टि) रुपी मणि विशुद्धी को प्राप्त कर निर्वाण सुख को प्राप्त करता है परंतु जो अभव्य रुप अंगार है वह शास्त्र रूपी अग्नि मे गिरकर पहले थोडा प्रकाशवान होता है पश्चात मलीन हो जाता है अथवा भस्म हो जाता हे। यहां पर शास्त्र को आचार्य गुणधर स्वामी ने अग्नि की उपमा दी है क्योंकि अग्नि पक्षपात रहित होकर योग्य ईंधन को जलाती है एवं प्रकाश देती है उसी प्रकार शास्त्र रूप अग्नि निरपेक्ष से ज्ञान रूपी प्रकाश देती है जैसे पुण्य रागादि रत्न अग्नि के माध्यम से किट्टकालिमा से रहित निर्मल हो जाता हे उसी प्रकार भव्य रूपी रत्न शास्त्र रूपी अग्नि के माध्यम से कर्म कलंक से रहित होकर निर्मल चित्चमत्कार ज्योति रूप मे परिणमन करता है। जिस प्रकार लकडी अग्नि के माध्यम से पहले प्रकाशमान होती है बाद मे मलीन रूप कोयला रूप परिणित होती है या भस्मरूप परिणित करती है उसी प्रकार अभव्य मिथ्यादृष्टी शास्त्र अग्नि से के माध्यम से पहले प्रकाशवान होता है अर्थात क्षयोपशम के माध्यम से शास्त्रज्ञ हो जाता है परंतु मिथ्यात्व के कारण मिथ्याज्ञानी होकर आगम का विरोध करते है। अनंतानुबंधी क्रोधादि कषायों के कारण अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचारों का प्रचार प्रसार करके ज्ञान शून्य होकर पाप संचय कर संसार मे परिभ्रमण करते है।

विकासयंति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः ।
खेरिवार विन्दस्य कठोराश्च गुरुवक्तयः ॥१४२॥

(आत्मानुशासन)

जिस प्रकार सूर्य की कठोर भी किरणे कोमलसी कली को प्रफुल्लित करती है उसी प्रकार कठोर भी गुरू के वचन भव्य जीव के मन रूप कमल को प्रफुल्लित करते है अर्थात भव्य जीव कठोर भी गुरू के वचन सुनकर अपने दोष को दूर कर अभ्युदय एवं निःश्रेयस सुख को प्राप्त करते है। नीति प्रसिद्ध है:-" हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः " संसार मे हितकर मनोहारी वचन दुर्लभ है जैसे रोग को दूर करने के लिये वैद्य कडवी औषध देता है, उसी प्रकार भव्य जीवों के भवरूप रोग दूर करनें के लिये भवरोग वैद्य गुरूदेव भी कठोर वचन रूप कडवी औषध देते है उसका पान करके भव्य भव रोग से दूर होकर परम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।

यह शास्त्र का नाम अन्वयर्थक संज्ञा वाला है क्योंकि इस शास्त्र मे समस्त संसारी एवं मुक्त जीवों का भाव संग्रहित है अर्थात् वर्णित है। "उपयोग लक्षणं जीवः" इस सूत्रानुसार समस्त जीव राशि उपयोगमय है। परंतु कर्म सापेक्षता एवं कर्म निरपेक्षतानुसार अनेकानेक भेद प्रभेद हो जाते है। सामान्यापेक्षा उपयोग एक, विशेषापेक्षा-शुद्ध-अशुद्ध की अपेक्षा दो, शुद्ध, शुभ, अशुभरुप से तीन, गुणस्थानापेक्षा १४ इसी प्रकार संख्यात-असख्यादि भेद प्रभेद है। मध्यम प्रतिपत के अनुसार उपयोग तीन प्रकार है जिसमे समस्त भाव गर्भित है। यथा-

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥ ९ ॥

(प्रवचन सार) (जयसेनाचार्य कृत टीका)

यथा स्फटिक मणि विशेषो निर्मलोऽपि जपा पुष्पादि रक्त कृष्ण श्वेतोपाधिवेशन रक्त-कृष्ण श्वेत वर्णो भवति, तथाऽयं जीवः स्वभावेन

---

७) **अहिंसा धर्मरुपाय अनेकांतप्रकाशने।**
रत्नत्रयगुणांगाय नमो दुःखविनाशाय ॥

८) **प्रशान्तरुपरुपाय कृतकृत्यः स्वरुपाय।**
परमात्मनिर्देशाय नमो चैत्यजिनालये ॥

शुद्धबुद्धैक स्वरुपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासम्भवं सराग सम्यक्त्व पूर्वक दान-पूजादि शुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तर गुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति। मिथ्यात्वविरति-प्रमाद-कषाय योग पञ्च प्रत्ययरुपाशुभोपयोग नाशुभो विज्ञेयः। निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति। किं च जीवस्या संख्येयलोक मात्र परिणामाः सिद्धान्ते मध्यम प्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादि चतुर्दश गुणस्थान रूपेण कथितः। अथ प्राभृत शास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभ शुद्धोपयोग रुपेण कथितानि। कथमिति चेत-मिथ्यात्व-सासादन-मिश्र गुणस्थान त्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, **तदनन्तरमसंयत सम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयत गुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमतादि क्षीणकषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः**, तदनन्तरं सयोग्य योगीजन गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग फलमिति भावार्थः ॥

गाथार्थ:- जब उपयोगात्मक जीव शुभ भाव से परिणमन करता है तब वह स्वयं ही शुभ होता है। जब अशुभ से परिणमन करता है, तब वह स्वयं ही अशुभ होता है, और जब शुद्ध भाव से परिणमन करता है तब वह स्वयं शुद्ध होता है क्योंकि जीव परिणमन शील एक चैतन्य द्रव्य है।

टीकार्थ:- जैसे स्फटिकमणि निर्मल होने पर भी जपा पुष्पादि लाल काला श्वेत उपाधि के वश से लाल काला श्वेतरंग रुप परिणत करता है वैसे ही यह जीव स्वभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहार से गृहस्थापेक्षा यथासंभव सराग सम्यक्त्व पूर्वक दान-पूजादि शुभानुष्ठान को करनें से तथा मुनि की अपेक्षा मूल एवं उत्तर गुणादि शुभानुष्ठेन रुप परिणित होने से शुभोपयोग वाला जानना चाहिय मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय, योग ऐसे पांच कारण रुप अशुभ योग में सहित होता हुआ अशुभोपयोग जानना चाहिये निश्चय रत्न-त्रयात्मक शुद्धोपयोग में परिणित करता हुआ शुद्ध जानना चाहिये। सिद्धांत मे विस्तार प्रतिपत्ति अपेक्षा असंख्यात लोक मात्र परिणाम है। मध्यम प्रतिपत्ति अपेक्षा मिथ्यादृष्टी आदि चतुर्दश गुणस्थान अपेक्षा

वर्णन है। इस प्राभृत शास्त्र में उन्हीं गुणस्थान को संक्षेप से शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोग रुप से कहा गया है। (१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र इन तीन गुणस्थान में तारतम्य रुप से अशुभ उपयोग है। इसके आगे (४) असंयत सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत श्रावक, (६) प्रमत्त संयत मुनि इन तीन गुणस्थान में तारतम्य रुप से शुभोपयोग है। इसके आगे (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीण कषाय में तारतम्य रुप से शुद्धोपयोग होता है। उसके बाद (१३) सयोगी, (१४) अयोगी गुणस्थान इन दो में शुद्धोपयोग का फल है। ऐसा इस गाथा का भावार्थ है।

इस आर्षवचन से निश्चित होता है कि शुभोपयोग का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होता है एवं पांचवा, छट्ठा, सातवां गुणस्थान में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। उत्कृष्ट शुभोपभोग श्रावक को नहीं हो सकता है वह भाव लिंगी सातवे गुणस्थानवर्ती मुनि को ही हो सकता है। शुद्धोपयोग (शुक्लध्यान नहीं है) मुनि की ध्यानावस्था से आरंभ होकर १२ वें गुणस्थान तक रहता है। १३ वाँ, १४ वाँ गुण-स्थान में पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट होता है जो शुद्धोपयोग का फल है।

प्रत्येक जीव स्वभाव से स्वयं सिद्ध भगवान के समान शुद्ध बुद्ध निर्लेप निरंजन अनंत ज्ञान दर्शनवान होते हुए भी कर्म के कारण इसमे जीव अनेक अवस्थाओं में रहता है। वह सामान्य १४ प्रकार है।

गुणस्थान :– गुणस्थान का अर्थ है आध्यात्मिक सोपान। जिस सोपान के माध्यम से जीव संसार रूपी भूपृष्ठ से ऊपर ऊपर चढता हुआ मोक्षरूप महल में पहुँच जाता है। त्रिकाल में इस आध्यात्मिक सोपान के माध्यम से ही जीवात्मा परमात्मा बनता है, अन्य कोई उपाय न

---

९) समवशरण स्वरुपाय धर्मायतनबीजाय।
नमो जिन चैत्यालय चैतन्यरुपप्राप्तये॥

१०) नवलब्धिप्राप्ताय नवदेव स्तवोऽयम।
सच्चिदानंदसिद्धये बाह्याभ्यन्तर धर्मोऽयम्॥

भूतो न भविष्यति । जीवकी अत्यन्त आध्यात्मिक सुप्त एवं निम्नश्रेणीय अवस्था मिथ्यात्व गुणस्थान है । इस पतित आत्मान्धकार अति नीच अवस्था में जीव अनादि काल से पतित होकर रच पच रहा है । जब अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रुपी निमित्त एवं उपादान का सम्यक् समन्वय रुप समवाय होता है एवं सद्गुरु का उपदेश मिलता है तब जाकर उसकी सुप्त अवस्था नष्ट होकर, अर्थात् जाग्रत होकर खडा होता है एवं स्वयं को अवलोकन करता है। एवं स्वस्वरुप को प्राप्त करने के लिये मोक्ष की ओर उत्साह पूर्वक आगे पुरुषार्थ से सुदृढ कदम उठाता है । आगे बढते बढते मोक्ष महल को प्राप्त करता है । इस अलौकिक मोक्ष महल की यात्रा को ही गुणस्थान कहते है ।

१) मिथ्यात्व गुणस्थान :-

सत्य से विपरीत मान्यता, श्रद्धा, प्रतीति, विश्वास रुप परिणाम व भावोंको मिथ्यात्व कहते है। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार सर्वज्ञ वीतरागी देव है । सर्वज्ञ भगवान ने दिव्य ध्वनी मूलक उस परम सत्य का प्रमाण नय, निक्षेपों के द्वारा प्रतिपादन किये है, उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य अर्थात जो उनके द्वारा कहे हुए द्रव्य, तत्व. पदार्थों में विश्वास नहीं, श्रद्धा नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसकी श्रद्धारूप दृष्टी विपरीत होने के कारण वह पदार्थ को भी विपरीत रूप श्रद्धान करता है सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द आचार्य गोम्मटसार में कहते है :-

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ १८ ॥

(गो. सार)

The wrong-believing soul does not believe in the noble doctrine preached (by the conquerons) and believes in the nature of things as it really is not whether it be preached or not by (the teaching or description of) any one.

मिथ्यादृष्टिजीवः उपदिष्टं – अर्हदादिभिर्व्याख्यातं, प्रवचनं आप्तागम पदार्थत्रयं न श्रद्दधाति-नाप्युपगच्छति । प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ

प्रवचनः आप्तः, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं – परमागमः, प्रकृष्टमुच्यते– प्रमाणेन अभिधीयते इति प्रवचनं पदार्थः, इति निरुक्त्या प्रवचन शब्देन तत्त्रयाभिधानात् । पुनः स मिथ्यादृष्टिः असद्भावं मिथ्यारुपं प्रवचनं आप्तागम पदार्थं उपदिष्टं – आप्ताभासैः प्रकथितं अथवा अनुपदिष्टं– अकथितमपि श्रद्दधाति ।

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है । प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रुप से जो कहा जाता है व प्रवचन अर्थात् पदार्थ । इन निरुक्तियों से प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते है । तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारुप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्राभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है ।

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत णिद्दिष्ठं ।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वा ॥३९॥

(भगवती आराधना)

विजयोदया टीका– पदमक्खरं इति । पद शब्देन पद शब्दस्य सहकारी पदस्यार्थं उच्यते । अक्खरं च इति स्वल्प शब्दोपलक्षणं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा । जो यः । ण रोचेदि न रोचते । सुत्त णिदिट्ठं पूर्वोक्त प्रमाण निर्दिष्टम । सेसं इतरश्रुतार्थं श्रुतांशं । रोचंतोऽपि ।

---

(२) मंगलाचरणं
(सुमण पुप्फ संचयण) प्राकृत

मंगलं भयवदो आदा मंगलं अणयंत धम्मो ।
मंगलं रणत्तयं मंगलं वत्थु सहावो ॥ १ ॥

मंगलं विसुद्ध आदा मंगलं आत्तं परमेठ्ठी ।
मंगलं साधयत्तयं मंगलं रयणत्तयं ॥ २ ॥

मिच्छादिट्ठीं मिथ्यादृष्टिरिति । मुणेदव्वो ज्ञातव्यः । महति कुंडे स्थितं वव्हपिपयो यथा विषकणि का दूषयति । एवम श्रद्धानकणिका मलिन यत्यात्मनमिति भावः ।

श्रुत मे कहा गया है कि एक पद का अर्थ अथवा एक अक्षर का भी अर्थ जो प्रमाणभूत मानकर श्रद्धा नहीं करता है वह बाकी के श्रुतार्थ को या अश्रुतांश को प्रमाण जानता हुआ भी मिथ्यादृष्टी ही है। बडे पात्र मे रक्खे हुए बहुत दूध को भी छोटी सी विषकणिका बिगाडती है। इसी सरह अश्रद्धा का छोटा सा अंश भी आत्मा को मलीन करता है।

मदि सुदणाण बलेण दु सच्छंदं बोल्लेदे जिणुद्दिट्ठं ।
जो सो होदि कुद्दिट्ठी ण होदि जिण मग्ग लग्गको ॥ २ ॥
(रयणसार कुदकुंदाचार्य)

जो मतिज्ञान-श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम से प्राप्त हुए मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के कारण उद्धत होकर स्वयं के मनमाने ज्ञान द्वारा अपने मत अर्थात पक्ष को लेकर स्वच्छंद होकर कपोल कल्पित मत का प्रतिपादन करते है, जिनवाणी को नहीं मानते है वे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जिनधर्म से बाह्य है। यदि जिनागम को दिखाने पर यथार्थ वस्तु का श्रद्धान करने लगता है और पूर्व कल्पित मत-पेक्ष का त्याग करता है वह सम्यग्दृष्टी बन जाता है। अन्यथा मिथ्यादृष्टी रहता है।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥
(गोम्ममसार जीवकांड)

मिथ्यात्वं उदयागतं वेदयन्-अनुभवन् जीव। विपरीत दर्शनः अतत्व श्रद्धा युक्तो भवति न केवलं अतत्वमेव श्रद्धदत्ते अनेकांतात्मकं कर्म वस्तु-स्वभावं रत्नत्रयात्मक मोक्षकारणभूत धर्मं न रोचते (नाभ्युगच्छति) अत्र दृष्टांतमाह-यथाज्वरितः पित्तज्वराकान्हो, मधुरं-क्षीरादिरसं न रोचते तथा मिथ्यादृष्टीधर्मं न रोचते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला

जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म, वस्तु स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता।

दृष्टांत :– पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध-रसादि को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्या दृष्टि को धर्म नहीं रुचता है।

इंदिय विसय सुहादिसु मूढमदी रमदि न लहदि तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि सो चेव हवदि बहिरप्पा ॥१२९॥
(रयणसार)

जो मूढमति इन्द्रियजनित सुख में रमण करता हुआ उसको सुख मानता है, बहुदुःखप्रद नहीं मानता है, वह आत्म तत्व को प्राप्त नहीं कर सकता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

पूर्व संचित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो स्वयंमेव विपरीत भाव होता है उसे निसर्ग व अगृहीत मिथ्यादृष्टि कहते है। जो कुगुरु के उपदेश से विपरीत भाव होते है उसे अधिगमज व गृहीत मिथ्यादृष्टि कहते है। मिथ्यात्व के कारण जीव अवस्तु मे वस्तु भाव, अधर्म में धर्मभाव, कुगुरु में गुरु भाव, कुशास्त्र में सुशास्त्र भाव, धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतिन्त्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषयसुख में ही लीन रहता है। बाह्य–भौतिक हानी-वृद्धि में अपनी हानी-वृद्धि मानकर सुखी दुःखी होता है। सामान्य से मिथ्यात्व एक प्रकार होते हुए भी विशेष अपेक्षा अर्थात् द्रव्य–भाव में दो प्रकार एकान्त, विपरीत, संशय, विनय, अज्ञान की अपेक्षा ५ प्रकार भी होता है। इनमें सांख्य–चार्वाक मत मिलाने से ७ प्रकार का मिथ्यात्व होता है। विशेष रुप से क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और वैयनिकवादियों के ३२ इस

णमो आप्त परमेठ्ठीणं णमो णिक्कम्माणं णमो साधयाणं।
णमो रयणत्तयाणं णमो लोये सव्व देवाणं ॥ ३ ॥

मंगलं भयवदो पारस मंगलं आइरिय वोरो।
मंगलं संति कुंथुय मंगलं सिरि जिण धम्मो ॥ ४ ॥

प्रकार मिथ्यावादियों के ३६३ भेद होते है ।

कोई एकांत से काल, ईश्वर, आत्मा नियति और स्वभाव स्वतंत्र स्वतंत्ररुप से कर्त्ता मानते है ।

कुछ मिथ्यावादियों का स्वरुप :-

एकांतकालवादी:- काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है सो ऐसे काल को ठगने मे कौन समर्थ हो सकता है ? इस प्रकार काल से ही सब कार्य मानना, कालवाद कहलाता है ।

एकांत नियतिवादी:- जो जिस समय जिससे जैसा जिसको नियम से होना है वह उस समय उससे वैसे उसके ही होता है ऐसा नियम से सभी वस्तु को मानना नियतिवाद कहलाता है ।

किसी भी कार्य के लिये पंच कारणों की आवश्यकता:-

इसी प्रकार कोई मिथ्यावादी एक एक कारण से कार्य उत्पति को मानते है परंतु प्रत्येक कार्य सम्यक् अन्तरग-बहिरंग भावों के सद्भाव से एवं विरोधी कारणों के अभाव से होता है । यथा:-

कालो सहाव णियइ पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छतं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥ ५३ ॥

(सन्मतीसूत्र)

प्रत्येक कार्य के लिये १) काल २) स्वभाव ३ नियति ४)पूर्वकृत ५) पुरुषार्थ । इन पांच कारणों का सम्यक् समन्वय चाहिये ओर प्रत्येक कार्य के लिये पांचो को मानना सम्यक्त्व है । एक एक को कार्योत्पत्ति में कारण मानना मिथ्यात्व है । कालरूपी कारण केवल वाह्य उदासीन कारण है, उपादान अथवा प्रेरक कारण नहीं है ।

यदि काल को ही सम्पूर्ण कार्यों का कर्त्ता मानेंगे तब काल को ही कर्म बंध होना चाहिये, काल को ही सुख दुःख होना चाहिये, काल को ही मोक्ष पद की प्राप्ति होनी चाहिये ? परंतु यह आगम, प्रत्यक्ष, अनुमान विरुद्ध है क्योंकि इस प्रकार उपलब्ध नहीं है ।

इसी प्रकार नियति को ही यदि कार्य के लिये कारण मानेंगे तब काल, स्वभाव, पूर्वकृत, पुरुषार्थ रूप चार कारणों के लोप का प्रसंग प्राप्त होता है परंतु विकल अर्थात् न्यून कारण से कार्य नहीं हो सकता है। द्रव्य में परिणमन के लिये उदासीन रुप काल का अभाव होने पर द्रव्य मे परिणमन नहीं होंगा, स्वभाव के अभाव से द्रव्य का ही लोप होगा। पूर्वकृत के अभाव से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक एवं मिथ्यात्व से चौदह गुणस्थान तक जीव की अवस्था विशेष का अभाव होने से संसार का अभाव हो जायेगा, जिससे प्रत्येक जीव शुद्ध–बुद्ध, नित्य निरंजन स्वरुप जायेंगे जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

कर्म नहीं है तो कर्म नष्ट करने के लिये पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? संसार के अभाव से प्रतिपक्ष भूत मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। संसार–मुक्त जीवों का अभाव होने से प्रतिपक्ष भूत अजीव द्रव्य का अभाव हो जायेगा, तब सर्व शून्यता का प्रसंग आयेगा जो कि अनुपलब्ध है।

यदि केवल नियति को ही कार्य में कारण मानेंगे तो पुरुषार्थ के अभाव होने से लौकिक व अलौकिक कार्य के लिये जीव बुद्धिपूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक क्रिया करता है उसका लोप होगा, पुरुषार्थ के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। परंतु अनंत केवली हुए वे सभी पुरुषार्थ पूर्वक, बुद्धिपूर्वक, गृहस्थ जीवन का त्याग कर, शरीर स्थित पोषाक निकालकर, केंशलोंच कर, निर्ग्रन्थ रुप धारणकर, कठोर अन्तरंग–बहिरंग तपश्चरण कर मोक्षपदवी प्राप्त किये है।

धुव सिद्धि तित्थयरो चउणाण जुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥ (अष्टपाहुड)

उदय लोय हियथर अणंत सुहसंति दातारो।
विस्ससंति पदातारो जो सो हवई धम्मो ॥ ५ ॥

(३) सुमण पुप्फ संचयण

– जिण धम्मो –

जत्थ अणेयंत जत्थ सियावाय जत्थ रयणत्तय होई।
जत्थ जीवदया जत्थ उहय णया तत्थ जिण धम्मो होई ॥६॥

तद्भव मोक्षगामी, चरमशरीरी, निश्चितरुप से तद्भव में मोक्ष जानेवाले, जन्म से ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि, मति-श्रुत-अवधिज्ञान के धारक होते है और अन्तरंग-बहिरंग कारण मिलने पर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर "नमः सिद्धेभ्यः" बोलकर केंशलोंच कर दीक्षा लेते है तब अनेक ऋद्धि-सिद्धि सहित मनःपर्येय ज्ञान प्रगट होने पर चार ज्ञान धारी होने के कारण उन्हे स्पष्ट अवगत है कि मैं निश्चित मोक्ष जाऊंगा तो भी तिर्थंकर भगवान् कठोर-कठोर अन्तरंग-बहिरंग तपश्चरण करते है, मासोपवासी होकर पर्वत के शिखर पर ग्रीष्म ऋतु में, जिस समय पाँव के नीचे पृथ्वी जलती है और सूर्य ऊपर अत्यन्त संताप देता है, चारों ओर ऊष्ण वायु शरीर को शोषण करती है, तब भी कर्म शत्रु को नष्ट करने के लिये अन्तरंग बहिरंग तपश्चरण करते है, अन्यथा कर्म नष्ट नहीं हो सकता है, कर्म नष्ट हुए बिना शाश्वतिक आत्मोत्थ अतिन्द्रिय ज्ञानानंद सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

तीर्थेश्वरा जगज्जेष्ठा, यद्यपि मोक्षगामिना।
तथापि पालितं तैश्च चारित्रं मुक्ति हेतवे ॥

जगत् में ज्येष्ठ तीर्थ के ईश्वर जो निश्चित मोक्षगामी है तो भी वे मुक्ति के हेतु चारित्र को पालन करते है।

जदि ण वि कुव्वदि छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं।
कालेण दु बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥२८९॥
(मोक्ष अधिकार समयसार)

जह बंधे छेत्तूण य बंधण बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥२९२॥
(मोक्ष अधिकार समयसार)

As a person, who has been in shackles for a long time may be aware of the nature of his bondage, intense or feeble, and also its duration still so long as he does not make any effort to break them, he does not, get him self free from the chains, and may have to remain so for a long time without obtaining free-

dom Similarly a person with karmic bondage, even if he has the knowledge of the extent, the nature, the duration, and the strength of the karmic bondage,does not get liberation (by this mere knowledge) but he gets complete liberation if pure in heart –289

As one bound in shackles gets release only on breaking the shackles, so also the self attaionse emancipation only by breaking (Karmic) bondage –292–

जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः– ज्ञानन्नपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्म बंध विशेषेणामुच्यमानः सन् पुरुषो बहुतर कालेऽपि मोक्षं न लभते ॥ २८९ ॥

यथा बंधन बद्धः कश्चित्पुरषो रज्जुबंधं श्रृंखला बंधं काष्ठि निगल बंधं वा कमपि बंधं द्वित्वा कमपि बंधं द्वित्वा कमपि भित्वा कमपि मुक्तवा स्वकीय विज्ञान पौरुष बलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान । युधेन बन्धं छित्त्वा द्विधाकृत्वा भित्वा विदार्य मुक्त्वा छोऽयित्वा च निज शुद्धात्मोपलंभ स्वरुप मोक्षं प्राप्नोतीति ॥२९२॥

कोई एक पुरुष धातु निर्मित श्रृंखला से बंधन होकर पडा है, वह उस श्रृंखला का वर्ण, स्वभाव, गुण धर्म के बारे में जानता है, मानता है और मनन चिंतवन भी करता है, तो भी तब तक उस बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है, जब तक वह उस बंधन को छेदन, भेदन, खण्डन नहीं करेगा । उसी प्रकार संसारी जीव कर्म रूपी बंधन में पडा है विषय

– अधम्मो –

अण्णाणं दुट्ठचारित्र विसदिट्ठी एयंत पक्कववाई ।
सपर उहय लोयझाणी सुहसंति विघ्घकर हवई अधम्मो ॥ ७ ॥

– आदा धम्मो –

जे णासेण सगदोसो मोहो णात्थि णिच्चयेण ।
ते णासेण धम्मो होदि हु णिच्चयेण ॥ ८ ॥

में जानता है, मानता है, और बंधन से मुक्त होने के लिये चिंतन मनन भी करता है, परंतु जब तक कर्म बंधन को नष्ट करने के लिये दृढ पुरुषार्थ रूप क्रिया नहीं करेगा, वह पुरुष बहुकाल तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे रज्जु (रस्सी), लोह, स्वर्ण, काष्ठ रूप बंधन को तोडकर फोडकर, खोलकर, नष्ट कर अपने विज्ञान और पुरुषार्थ के बल से उस बंधन से मुक्त हो सकता है। उसी प्रकार मुमुक्षु वीर भी स्वविज्ञान, पुरुषार्थ रूपी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के बल से उस बंधन को छेदकर, भेदकर, खोलकर, तोडकर, नष्ट कर, विदारण कर अपने शुद्धात्मा के उपलम्भ स्वरुप मोक्ष को प्राप्त करता है, वही परम पुरुषार्थ है।

बिना पुरुषार्थ मोक्ष नहीं होता, केवल नियति को मानना, परम पुरुषार्थ का तिरस्कार करना, अवहेलना करना, नकार करना है। इसलिये एकान्त नियतिवाद घोर मिथ्यात्व है, शिथिलाचार भ्रष्टाचार का पोषण है। यदि नियति से सब कुछ होता है तो धनसम्पत्ति के लिये व्यापार, पुत्र उत्पत्ति के लिये विवाह, रोग निवारण के लिये औषध सेवन, ज्ञानार्जन के लिये विद्यालय जाना, शास्त्र अध्ययन, प्रवचन, शिविर आदि की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रकार सम्पूर्ण मिथ्यात्व के कारण वस्तु स्वरुप का यथार्थ श्रद्धान एवं आत्म स्वरुप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है, कर्म बंध का प्रधान कारण है, अधर्म का आधार है, आत्म पतन के लिये मूल हेतू है।

मिथ्यात्व में बंध :–

"मिथ्या दर्शनाऽविरतिप्रमाद कषाय योगाबंध हेतवः" ॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु है क्योंकि इन कारण पूर्वक ही बंध होता है। "त एते पञ्च बंध हेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बंध हेतवो भवन्ति" ये पांचों स्वतंत्र स्वतंत्र बध के हेतु है और समुदाय से भी बंध के कारण है जैसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पांचों बंध के लिये

कारण है। सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि इन तीन स्थान में मिथ्यात्व को छोड अन्य अविरति आदि चारों प्रत्यय बंध के कारण है। जब तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति उदय में रहती है तब तक मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतितों का बंध होता है उसके आगे बंद व्युच्छित्ति हो जाती है।

मिच्छत्त हुंड संढाऽसंपत्तेयक्ख थावरादावं ।
सुहुमतियं विगलिंदिय णिरयदु णिरयाउगं मिच्छे ॥९५॥

(कर्मकाण्ड)

मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तासपाठिका संहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरकायु इन १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्त मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में होती है।

सामण्ण पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायं जोगा य बोद्धव्वा ॥१०॥

(समयसार)

सामान्य से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंध के कर्त्ता है अर्थात् जिस समय में मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है उस समय उदयगत मिथ्यात्व कर्म के कारण जो भाव होता है उसके माध्यम से पुनः नवी कर्म बंध होता है इसी प्रकान अविरति आदि से जानना चाहिये। यहाँ पर प्रमाद को आचार्यश्री ने नहीं गिनाया है तो क्या प्रमाद बंध के लिये कारण नहीं है, अवश्य कारण है किंतु प्रमाद को कषाय में अन्तर्भूत कर दिया है क्योंकि कषाय के कारण प्रमाद होता है। द्रव्य संग्रह में "जोगा पयडि प्रदेशा टिट्ठि अनुभाग कसायदो होदि" इस में कसाय को ही स्थिति और अनुभाग का कारण बताया

जे णासेण रागद्दोसो मोहो आत्थि णिच्चयेण ।
ते णासेण अधम्मी होदि हु णिच्चयेण ॥

आदा धम्मो दुविहं सायार अणायार भेयेण ।
सायार साधयं पुणो अणायारं साज्झ ॥ १० ॥

है। तो मिथ्यात्व और अविरति बंध के कारण नहीं है, अवश्य है, किंतु संक्षेप से कषाय में मिथ्यात्वादि को अन्तर्भूत कर दिया है। यहाँ पर कषाय प्रत्यय अंत दीपक है, इसलिये उसके पहले पहले के सभी कारण उससे ग्रहण किये गये है।

सूत्रः-

सव्वतित्वाणुभागा मिच्छतस्स उक्कस्साणु भागुदीरणा ।
अणंताणुबंधीणमण्णदरा उक्कस्साणु भागुदीरणा
तुल्ला अणंत गुण होवा ।।
ज. ध. पु. ११ पे. १२३-१२४

सब से मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा तीव्र अनुभाग वाली है। अर्थात् सब से तीव्र शक्ति से संयुक्त है। उससे अनंतानुबंधीयों की अन्यतर (कोई एक) उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा परस्पर समान होकर मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा से अनंत गुणी हीन है।

शंका :- मिथ्यात्व की उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा सबसे तीव्र क्यों है।

समाधान :- "सव्व दव्व विसय सद्दहण गुण पडि बंधित्तादो"
अर्थ,- सर्व द्रव्य विषय श्रद्धान गुण का प्रतिबंधन मिथ्यात्व कर्म करता है। ज. ध. पु. ११ पे. १२३

मिच्छतपच्चयो खलु बन्धो उवसाम यस्य बोधव्वो ।
उवसंते सासणे तेण परं होदि भय णिज्जो ।। (धवल)

मिथ्यात्व का उपशांत अवस्था में और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व निमित्तक बंध नहीं होता है अन्य स्थान भी भजनीय है। अर्थात मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव को मिथ्यात्व निमित्तक बंध होता है। अन्य गुणस्थान प्राप्त जीव को बंध नहीं होता। एक विचारणीय विषय है कि ४० कोडा कोडी सागर स्थिति वाला चारित्र मोहनीय (अनंतानुबंधी आदि) ७० कोडा कोडी सागर स्थिति प्रमाण दर्शण

मोहनीय को कैसे बंध कर सकता है। यदि कषाय को ही स्थिति बध का कारण मानेंगे तो दर्शनमोहनीय का स्थिति बंध मात्र कषाय के रहने पर ७० कोडा कोडी सागर का और मिथ्यात्व मे १६ प्रकृतियों का जो बध होता है वह नहीं हो सकता है। अनंतानुबंधी भी मिथ्यात्व के सहाय से ही अनंत संसार का कारण हो सकती है अन्यथा नहीं।

अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ कषाय आत्मनः सम्यक्त्व परिणामं कषन्ति अनंत संसार कारणत्वात् अनन्तं-मिथ्यावं, अनंत भव संस्कार कालं वा अनुबन्धन्ति सुघटचन्तीत्यनन्तानुवन्धिन इति ॥

(गो. सार. टीका गाथा २८३ ॥)

अनंतानुबंधी क्रोध–मान–माया–लोभ कषाय आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती है क्योंकि अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यात्व कर्म को अनंत कहते है। उस अनंत भव के संस्कार काल को बांधती है इसलिये उसे अनंतानुबंधी कहते है। एक क्षण के लिये भी सम्यक्त्व हो जाता है तो संसार अनंत नहीं रहता है संसार परीत हो जाता है जो कि अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र है।

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्यं त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तन् भूताम् ॥३४॥

(रत्नकरण्ड श्राव)

In the three periods of time and the three worlds there is nothing more auspicious than Right Faith for the living beings, nor any thing more inquacious than a false conviction

---

– सावय –

अट्ठ मूल गुण जुत्तो सत्तविसणं परिमुक्को ।
दिवा भोयण सुद्ध जलं देव दंसणं सावय धम्मो ॥ ११ ॥

– समण –

अट्ठावीस गुण जुतो णिम्मम झाणज्झयण संयुत्तो ।
परिसह उपसग्ग जयी समयारुवी हवई समणो ॥ १२ ॥

तीन जगत् में तीन काल में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर जीवों के लिये अन्य कुछ नहीं है एवं मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।

२) सासादन :-

आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे ।
अण अण्णदरुदयादो णासिय सम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१९॥

सासादन अर्थात असादन सहित। जिसने उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सम्यक्त्व के काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से ६ आवली शेष रहने पर अनंतानुबंधी संबंधी क्रोधादि एक कषाय का उदय होनेपर जिसने सम्यक्त्व रुपी रत्न पर्वत के शिखर से गिरकर मिथ्यात्व रुप भूमि के सन्मुख हुआ है परंतु मिथ्यात्व रुप भूमि में अभी तक पहुँचा नहीं, उस पतनाभिमुख आत्मीक परिणाम विशेष को सासादन गुणस्थान कहते है।

३) मिश्र गुणस्थान :-

सम्मामिच्छुदएण य जत्तंतर सव्वधादि कज्जेण ।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥
(गो. सार)

जात्यंतर सर्वघाति के कार्य रुप सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रुप मिश्र परिणाम होता है उस समय में शुद्ध न सम्यक्त्व रहता है न मिथ्यात्व रहता है जिस प्रकार मिले हुए दही-गुड में खट्टा और मीठा दोनों युगतप मिले हुए रहते है उनको अलग-अलग कतना शक्य नहीं है उसी प्रकार मिश्र अवस्था में सम्यग्मिथ्यात्व भाव रहते है। जिस प्रकार घोडी गधा से उत्पन्न हुआ संतान न घोडा होता है और न गधा होता है, खच्चर होता है उसी प्रकार मिश्र परिणाम होते है। "गंगा गये गंगादास, जमना गये जमनादास" नीति के अनुसार सम्यक् देव गुरु शास्त्र को भी मानता है और मिथ्या देव गुरु शास्त्र को भी मानता है।

४) अविरत सम्यग्दृष्टि :–

इस गुणस्थान से वास्तविक मोक्ष का मंगलाचरण होता है। अन्तरंग–बहिरंग समस्त कारणों के सद्भाव से मिथ्यात्व एवं अनतानुबंधी चतुष्क का उपशम, क्षयोपशम, क्षय से यथाक्रम उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जो कि मोक्षफल के लिये बीजभूत है। जिस प्रकार बीज के अभाव से बीज की उत्पत्ति वृद्धि नहीं हो सकती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रुप बीज के अभाव से मोक्ष रुपी वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शन सहित ही ज्ञान व चरित्र सम्यक् है अन्यथा मिथ्या है। सम्यग्दर्शन एक अंक प्रमाण है और ज्ञान चारित्र दो शून्य समान है जैसे स्वतंत्र शून्य का कोई मूल्य नहीं है परंतु एक के आगे जोडने पर १०० संख्या हो जाती है। वर्तमान शून्य में विशेष मूल्य है जिसके कारण एक का मूल्य बढकर सौ हो गया। यदि सौ पूर्ण मोक्ष मार्ग है तो स्वतंत्र एक एक संख्या रुपी सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग नहीं है. दशक स्थान स्थित शून्य रुपी सम्यग्ज्ञान पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है तथा एक–एक स्थान स्थित चारित्र रुप शून्य पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है, परंतु सम्यग्दर्शन रुप एक के आगे सम्यग्ज्ञान रुप शून्य जोडने पर दश तथा सम्यक्चारित्र रुप शून्य जोडने पर सौ हो जाता है जो कि पूर्ण मोक्षमार्ग है। वर्तमान काल के संस्कृत जैनवाङमय के आद्य सूत्रकार उमास्वामी प्रथम सूत्र में कहते है :–

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"। इस सूत्र में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि" बहुवचन है और मोक्षमार्ग एकवचन रखने का एक महान रहस्य छिपा हुआ है। जिसका अर्थ है स्वतंत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है परंतु तीनों का सम्यक् समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। सूत्र में जो पद क्रम रखा गया है

मोण झाणाझयण णिम्मम णिरहंकार संजुत्तो।
आसा संकप्प मुक्को जो सो हवई सो समणो ॥ १३ ॥

समदारस सेई सव्व जीवे समभाव सया भाई।
सव्व संग सव्वासी जो सो समणो होई ॥ १४ ॥

उसमें भी एक महान आगमिक एवं आध्यात्मिक सूक्ष्म रहस्य भरा है अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र होता है। अन्य भी एक कारण है जो कि सम्यग्दर्शन पूर्ण होने के बाद भी साक्षात् तत्काल मोक्ष नहीं मिलता है, जैसे क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान मे पूर्ण होने पर तत्क्षण मोक्ष नहीं होता है। कोई जघन्य से एक भव और उत्कृष्ट से ४ भवों तक परिभ्रमण करता है।

सम्यग्ज्ञान १३ वे गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है तो भी तत्क्षण मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है जघन्य से अन्तर्मुहुर्त से लेकर उत्कृष्ट से से कुछ कम एक पूर्व कोटी वर्ष तक संसार में रुका रहता है। चौदहवें गुणस्थान के अंत में शैलेश अवस्था प्राप्त होती है एवं चारित्र पूर्ण होता है सम्पूर्ण कर्म नष्ट होकर शाश्वतिक मोक्ष पदवी प्राप्त होती है। इस सिद्धांत को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते है कि सम्यग्दर्शन की पूर्णता मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, किंतु सम्यक्चारित्र की पूर्णता नहीं है, सम्यग्ज्ञान की पूर्णता भी मोक्षमार्ग की पूर्णता नहीं है, किंतु सम्यक्चारित्र की पूर्णता ही मोक्षमार्ग की पूर्णता है। इसलिये सूत्र में पहले सम्यग्दर्शन को उसके पश्चात सम्यग्ज्ञान और शेष में सम्यक्चारित्र को रखा है। मोक्ष मार्ग का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से एवं पूर्णता सम्यक्-चारित्र से होती है। जहाँ पर सम्यक्चारित्र है वहां सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान निश्चित रुप से रहेंगे ही, किंतु जहां पर सम्यग्दर्शन व सम्य-ग्ज्ञान है वहां पर चारित्र भजनीय है अर्थात हो भी सकता है और नहीं भी। जैसे किसी के पास दस हजार रुपये है उसके पास सौ रुपये, दस रुपये है ही। किंतु जिसके पास दस रुपये और सौ रुपये है उसके पास हजार रुपये हो भी सकते है, नहीं भी हो सकते है। इसलिये मोक्षमार्ग का धनी सम्यक्चारित्रवान जीव है।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइठ्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥
(गो. सार.)

जो इंद्रिय के विषयों से विरत नहीं है तथा त्रस और थावर जीवों की हिंसा से भी विरत नहीं है केवल जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रति-

पादित तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान रखता है, इसलिये वह जीव अविरत सम्यग्दृष्टी है। अपि शब्द से संवेगादि गुण प्रगट होते है।

सम्माइठ्ठी जीवो उवइठ्ठं पवयणं तु सद्दहहि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणभाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥
(गो. जी.)

सुत्तादो तं सम्मं दसिसिज्जतं जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइठ्ठी जीवो तदो पहुडि ॥ २८ ॥
(गो. जी.)

जो जीव अर्हन्त आदि के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन अर्थात आप्त आगम और पदार्थ इनकी श्रद्धा रखता है, साथ ही उनके विषय में असद्भाव अर्थात अतत्व भी स्वय के विशेष ज्ञान से शून्य होने से, केवल गुरु के नियोग से जो गुरु ने कहा वही अर्हन्त भगवान की आज्ञा है ऐसा श्रद्धान करता है, वह भी सम्यग्दृष्टी ही है। अर्थात अपने को विशेष ज्ञान न होने से और गुरु भी अल्पज्ञानी होने से वस्तु स्वरुप अन्यथा कहे और यह सम्यग्दृष्टी उसे ही जिनाज्ञा मानकर अतत्व का श्रद्धान कर ले तब भी वह सम्यग्दृष्टी ही है, क्योंकि उसने जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं किया ॥ २७ ॥

उक्त प्रकार से असत् अर्थ का श्रद्धान करता हुआ आज्ञा सम्यग्दृष्टी जीव जब अन्य कुशल आचार्यों के द्वारा पूर्व में उसके द्वारा गृहीत असत्यार्थ से विपरीत तत्व गणधरादि द्वारा कथित सूत्रों को दिखाकर सम्यक् रुप से बतलाया जावे और फिर भी वह दुराग्रह वश उस सत्यार्थ का

– सज्जण –

सव्व जीव हिये तत्पर पर दुक्ख सुख समभाई।
वसण कुटील च्चागी समदरसी हवई सज्जणो ॥ १५ ॥

– दुज्जणो –

पर सुहे दुःक्खी पर दुःखे हवई जो सुहि।
वसण कुटील सेई विसम दिठ्ठी दवई दुट्ठो ॥ १६ ॥

श्रद्धान न करे तो उस समय से वह जीव मिथ्यादृष्टी होता है, क्योंकि गणधरादि के द्वारा कथित सूत्र का श्रद्धान न करने से जिनाज्ञा का उल्लंघन सुप्रसिद्ध है। इसी कारण वह मिथ्यादृष्टी है ॥ २८ ॥

भयवसण मल विवज्जिद-संसार सरीर भोग णिव्विण्णो ।
अठ्ठ गुणंग समग्गो दंसण सुद्धो हु पंचगुरु भत्तो ॥ ५ ॥

(रयणसार)

जो सप्त भय से रहित, सप्त व्यसन से रहित, सम्यग्दर्शन के २५ अतिचार मल दोष से रहित है, संसार शरीर भोग से विरक्त है, सम्यग्दर्शन के ८ अंग सहित है एवं पंच परमेंष्ठी की जो भक्ति करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी है।

सम्यग्दर्शन सामान्य से एक प्रकार है सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन अपेक्षा दो प्रकार है। १) उपशम २) क्षयोपशम ३) क्षायिक की अपेक्षा तीन प्रकार का है।

१) आज्ञा २) मार्ग ३) उपदेश ४) सूत्र ५) बीज ६) संक्षेप ७) विस्तार ८) अर्थ ९) अवगाढ १०) परम अवगाढ भेद से सम्यक्त्व १० प्रकार भी है। उसमें से प्रथम सम्यक्त्व आज्ञा सम्यग्दर्शन है। यथा–

आज्ञासम्यक्त्व मुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव ।
त्यक्त ग्रन्थ प्रपंच शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ॥

(आत्मानुशासन)

दर्शनमोहनीय के उपशांत होने से ग्रंथ श्रवण के विना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उस को आज्ञा सम्यग्दर्शन कहते है क्योंकि उसका श्रद्धान होता है सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान कभी भी अन्यथा उपदेश नहीं करते है जो भी कथन करते है वह सत्य ही कथन करते है।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञा सिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिना ॥ ५ ॥

वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान के द्वारा प्रतिपादित तत्व त्रिकाल अवाधित परम सत्य एवं सूक्ष्म है। जो कि परोक्ष मतिज्ञान श्रुतज्ञान के अवयवभूत हेतू, तर्क, उदाहरण से खण्डित नहीं होता है। जिनेन्द्र भगवान अन्यथावादी नहीं होते है। इसलिये उनकी आज्ञा ग्रहण करनेयोग्य है, यहां से ही सम्यग्दर्शन का प्रारंभ होता है, आज्ञा सम्यक्त्व तलहदी (आधारशिला) है उसके ऊपर अन्य अन्य सम्यग्दर्शन रुपी महल अवस्थित है।

कुछ वर्ष पूर्व जैन धर्म के अनेकांतवाद स्याद्वाद, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, कालद्रव्य, परमाणुवाद, वनस्पति एकेन्द्रिय है इत्यादि सिद्धांत अन्य कोई दर्शन एवं विज्ञान नही मानते थे वर्तमान वैज्ञानिक शोध से उपरोक्त समस्त विषय को आज वैज्ञानिक जगत एवं साधारण जन भी मानने लगे है। विज्ञान की नवीन नवीन शोध से जैन धर्म की प्रमाणिकता अधिक अधिक दुनिया के सन्मुख स्पष्ट स्पष्ट होता जा रहा है, इससे सिद्ध होता है कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत समस्त सिद्धांत सत्य पूर्ण और तथ्यपूर्ण है, इसलिये जो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टी है।

५) देशविरतः–

सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव की सुप्त अवस्था नष्ट होती है। विपरीत श्रद्धान नष्ट होने के पश्चात आत्मा की उन्नति के लिये अथवा मोक्ष प्रयाण के लिये उठकर खडा होता है परंतु पूर्व संस्कार के कारण चारित्र मोहनीय के तीव्र उदय से मोक्ष मार्ग के साधनभूत किसी प्रकार का चारित्र धारण नहीं कर पाता है। जब देश चारित्र प्रतिबंधक अप्र-

---

– पुरिसो –

पुरु गुणा णुराई पुरु साध्ये जो होई लीण।
पर णिंद अप्पा पसंस्सा रहियो जो सो हवई पुरिसो ॥ १७ ॥

– इत्थी –

माया काम मुत्ति कलहो दुट्ठ वचणाणु राई।
पर दोस दंसणो पण्णा अप्पा दोस छाद्दणा इत्थी ॥ १८ ॥

त्याख्यान कषायों का उपशम या क्षयोपशम होता है तब आत्मिक शक्ति कुछ वृद्धि होने के कारण मोक्षमार्ग मे बढने के लिये कदम उठाता है। मोक्ष के साधनभूत सम्पूर्ण व्रतों को पालन करने के लिये आत्मशक्ति नहीं होने के कारण देश व्रतों को धारण कर मन्थरगति से मोक्षमार्ग में बढता है।

जो तस वहावो विरदो अविरदओ तह य थावर वहाओ।
एक्क समयम्मि जीओ विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ ३१ ॥
(गो. जी.)

(He) Who vows against the killing of mobile (trasa) Souls, and (is) vowless as to the killing of immobile (sthavara) souls, and is entirely devoted to the conqueror (Jina), is vowful and vowless (Virata - avirata) at one and the same time.

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव एक ही काल में त्रस वध से विरत होने के कारण एवं स्थावर बध से अविरत होने के कारण वह विरताविरत सार्थक नाम से सहित है । च शब्द से सूचित होता है कि प्रयोजन के बिना स्थावर हिंसा भी नहीं करता है, उसकी श्रद्धान अर्थात रुचि भक्ति जिन भगवान में रहने के कारण वह जिनैकमति होता है, यहाँ से संयम अथवा विरत का प्रारंभ होता है यह आदि दीपक होने के कारण आगे भी गुणस्थान में यह विशेषण जोडना चाहिये । इस गुणस्थान में श्रद्धान रहते हुए भी आत्मा के घातक विषय कषायों से सम्पूर्ण विरत नहीं हो पाता है।

अनाद्य विद्या दोषोत्थ चतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत्स्वज्ञान विमुखः सागारा विषयोन्मुखाः ॥ २ ॥
(सागार धर्मामृत)

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रंथसंज्ञमपासितुम् ।
अपारयन्तः सागराः प्रायो विषयमूच्छिताः ॥ ३ ॥
(सागार धर्मामृत)

अनादि कालीन अविद्यारुप दोषों से उत्पन्न होने वाली चारों

संज्ञाओं रुपी ज्वर से पीडित होकर और उसके सहन करनें में असमर्थ होकर उस आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, संज्ञा रुप दाह को शांत करने के लिये विषय समुद्र में स्नान करता है। उस समय में वह हिताहित विवेक से शून्य होकर, निरन्तर आत्म ज्ञान से विमुख होकर विषयों को भोगता है। बाह्य जड वस्तुओं का संग्रह करता है। धन-सम्पत्ति आदि के क्षय से भयभीत होता है, शुष्टि पुष्टि कर इन्द्रियों को उत्तेजित कर आहारादि का भी सेवन करता है। अनादिकालीन अज्ञान के कारण परंपरा से आनेवाली परिग्रह संज्ञा को त्याग करने में असमर्थ प्राय: विषय काम भोग में मूच्छित श्रावक होते है। इसी प्रकार भव्य सम्य-ग्दृष्टी जीवों की दीन अवस्था को देखकर स्वपर उपकारी मोक्ष मार्ग के पथिक यथाशक्ति उसका आत्मउद्धार के लिये उपदेश देते है –

विषयविषप्राशनोत्थित मोहज्वरजनित तीव्रतृष्णस्य ।
नि:शक्तिकस्य भवत: प्राय: पेयाद्युपक्रम: श्रेयान् ॥ १७ ॥

(आत्मानुशासन)

विषय रुपी विषय अपथ्य भोजन से उत्पन्न हुआ मोह रुप ज्वर के निमित्त से जो तीव्र स्त्री संभोगरुप तृष्णा धन सम्पत्ति उपार्जन सरक्षणादि लालसा, विलासतादि तीव्र तृष्णा से सहित होने के कारण जिसकी शक्ती उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिये प्राय: सुपाच्य पेय के योग्य अणुव्रतादि सदृश पथ्य प्राथमिक अवस्था में चिकित्सा के लिय अधिक श्रेयस्कर होगी –

बहुश: समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृहणाति ।
तस्यैकदेशविरति: कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

– बालयो –

हियाहिय परिमुक्को पर दव्वे सया अणुरत्तो ।
पर दव्व णासे आऊलो जो सो हवई बालयो ॥ १९ ॥

– फोड –

जो सो विवेय सीलो अप्पादव्वे सया अणुरत्तो ।
पर दव्व विमुत्त कुसलो जो सो हवई फोडो ॥ २० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

He, who is not prepared to adopt the order of saints should be persuaded to enter the life of a virtuous house holder, who practises partical renunciation and gradually prepores himself for the higher orders.

प्रथम भव्यों को समस्त विरति रुप मोक्ष का प्रधान कारणीभूत महाव्रतरुप मुनि धर्म का उपदेश देना चाहिये और ग्रहण करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। यदि वह भव्य इस महान व्रतों को धारण करने के लिये असमर्थ होगा तब एक देशविरति रुप गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये। यदि मुनि धर्म का उपदेश न देकर, मुनि धर्म को स्वीकार करने रुप उत्साह नहीं देकर केवल गृहस्थ धर्म का उपदेश देंगे तब वह मुनि प्रायश्चित का भागी है। क्योंकि गृहस्थ धर्म में सम्पूर्ण विषय कषाय, परिग्रह से विरति नही है, सम्पूर्ण पाप कर्मो से विरति नहीं है निराकुलता रुप धर्म शुक्ल रुप आत्मध्यान भी नहीं होता है, उससे भव्य का आत्म उन्नति में बाधक होता है।

अष्टमूल गुण:-

मद्दु मज्ज मंस विरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरदम्मि ॥ ३५६ ॥

(भाव-संग्रह)

मद्य, मांस, मधु एवं पंच उदुम्बरों को त्याग करना देश विरतियों के ८ मूल गुण है।

मद्यपलमधु निशाशन पंचफली विरति पंचकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा ॥ १८ ॥

(आशाधरकृत सागार धर्मामृत)

१ मद्य त्याग २) मांस त्याग ३) मधु त्याग ४) रात्रि भोजन त्याग ५) पंच उदुम्बर फलों का त्याग ६) त्रैकाल्य पंचपरमेष्ठी भगवान की वंदना ७) जीव दया ८) पानी छानकर पीना। इस प्रकार प्रकारान्तर से ८ मूलगुण है। जो श्रावक उपरोक्त मूलगुणों को पालन नहीं करता है वह श्रावक ही नहीं है। श्रावकों के लिये मद्य, मांस, मधु, पंचउदुम्बर फल, सप्त व्यसन, रात्री भोजन, बिना छना पानी पीना आदि त्याग करना

अनिवार्य है। तथा जीव दया, पंचपरमेष्ठी प्रतिभक्ति, देव-दर्शन, शास्त्र श्रवण, गुरु वंदना, आहार दान, देव पूजा, संयम, तप, अहिंसाणुव्रत, सत्यानुव्रत, अचौर्यानुव्रत, ब्रह्मचर्यानुव्रत, परिग्रह परिमाणु अणुव्रत पालन करना अनिवार्य है तथा अन्याय, अत्याचार, शोषण, लोक विरुद्ध, समाज विरुद्ध, पर निंदा, आत्म प्रशंसा, द्वेष मात्सर्य आदि पापात्मक अशुभ परिणामों को त्याग करके पुण्यात्मक शुभ परिणाम को धारण, पोषण संवर्धन करना चाहिये।

अष्टावनिष्ट दुस्तर दुरिता यतनान्यमूनि परिवज्ये।
जिनधर्म देशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥ ७४ ॥
(पुरुषार्थ सिद्धि)

मद्य, मांस, मधु एवं पच उदुम्बर फल अत्यन्त अनिष्ट कर पाप बंधक, नरक निगोदियादि दुर्गति के कारण आत्मपतन के कारण मानसिक शारीरिक, वाचनिक आध्यात्मिक मलीनता के कारण होने से जो उनको यत्नपूर्वक त्याग करता है वही भव्य सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध मनोभाव वाला होकर जिनधर्म सुनने के लिये, शास्त्र सुनने के लिये शास्त्र पढने पढाने, उपदेश करने का पात्र होता है अन्य नहीं हो सकता है।

श्रावक के षट् आवश्यक :–

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ६ ॥
(पद्मनंदि पंचविंशति)

१) देवपूजा २) गुरुसेवा ३) स्वाध्याय (भाव द्रव्यरुप श्रुताभ्यास) ४) संयम (५ प्रकार प्राणी संयम, मन सयम, इन्द्रिय संयम)

– सौच –

भावि भोग पदात्थे जो ण ठवदि ममत्ति भावं।
तो सोच्च भुणेयव्व ण बहिरंग मत्तेण ॥ २१ ॥

सव्व असुचि बीज लोह कसाय होदि णियमेण।
बीजं णासेण पुणो असुचि ऋक्ख ण हवदि ॥ २२ ॥

५) तप (यथायोग्य इच्छा निरोध रुप अन्तरंग–बहिरंग तप, ६) दान ये गृहस्थों के दैनन्दिन अवश्य करने योग्य कर्तव्य है।

देवपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः।
शास्त्रं परोपकारत्वं मर्त्युं जन्म फलाष्टकम् ॥

१) देवपूजा २) दया ३) दान ४) तीर्थ यात्रा ५) जप ६) तप ७) शास्त्र अध्ययन ८) परोपकार ये मनुष्य जन्म के आठ फल है।

" दाणं पूजा सीलमुववासो चेवि चउव्विहो सावय धम्मो "
(ज. ध. पु. १ पे २१)

१) दान २) पूजा ३) शील ४) उपवास ये चारों श्रावकों के धर्म है।

दाणं पूया मुक्खं सावय धम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जदि धम्मे तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥
(रयणसार)

श्रावकों के अनेक कर्तव्यों में से षट् आवश्यक मुख्य है। उनमें भी दान–पूजा अत्यन्त मुख्य है। यदि श्रावक दान–पूजा नहीं करता है तो वह श्रावक ही नहीं है। उसी प्रकार मुनि धर्म में ध्यान अध्ययन मुख्य है, यदि मुनि ध्यान, अध्ययन नहीं करता है तो मुनि नहीं है।

दाण ण धम्म ण चाग ण भोग ण बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोह कसायग्गिमुहे पडिदो मरिदो ण संदेसो ॥ १२ ॥
(रयणसार)

जो दान, धर्म, त्याग नहीं करता है तथा अनर्गल पूर्वक आशक्ति पूर्वक भोग करता है, परंतु संयम पूर्वक नहीं रहता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी, अज्ञानी है, वह लोभकषाय रुप अग्नि में पतग के समान पडता है, मरता है, संसार में दु,खी होता है।

जिण पूया मुणिदाणं करेदि जो देदि सत्तिरुवेण।
समादिठ्ठी सावय–धम्मी सो होदि मोक्खमग्ग रदो ॥ १३ ॥
(रयणसार)

जो शक्ति-भक्ति अनुसार देव पूजा करता है, मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टी श्रावक धर्म को पालन करने वाला धर्मात्मा मोक्षमार्ग में रत है, निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करने वाला है।

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहुँ ण वि पूज्जिउ जिणणाहु ।
पंच ण वंदय परम गुरु किमु होसइ शिवलाहु ॥

(परमात्म प्रकाश)

आध्यात्मिक आचार्य योगीन्द्र देव बताते है, हे भव्य तू मुनियों को भक्ति पूर्वक दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं किया, पंच परम गुरुओं की सेवा-वंदना-भक्ति आदि नहीं किया तो किस प्रकार तुझे मोक्ष को प्राप्ति हो सकती है।

देवपूजा :-

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देव पूजाय ।
कायव्वा भत्तीए सावय वग्गेण परमाए ॥ ४२५ ॥

(भाव संग्रह)

पुण्य प्राप्ति के लिये देवपूजा निश्चय से प्रथम कारण है इसलिये श्रावक वर्ग अतिशय भक्ति से प्रतिदिन देव पूजा करना चाहिये।

देव पूजा से अशुभ कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है, अतिशय आत्म विशुद्धि होती है, जिससे सम्यग्दर्शन विशुद्ध होता है और उससे सातिशय पुण्य बंध होता है, जो कि स्वर्ग मोक्ष का कारण है, इसलिये योग्य श्रावक मन-वचन-काय शुद्धि पूर्वक द्रव्य-भावात्मक पूजा नित्य करनी चाहिये।

- नपुंसक -

इह परलोग कुसल रहियो भोग रागे अणुस्तो ।
चउविह पुरुसाथ्थ विहीणो नपुंसक होई अण्णाणी ॥ २३ ॥

- सामान्य धम्मो -

रयणत्तयं य धम्मं अणेयंत सियवाय धम्मो ।
धम्मो वत्थु सहावो उत्तमखमादी दस पिहो धम्मो ॥ २४ ॥

जिन दर्शन महिमा: -

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम् ।
दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शन मोक्षसाधनम् ॥
दर्शनेन जिनेंद्राणां साधूनां वन्दनेन च ।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥
वीतरागमुखं दृष्टवा पद्मराग समप्रभम् ।
नैकजन्म कृतं पापं दर्शनेन विनश्यति ॥
दर्शनं जिनसूर्यस्य संसार ध्वान्तनाशनम् ।
बोधनं चित्तपद्मस्य समस्तार्थ प्रकाशनम् ॥
दर्शनं जिनचंद्रस्य सद्धर्मामृतवर्षणम् ।
जन्मदाहविनाशाय वर्धनं सुखवारिधेः ॥
जन्म जन्म कृतं पापं जन्मकोटयामुपार्जितम् ।
जन्म मृत्युजरा रोगं हन्यते जिनदर्शनात् ॥

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण ।
पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिः परंपरा सुहाणं ॥ ७४९ ॥
(भगवती आराधना)

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो बासमब्भएण विणा ।
आराधण मिच्छन्तो आराधण भतिम करंतो ॥ ७५० ॥

अकेली जिनभक्ति ही दुर्गति का नाश करने में समर्थ है, इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है, और मोक्ष प्राप्ति होने तक इससे विपुल पुण्य की प्राप्ति होती है, इससे इन्द्र पद, चक्रवर्ती पद, अहमिन्द्र पद, और तीर्थंकर पद के सुखों की प्राप्ति होती है ॥ ७४३ ॥

जो भगवान की भक्ति-आराधना नहीं करना चाहता है तथा रत्नत्रय सिद्धि रुप फल की इच्छा रखता है, वह पुरुष बीज के बिना धान्य प्राप्ति की इच्छा रखता है, अथवा मेघ के बिना जलवृष्टी की इच्छा करता है ॥ ७५० ॥

तोहि कारणेहि पढम सम्मत्त मुप्पा देति-केइ जाइस्सरा ।
केइ सोऊण, केइं जिणबिंबं दट्ठूण ॥ सूत्र २२ ॥
(ध. पु. ६ पे ४२७)

पूर्वो त पंचेन्द्रिय तिर्यंच तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते है – कितनें ही तिर्यंच जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिंब दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करते है। कधं जिणबिंब दंसण पढम सम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ?

जिणबिंब दंसणेण णिधत्त णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिक कम्मकलावस्स खय दंसणादो। तथा चोक्तं :–

दर्शनेन जिणेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।
शतधा भेदमायादि गिरिर्वज्रहतो यथा ॥ १ ॥

(ध. पु. ६ पे ४२७–४२८)

शंका:– प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है ?

समाधान:– जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रुप भी मिथ्यात्ववादी कर्म कलाप का क्षय देखा जाता हे जिससे जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है। कहा भी है:–

जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप संघात रुपी कुंजर के सौ टुकडे हो जाते है, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकडे हो जाते है।

प्रत्येक कार्य अन्तरंग – बहिरंग कारणों से होता है। सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिये अन्तरंग कारण सम्यग्दर्शन प्रतिबंधक कर्मों का उपशम क्षयोपशम, क्षय, निमित्त है तथा बहिरंग कारण जिनबिंब दर्शन, जाति स्मरण, धर्म उपदेश, देवर्द्धिदर्शन, वेदनानुभवादि है। जिनबिंब अचेतन होते हुए भी मूर्ती की वीतरागता, सौम्यता आदि माध्यम से जो आत्म

– जीव –

अत्थित वत्थुथ पमेयत्त अगुरु लहु भावो।
उप्पाद वह धुव्व सव्व दव्वाण सामण्णो धम्मो ॥ २५ ॥

चेदण णाणं दंसणं सुह अणंत विरीय अव्वावाहं।
णिम्मम णिरापेक्खं जीवाणं उत्तमो धम्मो ॥ २६ ॥

विशुद्धी होती है उसके कारण जो वज्र के समान निकाचित – निधत्ति कर्म भी नष्ट हो जाते है जिस प्रकार वज्रपात से पर्वत भी टुकडे टुकडे हो जाता है ।

निकाचित–निद्धत्ति कर्म :– जो कर्म उदय, उपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण योग्य नहीं हो उसी कर्म को निकाचित कर्म कहते है । वह स्थिति पूर्ण होने पर ही उदय में आकर फल देता है ।

उपरोक्त प्रकार कर्म अकृत्रिम, कृत्रिम अथवा साक्षात भगवान के दर्शन से नष्ट हो जाता है तो सामान्य कर्म की बात क्या है। इसलिये भव्यजीव भक्तिपूर्वक भगवान के दर्शन – पूजा – अभिषेकादि करना चाहिये । यह कोई रुढी अथवा मिथ्यात्व नहीं है और पुण्य बंध का मात्र कारण नहीं है, परंतु साक्षात आत्म विशुद्धी एवं सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये भी कारण है । जिन मंदिर, जिन प्रतिमा, जिनदर्शन, जिनपूजा प्रतिष्ठादि अर्वाचीन पद्धति नहीं है, अन्य परम्परा से आगत नहीं है ।

जिन चैत्य – चैत्यालय का स्वरुप:–

जैनियों के परमपूज्य परमोत्कृष्ट प्रातः स्मरणीय नव देवता है । यथा– १) अरहंत २) सिद्ध ३) आचार्य ४) उपाध्याय ५) सर्व साधु ६) जिन चैत्य ७) जिन चैत्यालय ८) जिनधर्म ९) जिनागम ।

जिन चैत्य एवं जिन चैत्यालय कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनों प्रकार के होते है । जिन चैत्य अर्थात जिनबिंब पंच परमेंष्ठियों का भी होता है ।

अकृत्रिम चैत्य:–

चमर करणाग जक्खग वत्तीसं मिहुण गेहि पुह जुत्ता ।
सरिसोए पंतीए गब्भगिहे सुट्ठु सोहंति ॥ ९८७ ॥ त्रिलोकसार
सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्ह सणक्कुमार जक्खाणं ।
रुवाणि य जिनपासे मंगलमट्ठ विहमवि होदि ॥९८८॥त्रिलोकसार
भिंगार कलस दप्पण वीय ण धय चामराद वत्तमहा ।
सुवइठठ मंगलाणि य अट्ठहिय सयाणि पत्तेयं ॥९८९॥त्रिलोकसार

वे जिन प्रतिमाएँ, चरमधारी, नागकुमारों के ३२ युगलों औ यक्षों के ३२ युगलों सहित पृथक् पृथक् एक एक गर्भगृह में सदृश पंक्ति से भली प्रकार शोभायमान होती है। उन जिन प्रतिमाओं के पार्श्वभाग मे श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वान्ह यक्ष और सानत्कुमार यक्ष के रुप अर्थात प्रतिमाएं है, तथा अष्टमंगल द्रव्य भी होते है। झारी, कलश, दर्पण, पंखा, ध्वजा, चामर, छत्र और ठोना ये ८ मंगल द्रव्य है। ये प्रत्येक मंगल द्रव्य १०८, १०८ प्रमाण होते है ॥ ९८७-९८८-९८९ ॥

तिलोयपण्णत्ति में कहा है :-

सिरिसुददेवीण तहा सव्वाण्ह सणक्कुमार जक्खाणं ।
रुवाणि पत्तेक्कं पडिवर रयणाइ रइदाणि ॥ १८८१ ॥

(चतुर्थ अधिकार)

प्रत्येक प्रतिमा के प्रति उत्तम रत्नादिकों से रचित श्रीदेवी, श्रुत देवी तथा सर्वाण्ह व सानत्कुमार यक्षों की मूर्तियां रहती है।

कृत्रिम चैत्यः-

प्रातिहार्याष्टकोपेतं, सम्पूर्णावयवं शुभम् ।
भावरुपानु विद्धांग, कारयेद बिम्बमर्हता ॥ ६९ ॥

प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं, सिद्धं बिम्बमपीदृशः ।
सूरीणां पाठकानां च, साधूनाम च यथागमम् ॥ ७० ॥

(वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ तृतीय प्रतिच्छेद)

अष्ट प्रातिहार्य से युक्त सम्पूर्ण अवयवों से सुन्दर तथा जिनका

- पुद्गल -

फास रस गंध वण्ण पुरण गलण येव ।
सद्द छाया प्पकास पुग्गल दव्वाणं धम्मं ॥ २७ ॥

- धर्म -

अमुत्त णिच्च सुद्धं लोयायासं प्पमाण द्विदं ।
गई परिणयाणं जीव रुवीणं गमणे णिमित्त धम्मं ॥ २८ ॥

सन्निवेष (आकृति) भाव के अनुरुप है ऐसे अरिहंत विम्ब का निर्माण करें ।

सिद्ध प्रतिमा शुद्ध एवं प्रातिहार्य से रहित होती है आगमानुसार आचार्य, उपाध्याय एव साधुओं की प्रतिमाओं का भी निर्माण करे ।

जिनेन्द्र पूजा विधिः–

द्रव्य सहित भाव पूजाः– लोभ कषाय के उदय के कारण श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर नही पाता है इसलिये वह परिग्रहधारी है परिग्रह के ऊपर अशक्ति ही बंध का कारण है ।

" रत्तो बंधयि कम्मं मुंचदि जीवो विराग सम्पण्णो "

इस सिद्धांतानुसार बाह्य वस्तु में जो आशक्ति है वह बंध का कारण है और वैराग्यभाव, निर्मोहभाव विमुक्ति का कारण है । वैराग्य भाव को प्रगट करने के लिये लोभ कषाय परित्याग पूर्वक द्रव्य पूजा सहित भाव पूजा करे । श्राकक कषायवान, इच्छावान, कामीभोगी होने के कारण उसका मन निरालम्वन ध्यान और पूजा में स्थिर नहीं हो सकता है । यदि स्थिर होता है तो वह काम भोगों के लिये बाह्य द्रव्यों का आवलम्वन क्यों लेता है ? परिग्रह संचय क्यों करता है ? बाह्य परिग्रहों के हानि वृद्धि में सुख-दुःख का अनुभव करता है ।

इसलिये आचार्य ने द्रव्य सहित भाव पूजा करने के लिये कहे है:–

द्रव्यस्य शुद्धि मधिगम्य यथानुरुपं
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः ।
आलम्बनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्
भूतार्थ–यज्ञ–पुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥ ११ ॥

मै यथायोग्य द्रव्य भाव शुद्धि पूर्वक विभिन्न अवलम्वन को लेकर परमपूज्य, परमआराध्य, वीतराग सर्वज्ञ भगवान का भूतार्थ यज्ञ (पूजा) करता हूँ ।

द्वेधापि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम् ।
न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तुपूजितम् ॥ १५ ॥
(अध्याय १२ अमित गति श्रावकाचार)

संसारको जितने वाले जिनेन्द्र देव की द्रव्य और भाव से पूजा करने वाले पुरुष कों यह लोक परलोक में कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है। "सुद परिचिदाणुभूदा सवस्स वि काम भोग वन्ध कहा" काम भोग वन्ध की कथा इस जीव ने सुना, परिचय लिया, अनुभव लिया, रचा, पथा उसमें ही लीन रहा इसिलिये मन उसके ओर ही दौडता है। उस अत्यन्त चंचल अशुभ मन को आत्मा की ओर परिवर्तन करने के लिये प्रशस्त द्रव्यों का अवलम्वन चाहिये। जिस प्रकार बच्चे व बन्दर मनमोहकारी वस्तु को प्राप्तकर उसमें रमायमान हो जाते है उसीप्रकार मन भी उत्तम देव, शास्त्र, गुरु एव उनकी प्रतिकृति (मूर्ती) सुन्दर, सरस, सुगन्धित, प्रशस्त पूजा द्रव्यों के माध्यम से धर्म में रमायमान होता है। यह श्रावक अवस्था से अवलम्वन भूत है। जब श्रावक दृढ होकर मुनि हो जाता है तब उस बाह्य पूजा द्रव्य की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है जब तक श्रावक है तब तक द्रव्य पूर्वक भाव पूजन करना अनिवार्य है ऐसा जिनाज्ञा है।

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स।
णीर घय खीर दहियं खिवउ अणुक्कमेण जिण सीसे॥ ४४१॥
(भावसंग्रह)

ण्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधोदयं च वंदित्ता।
सव लहणं च जिणिंदे कुणउ कस्सीर मलएहिं॥ ४४२॥
(भावसंग्रह)

अभिषेक के श्लोक और उनके मंत्र बोलकर जिन प्रतिमा का मस्तक से पानी, घी, दूध, दही से अनुक्रम से अभिषेक करें, अभिषेक के

– अधम्मं –

अमुत्त णिच्चसुद्धं लोयायासं प्पमाणं द्विदं।
दिठ्ठी परिणयाणं जीव रुवीणं ठ्ठिदि णिमित्तमधम्मं॥ २९॥

– आगास –

अमुत्त णिच्च सुद्धं सव्व वापि महायादव्वं।
सग पर ओगास दाणं आगास दव्वाणं धम्मं॥ ३०॥

पश्चात भक्ति पूर्वक अपने शिर पर गंधोदक को धारण करें उसके बाद केशर, चंदन आदि सुगंधित पदार्थों से जिनेंद्र प्रतिमा का लेपपूर्वक अभिषेक करे ।

जिनेन्द्र भगवान अभिषेक विधि:-

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठयां चतुष्कुम्भयुक् ।
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।
नीरज्याम्बुर साज्य दुग्धदधिभि: सिक्त्वा कृत्तोद्वर्तन
सिक्त कुम्भजलैस्य गन्धसलिलै: सम्पूज्यनुत्वा स्मरेत ॥२३॥

(षष्ठ अधिकार सागार धर्मामृत)

अभिषेक करने की प्रतिज्ञा करके जहां पर भगवान का अभिषेक करना है वहां की भूमि की विशुद्धि करके चतुष्कुंभ से युक्त है कोणा जिनकी ऐसी तथा जिस पर श्री लिखा हुआ है तथा कुश रखा हुआ है ऐसी पीठिका पर (सिंहासन) जिनेन्द्र भगवान को स्थापित करके आरती उतारकर इष्ट दिशा मे अर्थात पूर्व दिशा में स्थित होकर जल, फलरस घृत, दुग्ध, दधि के द्वारा अभिषेक किया है उद्वर्तन अर्थात चंदन का अनुलेपन करके चारों कोण के कलशों से तथा सुगन्धित जल से अभिषेक करे । तथा जल–चन्दनादि अष्ट द्रव्य से पूजा करके और नित्य वन्दनादि विधि से नमस्कार करके अपने हृदय में भगवान को विराजमान करके अपने शक्ति के अनुसार भगवान का ध्यान करें व जप करें ।

कुव्वंते अभिसेयं महा विभूदीहिं ताण देविंदा ।
कंचन कलसगदेहिं विमल जलेहिं सुगंधेहिं ॥ १०४ ॥

(तिलोयपण्णति)

देवेन्द्र महान विभूति के साथ इन प्रतिमाओं का सुवर्ण-कलशों में भरे हुए सुगन्धित निर्मल जल से अभिषेक करते है ॥ १०४ ॥

कुंकुम कप्पूरेहिं चंदन कालागरुहिं अण्णेहिं ।
ताणं विलेवणाइं ते कुव्वंते सुगन्धेहिं ॥ १०५ ॥

(तिलोयपण्णत्ति)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वे इन्द्र कुंकम, कर्पूर, चंदन, कालागरु और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से उन प्रतिमाओं का विलेपन करते है।

कुन्देन्दु सुन्दरेहिं कोमल विमलेहिं सुरभिगंधेहिं।
वर कलम तंडुलेहिं पूजंति जिणिंद पडिमाओ ॥ १०६ ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

ये कुन्द पुष्प व चन्द्रमा के समान सुन्दर, कोमल निर्मल और सुगन्धित उत्तम कलम धान्य के तंदुलों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते है।

सयवंतगा य चंपयमाला पुण्णाय तणाय पहुदीहिं।
अच्चंति ताओ देवा सुरहीहिं कुसुममालाहिं ॥ १०७ ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

वे देव सेवंती, चम्पकमाला, पुंनाग और नागप्रभृति सुगन्धित पुष्प मालाओं से उन प्रतिमाओं की पूजा करते है। १०७

बहु विहर सवंतेहिं वर भक्खेहिं विचित्त रुवेहिं।
अमय सरिच्छेहिं सुरा जिणिंद पडिमाओ महयंति ॥ १०८ ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

ये देवगण बहुत प्रकार के रसों से संयुक्त, विचित्र रुप वाले और अमृत के सदृश उत्तम भोज्य पदार्थों से (नैवेद्य) जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते है।

विप्फुरिद किरण मंडल मंडिद भवणेहिं रयण दीवेहिं।
णियकज्जल कलुसेहिं पूजंति जिणिंद पडिमाओ ॥ १०९ ॥
(तिलोयपण्णत्ति)

— काल —

अमुत्त णिच्च सुद्ध प्पलेय लोयाप्पदेसे ठिदं।
सग पर परिणयाणं णिमित्तं काल दव्वस्स धम्मं ॥ ३१ ॥

(४) लघु द्वादश अनुप्रेक्षा दोहा (हिन्दी)

सब धर्म का सार है सर्व चारित्र का सार।
सर्व ज्ञान का सार है तत्त्वों का विचार ॥

देदीप्यमान किरण समूह से जिन भवनों को विभूषित करनेवाले और कज्जल एवं कलुषता से रहित ऐसे रत्नदीपकों से इन प्रतिमाओं की जापू करते है।

वासिद दियंतरेहिं कालागरु पमुह विविह धूवेहिं।
परिमलिद मंदिरेहिं महयंति जिणिंद बिंबाणि ॥ ११० ॥

(तिलोयपण्णत्ति)

देवगण मंदिर एवं दिमंडल को सुगन्धित करने वाले कालागरु प्रभृति अनेक प्रकार के धूपों से जिनेन्द्र विम्बो की पूजा करते है।

दक्खा दाडिम कदली णारंग य माहुलिंग चूदेहिं।
अण्णेहिं वि पक्केहिं फलेहिं पूंजति जिणणाहं ॥ १११ ॥

दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलों से वे जिननाथ की पूजा करते है।

णिस्सेण कम्मक्खणेक्क हेदुं मण्णंतया तत्थ जिणिंद पूजं।
सम्मत्त विरया कुव्वंति णिच्चं देवा महाणंत विसोहि पुव्वं ।२२८।

(तिलोयपण्णति)

वहांपर अविरत सम्यग्दृष्टी देव जिन पूजाको समस्त कर्मोंके क्षय करने में एक अद्वितीय कारण समझकर नित्य ही महान अनंत गुणी विशुद्धिपूर्वक उसे करते है ॥ २२८

अभिषेक पूजा का फल :-

जलधारा णिक्खेवेण पापमलं सोहणं हवे णियमं।
चन्दनलेवेण णरो जावई सोहग्ग संपण्णो ॥ ४२३ ॥

(वसु श्रा.)

पूजनके समय नियम से जिन भगवान के आगे जलधारा के छोड नेंसे पाप रुपी मैल का संशोधन होता है। चन्दन रस के लेप से मनुष्य सौभाग्य से संपन्न होता है।

जायइ अक्खयणिहि रयणसामिओ अक्खण्टही अक्खोहो।
अक्खीण लहिद जित्तो अक्खय सोक्खं च पावेइ ॥ ४८४ ॥

(वसु.)

अक्षताओं से पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और १४ रत्नोंका स्वामी चक्रवर्ती होता है। सदा अक्षोय अर्थात रोग, शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से संपन्न रहता है और अंतमें अक्षय मोक्ष सुखको पाता है।

कुसुमेहिं कुसुसेय वयणु तरुणी जन णयण।
कुसुम वरमाला वलारणाच्चयदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव॥४८५॥
(व. सु. श्रा.)

पुष्पों से पूजा करनेवाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुखवाला तरुणी जनों के नयनों से और पुष्पों की उत्तम मालाओं के समूह से समर्चित देहवाला कामदेव होता है।

जायइ णिविज्ज दाणेण सत्तिगो कंति-तेय संपण्णो।
लावण्ण जलहिं वेला तरंग संण्णविय सरीरे॥ ४५६॥
(वसु.)

नैवेद्य के चढाने से मनुष्य शक्तिमान, कांति और तेज से सम्पन्न और सौंदर्यरुपी समुहकी वेला (तट) वर्ती तरगों से संप्लावित शरीर वाला अर्थात अतिसुन्दर होता है।

दीवेहिं दीविया सेस जीव दव्व इतच्च सब्भावो।
सब्भाव जणिय केवल पइवतेएण होइणरो॥ ४८७॥
(वसु.)

दीपसे पूजा करनेवाला मनुष्य सद्भावों के योग से उत्पन्न हुए केवलज्ञान रुपी प्रदीप के तेज से समस्त जीव द्रव्यादि तत्त्वों के सदस्य

अनित्य (अनित्स)

राम गये रावण गये, गये तीर्थंकर।
जो आत्मा में स्थिर भये, ताके न हेर न फेर॥

– अशरण –

पार्श्व पर उपसर्ग भये, कोई न रखना हार।
जो अपना आश्रय लहे ताके न मारन हार॥

को प्रकाशित करनेवाला अर्थात केवलज्ञानी होता है।

धूवेण सिसिरयर धवलकित्ति धपलिजयत्तओ पुरिसो।
जायइ फलेहि संपत्त परमणिव्वाण सोक्ख फलगे ॥ ४८८ ॥

धूप से पूजा करनेवाला मनुष्य चंद्रमा के समान धवल किर्ती से जगत्रय को धकल करने वाला अर्थात त्रैलोक्य व्यापी यशवाला होता है फलों से पूजा करने वाला मनुष्य परम निर्वाण का सुख रुप फल पाने वाला होता है।

घंटाहिं घंटा सदाउलेसु पवर च्छण्णमच्छाम्मि।
संकीउइ सुर संघाय सेविओ वर विमाणेसु ॥ ४८९ ॥

जिन मंदिर मे घंटा समर्पण करने वाला मनुष्य घंटाओं के शब्दों से आकुल अर्थात व्याप्त, श्रेष्ठ विमानों मे सुर-समुह से सेवित होकर प्रवर अपसरावों के मध्य में कीश करता है।

छत्तेहिं एयदत्तं भुंजेह पुट्टवी सवत्त परिहिणो।
चामर दाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणवि हेहिं ॥ ४९० ॥

छत्र पूजन करने से मनुष्य शत्रू रहित होकर पथ्वी को एक छत्र भोगता है। तथा चमरों के दान से चमरों के समुहो द्वारा परिविजित किया जाता है, अर्थात उसके उपर चमर ढोरे जाते है। ४९०

अहिसेय फलेण णरो अहिसिंचज्जइ सुन्दसणस्सुवरिं।
खीरोय जलेण सुरिंदप्प मुह देवेहि भत्तीए ॥ ४९१ ॥

जिन भगवान के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के उपर क्षीर सागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है ॥ ४९१ ॥

विजय पडाएहिंणरो संगाय मुहेसु विजइओ होइ।
दक्खंड विजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी य ॥ ४९२ ॥

जिन मंदिर में विजय पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है। तथा षट्खंडरुप भारतवर्ष का निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है।

किं ऽपिएण बहुणा तीसु विलाएसु किं विजं सोक्खं ।
पूजा फलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥ ४९३ ॥

अधिक कहने से क्या लाभ है, तीनो ही लोकमे जो कुछ भी सुख है वह सब पूजाके फल से प्राप्त होता है । इसमे कोई सन्देह नही है ।

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुर्गति निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥ ८ ॥
(पूज्यपाद समाधिभक्तिः)

एकही परम जिनभक्ति भक्त का समस्त दुर्गतियों का निवारण करने के लिये सातिशय पुण्य को संपादन करने के लिये एवं मोक्ष पदवी देने के लिए समर्थ होता है ।

देवाधिदेव चरणे परिचरणं सर्वदुःखनिहरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनी परिचिनु यादादृतो नित्यं ॥ ११९ ॥
(रत्नकरंड)

The worshipping of the feet of the Deva of devas (Holy Tirthankara) the bestower of desired good and the consaner of Cupid's Shatts, is the remover of all kinds of Pain (For this reason it) should be performed reverently every day,

श्रावक को आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और काम वेदना को भस्म करने वाले इन्द्रादिक द्वारा वंदनीय अरहंत भगवान के चरणों में समस्त दुःखो को दूर करने वाली भगवान की पूजा करें ।

– संसार –

संसार है उल्टा यामे सम्यक् सार नहीं ।
अमृतामति से विष झरें है यशोधर अयश फैलाई ॥

– एकत्व –

दो में है बंधन विवाह, दो मे ही संसार ।
एकत्व में सब नशे, पाये सच्चिदानन्द सार ॥

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेंतु चक्रभवनीन्दशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवंच जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ ४१ ॥

(रत्नकरण्ड)

जिनेन्द्र भगवान में सातिशय अनुराग को रखनेवाला जिनेंद्र भक्त सम्यग्दृष्टी जीव अपरिमित प्रतिष्ठा और ज्ञान से सहित इन्द्र समूह की महिमा को प्राप्त करता है। ३२ हजार मुकुट बद्ध राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्नों को प्राप्त करके चक्रवर्ती बनता है। केवल इस प्रकार अभ्युदय सुख का अधिकारी नहीं होता है परतु समस्त लोक से पूजनीय धर्म चक्र के अधिपति होकर अर्थात तीर्थंकर बनकर शेष त्रिलोक का प्रभू स्वरुप सिद्ध भगवान बनकर मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करता है।

अरहंत णमोऽकारं भावेण य जो करेदि पयदमदि।
सो सव्व दुःक्ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

(मूलाचार)

जो उत्कृष्टमतिवाला अरहंत भगवान को भावपूर्वक नमस्कार करता है। वह समस्त दुःख से अचिरकाल से अर्थात अतिशीघ्र मुक्त होकर मुक्त अवस्था का प्राप्त करेगा।

अरिहंत भक्तिमें तीर्थंकर बन्धः-

अरिहंतभत्तीए - खवीद घादिकम्मा केवलणाणेण
ट्ठिदसव्वदा अरहंतणाम। अथवा णिट्ठ विद ट्ठ कम्माणं

घाइदघादि कम्माणंच अरहंतेत्ति सण्णा अरिहणणं पडि दोण्हं भेदा भावादो। तेसु भत्ती अरहंत भत्ती। ताए तित्थयर कम्म वज्झइ। कथमेत्थ सेसकारणाणं संभवो ? बुच्चदे अरहंत वुत्ताणु दाणणु वत्तणं तदणुट्ठाण पासो वा अरहंत भत्तीणाम णच एसा दंसण विसुज्झदादीहि विणा संभवइ, विरोहादो। तदो एसा एक्कार सम्मं कारणं।

॥ धवला प्र ५ से ८९ ॥

अरहंत शक्ति से तीन लोकका क्षुभित करनेंवाला सातिशय पुण्य स्वरुप और परंपरा मोक्ष के लिये निश्चित कारण है इसी प्रकार तिर्थ-नाम कर्म बंधता है। जिन्होंने घातियां कर्म को नष्ट कर केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको देख लिया है। वह अरहंत अथवा ८ कर्मों को नष्ट करनेंवाले सिद्ध और घातियां कर्मो को नष्ट करनेवालों का नाम (अरहंत सकल परमात्मा) है क्योंकि कर्म शत्रू के नाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है उन अरहंतों में जो गुणानुराग रुप भक्ति होती है वह ही अरहंत भक्ति कहलाती है। इस अरहंत भक्ति से तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

शंका:– केवल अरहंत भक्ति में अन्य भावनाओ की संभावना कैसे है ? (क्योंकि १६ भावनाओ से तीर्थंकर नाम कर्म बंधता है। तो केवल अरहंत भक्ति से किस प्रकार बंध हो सकता है ?)

समाधान:– अरहंत के द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठान के अनुकूल प्रवृत्ति करने या उस अनुष्ठान के स्पर्शो को अरहंत भक्ति कहते हैं। और यह दर्शन विशुद्धि आदि के बिना ऐसा संभव नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है। अतएव अरहंत भक्ति तिर्थकर प्रकृति बंध का ११ वां कारण है।

उपरोक्त सिद्धांत से सिद्ध होता है कि जहां अरहंत भक्ति है वहां दर्शन विशुद्धि विनय संपन्नता आदि संपूर्ण भावना का सद्भाव है क्योंकि अरहंत भक्ति जब होती है जब हृदय में सम्यग्दर्शन के बिना यथार्थ अरहंत भक्ति हो ही नहीं सकता है। उपरोक्त समस्त सिद्धांत से सिद्ध होता है। देव दर्शन अरहंत भक्ति सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिये कारण पाप कर्मों की निर्जरा के लिये कारण निवत्ति, निकाचित वज्र

– अन्यत्व –

अन्य सर्वदा अन्य रहे ताते दुःख साधना।
अप्पा सदा अप्पा रहे ताते सुख खजाना ॥

– अशुचि –

सर्व अशुचि की देह गेह सर्व अशुचि का यंत्र।
भक्त वस्तु मल होय स्पर्श वस्तु असार ॥

कर्म के लिये कारण, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, तिर्थंकर प्रकृति के लिये कारण है इसलिय मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए कारण है। इस-लिये आचार्य ने बताया है " वन्दे तद्गुण लब्धये " भक्त ही भक्ति के माध्यम से संपूर्ण कर्म को नष्ट करके भगवान बन जाता है।

" दासोज्हं रटता प्रभो ! आया जब तुम पास।
दे दर्शन ही हट गयो " सोऽह " रहो प्रकासु ॥

" सोऽहं सोऽहं " ध्यावतो रह नहीं सको सकार।
' दीप ' ' अहं ' मम हो गयो अविनाशी अविकार ॥

गुरुपास्तिः- (साधु सेवा)

जैन धर्म रुपी रथ-श्रावक और मुनि चक्र रुपी अवलंबन से गती-शील होता है। उसमे से एक भी चक्र के अभाव में धर्म रुपी रथ आगे नहीं बढ सकता-जब तक जिवंत धर्म स्वरुप मुनियों का सद्भाव रहेगा तब तक धर्म रहेगा, - तब तक श्रावक भी रहेंगे। क्योंकि, " न धर्मो धार्मिकोर्वीना " इसीलिये दूरदृष्टी एवं सूक्ष्मदृष्टी धर्म प्रवर्तकों को एव प्रचारकोने धर्म की स्थिरता एवं धर्म की गतीशीतता के लिये विनय वैयावृत्य, वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण और प्रभावनादि धर्मप्रचार-प्रसार का उपाय रखे है।

सेज्जागासणिसेज्जा उवधिपडिलेहणा उवग्गहिदे।
आहारो सह वायण वि किं चणुत्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥
(भगवती आराधना)

अद्धाण तेण सावयरायणदीरा धे गासिवे ऊमे।
वेज्जावच्चं उत्त सगहणारक्खणो वेदं ॥ ३०६ ॥

शयनस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण इनका शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वाध्याय अर्थात उपदेश (व्याख्यान। करना, अशक्त मुनि का मैळा उठाना, उसे करवट दिलाना बैठाना वगैरह कार्य करना, थके हुए साधू के हात पैर दवाना, नदी से रुखे हुए अथवा रोग पिडीत का उपद्रव विद्या आदि से दूर करना दुर्भिक्ष पिडीत को सुभिक्ष देश में लाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते है।

वैयावृत्य न करने में दोष

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स वहचाय ।
अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झयं चेव कुवंतो ॥३२९॥

आणिगूहिद बलविरओ वेज्जावच्चं जिणो व देसेण ।
जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदी णिद्धम्मो ॥३०६॥

तित्थयराणा कोधो सुदधम्म विराधणा अणायारो ।
अप्पापरो पवयणं च तेण णिजू हिदं होदि ॥३०८॥

भगवती आराधना

समर्थ होते हुए तथा अपने बल को न दिपाते हुए भी जिनोप-दिष्ट वैयावृत्य जो नही करता है यह धर्म भ्रष्ट है ।

जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश, अपना साधु वर्गका व आगमका त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्य न करनेसे उत्पन्न होते है ॥३०६॥

वैयावृत्यका प्रयोजन व फल :-

गुण परिणामो सड्ढा वच्छल्लं भक्ति पत्त लंभोय ।
संधाण तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ॥३०९॥

आणा सजम सखिल्लाक्ष य दाणं च अविदिगिदाय ।
वेज्जा वच्चस्स गुणा पभावणा कज्ज पुण्णाणि ॥३१०॥

भगवती आराधना

गुण ग्रहण के परिणाम श्रद्धा, भक्ति वात्सल्य, पात्र की प्राप्ति विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः संधान, तप, पूजा तीर्थ, अ व्युच्छित्ति, समाधी ॥३०९॥

जिनाज्ञा, संय्यम, सहार्य, दान निर्विचिकित्सा प्रभावना, कार्य निर्वाहण ये वेयावृत्यके १८ गुण है ।

समाध्याधान विचिकित्सा भाव प्रवचन वात्सल्याद्याभि
व्यक्त्यर्थम् ॥ राजवार्तिक ॥ सर्वार्थ सिद्धी ४४२

यह समाधिकी प्राप्ति विचित्साका अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ती के लिए किया जाता है ।

वैयावृत्तीसे तिर्थंकर नामकर्म का बंध :-

साहुणं वेज्जावच्च जोग जुत्तदाए-व्यावृते यत्कियते तद्वे याव् त्यम् । जेण सम्मत्त-णाण-अरहंत-बहुसुद भत्ति पवयण वच्छ ल्लादिणा जोवो जुज्जइ वेज्जावच्चे सो वेज्जावच्च जोगो दंसणविसुज्झदादि तेण जुत्तदा वेज्जावच्च जोग जुत्तदा । ताए विहाए एक्काए वि तित्थयराणा कम्मं बंधइ । एत्थ सेसकार णाणं जहा सभवेण अंत भावो कतव्वो। एवमेंद दसय कारणं ।

साधुओं के वैयावृत्त्य योग युक्तता से तिर्थंकर नामकर्म बंधता है। वैयावृत अर्थात रोगादि व्याकुल साधु के विषय मे जो सेवा औषधादि देना, उपसर्ग, परिषद दूर किया जाता है उसका नाम वैयावृत्त्य है ।

जिस सम्यक्त्व-ज्ञान-अरिहंत भक्ति-बहुश्रुत भवती एव प्रवचन वात्सल्यादि से जीव वैयावृत्त्य मे लगाता हो वह वैयावृत्त्य योग है अर्थात दर्शन विशुद्धतादि गुण है उनसे संयुक्त होते का नाम वैयावृत्त्य योग मुक्तता है इस प्रकारकी उस एकही प्रकारकी वैयावृत्य मुक्ततासे तिर्थंकर नाम कर्म बंधलं है । यहाँ शेष कारणोका यथा संभव अंतर्भाव करना चाहिए । इस प्रकार यह दसवा कारण है।

कुंदकुंद स्वामी प्रवचन सारमे बताये है की, मुनि यो की अपेक्षा श्रावकों का मुख्य कर्तव्य है ।

जो अंतरंगमे अहंकारी, अविनयी हे और जिनकी धमके प्रति, गुरु के प्रति प्रीती नही है वह साधू सेवा नही कर सकता है । वैयावृत्त्यसे अभिमान, अविनयता दूर होता है । ऋजुता, नम्रता कोमलता आदी गुण प्रगट होते है । वैयावृत्त्य अंतरग तप है । एक सतत ज्ञानोपयोगी साधूसे भी वैयावृत्त्य करनेवाला साधू श्रेष्ठ है। क्यों कीं वह स्व पर उपकार करता है । परंतु स्वाध्यायवाला केवल स्वउपकार करता है स्वाध्याय करने वाले पर विपत्ती आयेगी तो उसे वैयावृत्य वाले के मुख तरफ ही देखना पडेगा ऐसा भगवती आराधना ये ३२९ गाथामे कहा है ।

स्वाध्याय :–

स्वाध्याय केवल शद्व आगम अर्थात द्रव्य श्रुतका पढ़ना रटना स्वाध्याय नही है । परंतु द्रव्य श्रुत के माध्यमसे भाव श्रुतद्वारा स्व आत्म द्रव्यका अध्ययन करना, जानना, शोध करना, प्राप्त करना यथार्थ स्वाध्याय है

प्रज्ञातिशय [illegible] रणसंयमस्तपोवृद्धिरतिचार विशुद्धि रित्येवमाद्यर्थः ।

प्रज्ञा मे अतिशय लानेके लिये अध्यावसाय को प्रशस्त करने के लिए परम सवेग के लिये, तपवृद्धिच अतिचार शुद्धि के लिये (संशयोच्छेद व परवादियो की शंकाका अभाव राजवार्तिक) आदिके लिए स्वाध्याय तप आवश्यक है ।

दव्व सुयादो भावं भावदो होइ सव्व सण्णाणं ।
संवेयण वित्ति केवल णाणं तदो भणियो ॥१॥ नय चक

गाहिओ सोसुदणाणें पच्छा सवेयणेण क्रायव्वो ।
जोणहु सुदमवलंबइ सो मुज्झइ अप्प सब्भावे ॥३४ नयचक्र

द्रव्य श्रुतसे भावश्रुत होता है । भावश्रुत से भेद विज्ञान होता है । उससे संवेदन, आत्मसंवित्ति और केवल ज्ञान होता है ॥१॥

पहले श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको ग्रहण करके संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिये । जो श्रुत ज्ञानका अवलबन नही लेता है वह आत्मस्वभावमे मूढ रहता है ।

जिणवयण मोसहमिणं विसय सुह विरेयणं अमिद भूयं । जर मरण वाहि हरण खय करण सव्व दुक्खण ॥ दंसण पाहुड

यह जिन वचन रुप औषधि इंद्रिय विषय से उत्पन्न सुखको दूर करनेवाला है । तथा जन्म मरण रुप रोग को दूर करने के लिए अमृत सादृश है और सर्व दुःखों के क्षय का कारण है ।

शास्त्रं बदोडे शांति सैरने निगर्व नीति मेल्वातु मुक्ती स्त्रीचिते
निजात्म चिंतने निल वेलक तंल्लदा शास्त्रदिं ॥

दुस्त्रीचिंतने दुर्मुखं कलहमुं गर्वं मनंगोंडज ।
शास्त्रं शास्त्र मे शास्त्रिकनला रत्नाकरा धीस्वरा ॥

रत्नाकर शतक

शास्त्रका ज्ञान प्राप्तकर शांति और सहिष्णुता को धारण करना, अहंकारसे रहित होना, धार्मिक बनना, मृदु बाते करना मोक्ष चिंता तथा स्वात्म चिंता मे विरत रहना श्रेष्ठ कर्तव्य है । इसके विपरीत शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर स्त्रियों की चिंता, क्रोध, मान, माया आदिसे विकसित स्पर्धा और अहंकार के उपयोग से शास्त्र शस्त्र बन जाता है । और शास्त्रज्ञ भी शस्त्रधारी हो जाता है । अभिप्राय यह है की, शास्त्र ज्ञान का उपयोग आत्महित के लिये करना चाहिये ॥

जिस स्वाध्याय के माध्यमसे आत्मतत्वका परिज्ञान होता है, हिताहित ज्ञान प्रगट होता है, कषाय इंद्रियोंका दमन होता है, संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है, मोक्ष मार्गमे प्रवृत्ति होती है, वात्सल्य, प्रेम, विनय, सरलता देव, गुरु, शास्त्र प्रति बहुमान, शांति प्रगट होती है । उसको स्वाध्याय कहते है अन्यथा उसका स्वाध्याय केवल द्रव्य स्वाध्याय है जो मोक्ष मार्ग के लिए अकिंत्कर है

संयम :–

जिस प्रकार एक कार के लिए गति चाहिए, प्रकाश चाहिए उसी प्रकार गति रोधक शक्ती–ब्रेक भी चाहिए । ब्रेक नियंत्रण के विना कार बेकार है । उसी प्रकार मानवी जीवनमे उन्नत्ती रुप गति चाहिए, साथ साथ भी इंद्रिय और मनको नियंत्रण करने रुप ब्रेक भी चाहिए नही तो वह मानव भी बेकार है । उस नियंत्रण शक्ती को ही संयम कहते है । " सम्यक् ययो वा सयमः " सम्यक रुप से यम अर्थात नियंत्रण सो संयम है । उस संयमरुपी अस्त्र (सम + यम) के माध्यमसे संसार रुपी यम को नपर कर सकते है । अन्यथा नही। पूर्ण संयमी यमी महामुनी हो सकते है । किंतु श्रावकको भी आंशिक रुप संयम पालन करना आवश्यक ही नही अनिवार्य है । इस लिये श्रावक को देश संयमी कहते है । संयम १२ प्रकारके

है। ५ इन्द्रिय का निरोध एक मननिरोध और षड्काय जीओं का संरक्षण को सयम कहते है।

तपः-

इच्छा आकाश के समान अनत है। जिस इच्छा रुपी आकाश में संपूर्ण विश्व एक सरसो के समान है। जब एकही जीव की इच्छा रुपी खड्डा में यह संपूर्ण विश्व सरसों के दाने के समान है। तो अनंत जीवों के लिए उस सरसों समान विश्व का भाग करने से एक जीव के भाग में कितना प्राप्त होगा। अथवा जिस प्रयार अग्नि के ऊपर घृत डालने से अग्नि बढती जाती है। अग्नि संतुष्ट नहीं होती उसी प्रकार इच्छा रुपी व आशा रुपी अग्नि में परिग्रह रुपी घृत डालने से आशा रुपी अग्नि शांत नहीं होती किंतु बढती ही जाती है। इसीलिये ज्ञानी श्रावक उस इच्छारुपी अग्नि को शांत करने के लिये तपरुपी में पानी डालते है। उसको महान शांती मिलती है। इसलिये "इच्छानिरोध तपः" महर्षियों ने बताया है। वह भी यथायोग्य अतरंग बहिरंग १२ प्रकारका तप धारण करता है।

दानः-

चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय से लोभ कषाय के वशवर्ती होकर श्रावक संपूर्ण बाह्य परिग्रह को त्याग नहीं कर पाता है वह गृह में रह कर असि मषि कृषि व्यापारादि आरंभ करके परिग्रह सचय करता है। भोग उपभोग भी करता है। उसे जो पाप संचय होता है उसे पाप को नष्ट करने के लिये, कषायों की क्षीण करने के लिये, देव, गुरु, शास्त्र के सेवा सरक्षण के लिये आत्म विशुद्धि के लिये सातिशय पुण्य संपादन

- आस्रव -

पानी के प्रवेश तें नाव जैसे डूबे अथाह सागरे।
कर्म के सयोगे जं व बावरा डूबे अपार ससारे॥

- संवर -

पानी के निरोधे यथा नाव मे प्रवेश नहीं करे पानी।
आस्रव द्वारों को निरोध जब जीव सवर भाव ह मणि॥

के लिये और परंपरा से आत्मोत्थ सहज सरल अतींद्रिय के लिये ज्ञानामृत का आस्वादन के लिये १) आहार २) औषध ३) शास्त्र ४) अभयदान शक्ति के अनुसार दान देता है। जो यथाशक्ति दान नहीं देता है वह " दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मेण सावया तेण विणा " इस सूत्र के कारण श्रावक ही नहीं है। पुरुषार्थ सिद्धी उपाय में अध्यात्मिक महर्षि अमृतचंदजी कहते है -

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परान्न पीडयते ।
वितरति यो नाडतिययें स कथं नहीं लोभवान भवति ।।

जो रत्नत्रय एवं मूल गुणादि से सहित और अन्य को पीडा नही देते हुए मधुमक्खीके समान जो आहार ग्रहण करते है उसी प्रकार महान गुण संपन्न महामुनि जब घर पर आते है। उनका जो श्रावक आहार दान नहीं देते है वह कैसे लोभी नहीं है अर्थात वह निश्चय से महालोभी कंजूस है।

दिण्णइ सुपत्त दाणं विसेसतो होई भोग सग्गमही ।
णिवाण सुहं कमसो णिद्दिठ्ठं जिणवरिं देहिं ।। १६ ।।

(रयणसार)

रवेत्तविसेस काले ववियं सुवियं फलं जहां पिडलं ।
होई तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाण फलं ।। १ ।।
इह णियसु सुवित्तबीजं जो ववई जिणुत्तसत्तरवेसेसु ।
सो तिहुवण रज्जफलं भुंजदि कल्लाण पंचफलं ।।

जो भक्तिपूर्वक सुपात्र को दान देता है विशेष से उन्हे भोगभूमी स्वर्गसुख मिलता है और क्रमशःपरम निर्वाण सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वयं जिनेन्द्र भगवान कहे है।

जैसे उत्तम खेत में बोया हुआ उत्तम बीज काल विसेस को प्राप्त होकर विपुल फल को देता है उसी प्रकार पात्र विषेस को दिया हुवा बीज स्वरुप अल्प दान भी काल प्राप्त होने पर स्वर्ग मोक्ष रुपी विपुल फल को प्राप्त करता है।

जो अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धनरुपी बीज को जिनेन्द्र भगवान

द्वारा प्रतिपादित (जिन प्रतिमा – जिन मंदीर जिन गुरु सप्त क्षेत्र में बोता है उसको त्रिभुवनरुपी राज्यफल मिलता है एवं पंचकल्याणक धारी तिर्थंकर पद को प्राप्त करता है।

जो मुनिजुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजाए जिणुवदिद्ध ।
संसार सार सोक्खं कमसो णिव्वाण वर सोक्खं ॥११॥ (रयण.)

जो भव्य मुनिश्वरों के आहार दान के पश्चात अवशेष अन्न को भक्तिपूर्वक खाता है वह संसार के सारभूत उत्तम सुख को प्राप्त करता है। और क्रमशा निर्वाण सुख भी प्राप्त करता है।

सर्वोवांछति सौख्यमेव तनुचत्तन्मोक्ष एवं स्फूटं ।
दृष्टयादित्रय एवं सिद्धयति स तन्निर्गंथ एवं स्थितम् ॥
(पदमनंदी पंच वि. - - - - -)

तदवर्त्तिवंपुरुषोऽस्य वृत्ति रशनात्तद्दीयते श्रावकैःकाले ।
विलडर तरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥ ८ ॥

सब प्राणी सुख की इच्छा करते है, वह सुख स्पष्टतया मोक्षमे ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरुप रत्नत्रय के होनेपर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय साधूके होता है। उक्त साधुकी स्थिति भोजन के निमित्त से होती है। और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल मे भी मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावको के निमित्तसे ही हो रही है।

दानांशः–

तूर्यांशो वा षडंशो वा दशांशो वा निजार्थतः ।
दीयते यातु सा शक्तिर्वर्या मध्या कनीयस ॥
(धर्मरत्नाकर अ० १२)

– निर्जरा –

नाव से नाविक निकाले पानी है यथा हल्का हुये है नाव ।
तथा जीव भी निर्जरे कर्म को आत्मा का विशेष भाव ॥

– लोक –

अनादि अनंत लोको शाश्वतिक याके कर्त्ता न कोय ।
अज्ञान मोह वश जीव भर में करता धरता होई ॥

जो अपने धन में अर्थात दैनिक आय में से चतुर्थ भाव दान देता है वह उत्कृष्ट दानी है जो षष्टांश दान देता है वह मध्यम दानी है। जो दशांश दान देता है वह जगन्य दानी है।

धर्मेस्थैर्यं स्यात्कस्यचिच्चंचलस्य ।
प्रौढं वात्सल्यं बृहणं सद्गुणानाम ।।
दानेन श्लाघा शासनस्यातिगुर्वी ।
दातृणामित्थं दर्शनाचारशुद्धिः ।।

(धर्मरत्नाकर)

दान देने से किसी चंचल धर्म मार्ग से च्युत होते हुए सा धार्मिक की उसमे स्थिरता होती है, धार्मिकों में प्रौढ (अतिशय) वात्सल्य प्रगट होता है। धार्मिको में सद्गुणों की वृद्धी होती है तथा दान देने से जिन शासन की बडी प्रशंसा होती है। इस प्रकार दाता जन के दर्शनाचर की शुद्धि होती है।

औदार्यवर्यं पुण्य दक्षिण्यमन्यत् ।
समशुद्धो बोधः पातकात्स्याज्जुगुप्सा ।।
आख्यातं मुख्य सिद्धधर्मस्य ।
लिंग लोकप्रियस्तद्दातुरेवोपपन्नम ।। १०८ ।।

(धर्मरत्नाकर)

श्रेष्ठ उदारता, पवित्र मृदुता या सरलता, निर्मलता पापसे ग्लानी तथा लोक प्रियता ये अनादि सिद्ध धर्म के चिन्ह कहे गये है और ये सब गुणदाता को ही प्राप्त होता है।

तीर्थोन्नतिः परिणतिश्च परोपकारे ।
ज्ञानादि निर्मल गुणावलिकाभिवृद्धिः ।।
वित्तादि वस्तुविषये च विनाश बुद्धिः ।
सवादिता भवति दानवतात्मशुद्धिः ।। १०९ ।।

(व र.)

दान देनेसे तिर्थकी उन्नती, दाताकी परोपकार परिणती (प्रवृत्ति) ज्ञानादि निर्मल गुण समूह की वृद्धी धन आदि वस्तुओं मे नश्वरता का विचार और दाता की आत्मशुद्धी भी है। ।। १०९ ।।

सीदंति पश्यतां येषां शक्तानामपि साधवः ।
न धर्मो लौकिकोऽप्येषां दूरे लोकोत्तराः स्थितः ॥ ११० ॥
(धर्मरत्नाकर)

दुःखको दूर करने में समर्थ होकर जो श्रावक साधूजन को कष्ट में देखकर भी उनके दुःख को दूर नहीं करते है। उनके लौकिक धर्म भी संभव नहीं है। फिर भला लोकोत्तर धर्म तो उनसे बहुत दूर है। ऐसा समझना चाहिये।

ज्ञानपान ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः ।
अन्नदाना त्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजा द्भवेत ॥

ज्ञान दानसे दानी विशिष्ट क्षायोपशमके माध्यमसे मति श्रुत अवधि मनःपर्याय ज्ञानी होता है। श्रुत केवली होता है। एवं शेष मे केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जाता है। अभय दान से इहलोक परलोक में निर्भय होता है। अन्न दान से इहलोक परलोक में सुखी होता है। औषध दान देने से शारिरीक-मानसिक-आध्यात्मिक रोग से रहित होकर परम स्वास्थ्य रुप अमृत पद को प्राप्त करता है।

यस्यान्नपानैः संतृप्ताः साधवः साधयंत्यमी ।
स्वाध्यायादि क्रिया सार्वी तस्य पुण्यं तदुद्भवम् ॥
(धर्मरत्नाकर)

जिस दाता के अन्न पानी से तृप्त हुए मुनिजन आत्म हितकर सब स्वाध्यायादि क्रियाओं को करते है, उस से उत्पन्न हुआ पुण्य उस

– बोधि दुर्लभ –

जनम मरण मोह राग द्वेष अत्यन्त सुलभ भाई ।
संसार नाशक मोह प्रणाशक सुज्ञान सुलभ होई ॥

– धर्म भावना –

सर्वेच्छा पूरक सर्वार्थ साधक अनंत सुख के दाई ।
तीन लोक के सार चिंतामणी आतम धरम होई ॥
यह विधि द्वादश भावना बल से आत्मा परमात्मा होई ।
दुःख सुख में है समता बल से कर्म कलंक न सई ॥

दाता को प्राप्त होता है ।

दान अभाव से दोष:-

सीदंतो यतयो यदण्यनुचितं किंचिज्जलान्नादिकं ।
स्वीकुर्वंति विशिष्ट भक्ति विकलाः कालादि दोषादहो ।
मालिन्यं रचयंति यज्जिन मतस्यास्थानशय्यादिना ।
श्राद्धानामिदमेति दूषण पदं शक्तानुपेक्षा कृपाय ॥ ॥ ४०१ ॥

(धर्मरत्नाकर)

रोगादिसे पीडित साधूजन विशिष्ट भक्ति से रहित होते हुए काल आदिके दोष से यदि अपने पदके अयोग्य जल व अन्नादिक का स्वीकार करते है तथा अयोग्य वसति व शय्या आदिका ग्रहण करके जिनमत में मलिनता को उत्पन्न करते है तो यह दोष शक्ती होने पर भी उपेक्षा करनेवाले श्रावक पर आता है- इसे श्रावकों का दोष समझना चाहिए ।

दान तीर्थ और धर्म तीर्थ की अपेक्षा तीर्थ दो प्रकारका है । दान तीर्थ के माध्यम से शरीर की रक्षा होती है और शरीर के माध्यम से धर्म पालन होता है । " शरीर माध्यम खलु धर्मशासनम् " धर्म पालन से इहलोक पर एवं अलौकिक सुख मिलता है । इसलिये श्रावकों को धर्मतीर्थ प्रवर्तन के लिये दान देना चाहिये ।

दान पूजादि क्या पाप बंध का कारण:-

शंका:- पूजा दानादिक से आरंभ होने से हिंसा होती है । और उससे पाप बंध होता है । इसलिय दान पूजादिक नही करना चाहिए ।

ननुदधिदुग्ध गंधमाल्यादिना भगवतः पूजाभिदाने पापमप्युपार्ज्यते लेशतः सावद्य सद्भावात् इत्याशक्याह ।

श्री जिनेंद्र भगवान की दही-दूध-गंध-फूल मालादिसे पूजा करने से पाप उत्पन्न होता है क्योंकि उस पूजादिसे (में) सावध है (पापात्मक आरंभादिक)

समाधान:- हे पूजातिशय पूज्य भगवान आपकी पूजा करने से भव्य जीवों को सातिशय महत् पुण्य उपार्जन होता है । यद्यपि पूजादिक सामुग्री लाना, धोना, स्वच्छतादि करने से पाप उत्पन्न होता है तथापि

वह पाप इतना कम है कि, पूजादीसे उत्पन्न पुण्य से उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। वे अपना कार्य करने के लिये अशुभ कर्म फल देनेके लिये असमर्थ हो जाता है। जैसे स्पर्शन इंद्रिय को तृप्त करनेवाले ठंडे पानी से भरा समुद्र मे एक कण विष पडने से उस संपूर्ण समुद्र को वह विष कण दूषित नहीं कर पाता है।

प्रारम्भोऽप्येष पुण्याय देवाद्युद्देशतः कृतः।
सामग्र्यंतर पातित्वा ज्जीवनाय विषं यथा ॥ ३३९ ॥
(धर्मरत्नाकर)

देव, शास्त्र, गुरु के उपदेश से किया गया महान आरंभ भी उसकी सामग्री के अन्तर्गत होने से पुण्य के लिये होता है। जैसे विष इतर सामुग्री से युक्त होने पर जीवन के लिये प्राण रक्षा का कारण भी होता है।

भिन्न हेतुक एवायं भिन्नात्मा भिन्न गोचरः।
भिन्नागु बंधस्तेन स्यात्पुण्यबंधनिबंधनम् ॥ ३४० ॥
(धर्मरत्नाकर)

---

(५) ईशस्तवनम्

सत्यं शिवम् सुन्दरम् चिदानन्दमंगलम
सर्व कर्म रहितम् सर्वगुणः मण्डितम्
परिभ्रमः रहितम् लोक अग्रे संस्थितम्
सदा स्थिरः निष्कम्पं व्यो द्रादः सहितम्
सिद्धः शुद्धः ज्ञायकः बुद्धः विष्णुः महेशः
पुरुः हः शंकरः स्तुत्यः पूज्यः श्रीधरः
एकानेकः ईश्वरः सूक्षस्थूलः व्यापकः
आदिअन्त रहितम् आत्ममध्ये संस्थितम्
देह मनः रहितम् ज्ञान सुखं सहितम्
राग द्वेष रहितम् शम शान्ति शायितम्
स्वच्छं सौम्यः गम्भीरम् आत्मभावा स्वरुपम् ॥

इस आरंभ का चूंकी हेतु भिन्न स्वरुप, भिन्न विषय, भिन्न संबंध भी भिन्न है। इसलिये वह पुण्य बंध का कारण होता है।

लोभादि हेतुकः पापारंभो गेहादि गोचरः।
पापानुबंधी संत्याज्यः कार्योऽन्यः पुण्य साधनः॥ ३४१॥
(घ. रत्नाकर)

लोभ के कारण जो गृह कुटुंबादीके विषय मे आरंभ किया जाता है वह पाप का बंधक होने से छोडने के योग्य है। परंतु दूसरा जिनगृह व जिनप्रतिमा के निर्माणादि तथा आहार दानादि विषयक आरंभ पुण्य का बंधक होनेसे आचरणीय है।

धर्मारंभस्तस्य रज्यति जनः कितीः पराजायते।
राजानोऽनुगुणा भवंति रिपवो गच्छंती साहायकम्॥
चेतः कांचन निवृत्ति च लभते प्रायोऽयमलाभःपरः।
पापारंभ भरा घनार्थं विरतिश्चेति प्रतिता गुणाः। ३४२॥
(घ. रत्नाकर)

जो भव्य धर्म के निमित्त आरंभ मे निरत होता है, उससे लोग प्रेम करते है। उसे उत्तम किर्ती का लाभ होता है, राजा उसको अनुकूल होता है, शत्रू सहाय्यक होता है। उसका चित्त किसी अभूतपूर्व शांति को प्राप्त होता है। उसे प्रायः बहुत धन का लाभ होता है। तथा वह प्रचूर पापारंभ से परिपूर्ण अनर्थोंसे -निरर्थक कर्मोंसे विरक्त होता है। इस प्रकार धर्मारंभ भी तत्पर भव्य के ये प्रसिद्ध गुण हुआ करते है।

न मिथ्यत्वात्प्रमादाद्वा कषायाद्वा प्रवर्तते।
श्राद्धो द्रव्यस्तवे हेन तस्य बंधोऽस्ती नाशुभः॥ ३४३॥

श्रावक चूंकि मिथ्यात्वसे, प्रमादसे, अथवा कषायसे द्रव्यस्तव मे पूजा-प्रतिष्ठा एवं दानादिरुप बाह्य संयम मे प्रवृत्त नही होता है, इसलिये इसको अशुभ का बंध नही होता है से करना चाहिये।

कृष्यादि कर्म बहुजंगय जंतुघ्नति।
कुर्वंति ये गृह परिग्रह भोगसक्ताः॥

धर्माय रंधनकृतां किलपापमेषा ।
मेवं वदन्नापि न लज्जित एव दुष्टः ॥
(धर्मरत्नाकर)

जो गृहस्थ घर, परिग्रह, तथा भोगोंमे आसक्त होकर बहुतसे त्रस जीओं के घात के कारणभूत खेती आदिक कार्यो को करते है उन्हे धर्म के लिये भोजन के तैयार करने मे पाप का भागी कहनेवाले दुपर को लज्जा नहीं आती ? (तात्पर्य मुनियोका आहार देने के लिए जो आरंभ होता है उससे पाप अल्प और पुण्य महान होता है अतः ऐसे आरंभ का निषेध करना अनुचित है ।

एवं विधस्याप्य बुधस्य वाक्यं सिद्धांत वाह्यं बहु बाधकं च ।
मूढा दृढ श्रद्धधते कदर्याः पापे रमंतेऽमतयाः सुखेन ॥
(ध. रत्नाकर)

जो अज्ञानी जन लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार बोलनेवाले मूर्ख के भी आगमबाह्य और अतिशय बाधक वचनपर स्थिर श्रद्धा करते है वे दुर्बुद्धि पाप मे आनंद से रममाण होते है ऐसा समझना चाहिए ।

पुण्य पापः–

शंकाः– भले पूजादी से पाप बंध से बच सकते है किंतु पुण्य बंध से नहीं बच सकते है । पुण्य भी संसार का कारण है । यथा कम्ममसुहं

कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसील ।
किह त होदी सुसीलं जं संसार पवेवेदि ॥ १४५ ॥
(समयसार)

अशुभ कार्य कुशील पापरुप है । शुभ कर्म पुण्य सुशील स्वरुप है ।

---

(६) अद्वितीय वस्तु

वीतरागान्नापरो देवः आगमन्नापरो वेदः ।
निर्ग्रन्थान्नापरो गुरुः अहिंसान्नापरो धर्मः ॥ १ ॥
न ज्ञानात् परो ज्योतिः न अज्ञान समं तमः ।
न समता समं सुखं न तृष्णात्परो दुःखम् ॥ २ ॥

ऐसा साधारण जन कहते है। परंतु शुभ कार्य सुशील कैसे है। जो की संसार रुप कारागार में प्रवेश करने के लिये कारण है।

जई भणइ कोवि एवं गिह वावारेसु वह माणोवि।
पुण्णे अम्हण कज्जं जं संसारे सुवाडेई ।। ३८९ ।।

(भावसंग्रह)

गृहवास मे रहते हुए भी और गृह व्यापार मे प्रवृत्त होते हुए भी कोई कहता है की हमको पुण्य नही चाहिये क्योंकी पुण्य संसारमे गिराने वाला है।

समाधान:–

मेहुणसण्णारुढो मारइ णवलक्खसुहुम जीवाई।
इद जिणवरेहि भणियं बज्झंतर णिग्गंथ रुवेहि ।। ३९० ।।

(भावसंग्रह)

गेहे वट्ट तस्स य वावरसयाइ सया कुणंतस्स।
आसवइ कम्ममसुहं अट्टर ठेउट्टे पवत्तस्स ।। ३९१ ।।

जाम ण छडइ गेहं तामण परिहरइ इंतयं पावं।
पावं अपरिहतो हेड पुण्णस्स भाचयउ ।। ३९३ ।।

उपरोक्त कुशंका का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर देवसेन नें नय एवं अवस्थाओं का अवलंवन लेकर स्याद्वाद पद्धति से उसका समर्थन एवं आगतिक उत्तर दिये है।

बाह्य अभ्यतर ग्रंथों से रहित जिनेंद्र भगवान ने बताये है की एक वार मैथुन संज्ञासे सहित होकर मनुष्य जव भोग करता है तव लिंग और योनि के लिये संघर्षण से ९ लाख पंचेद्रिय मनुष्य जातिय लब्ध्य पर्याप्तक जीवों का घात करता है।

पहले जीव मैथुन मोह कर्म के उदय से निर्मल ब्रह्मचर्य रुपी आत्म स्वरुप का घात करता है। उस समय जिस प्रकार सरसों से भरा हुआ पात्र में संतप्त लोह शलाका डालने पर सरसों जल जाते है उसी प्रकार योनी गत ९ लाख ढब्ध्य पर्याप्त मनुष्य जीव भी जल जाते है।

गृह मे रहते हुए हजारो गृहव्यापारोंके सदा करते हुए अत्यन्त अशुभ आर्द्र रौद्र परिणाम से अशुभ कर्म का आस्रव करता है जो कीं एकांत से संसारका कारण होने से अत्यन्त हेय स्वरुप है।

जब तक आर्द्र-रौद्र ध्यानोंका निवासस्वरुप गृहवास को त्याग नहीं करते है तब तक अत्यंत इन पापों का त्याग नही हो सकता है। यदि पाप का त्याग न होता है तो पुण्य कारणों को मत छोडो।

पुण्यं कुरुत्व कृतपुण्यमनीहशोऽपि।
ना पदवोऽभिभवति प्रभवेच्च भत्यै॥

संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः।
पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम्॥ ३१॥
(आत्मानुशा.)

हे भव्य जीव! तु पुण्य कर्म को कर, क्योंकि पुण्यवान प्राणी के ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते है। इतना ही नही बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये संपत्तीका साधन बन जाता है। देखो, समस्त संसार को संतप्त करनेवाला भी सूर्य कमलों में विकासरुप लक्ष्मी को ही करता है।

यथांगमध्यक्ष सुखे हि धर्मस्तथा परोक्षऽपिच मोक्ष सौख्ये।
भोगाय भोगादी सुखाय धर्मो मित्रादि यत्नोऽपि निमित्तमात्रम्।१३
(धर्म रत्नाकर)

धर्म जैसा प्रत्यक्ष सुखका कारण है वैसे ही वह परोक्ष स्वरुप मोक्षसुख का भी कारण है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मित्रादिकों का यत्न भी निमित्तमात्र है।

रत्नत्रय समं धनं णमोकार समं मंत्रं।
आत्म तीर्थं समं तीर्थं न भूतो न भविष्यति॥ ३॥

आत्मविद्या समं विद्या आत्महिंसा समं हिंसा।
आत्ममित्र समं मित्रः न त्रिकाल लोके सन्ति॥ ४॥

पुण्य का लक्षण:–

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् । (सर्वार्थ सिद्धि)

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है ।

यस्तु शुद्धात्म भावना साधनार्थं बहिरंग व्रत तपश्चरण ।
दानपूजादिकं करोति स परंपराया मोक्षं लभते इति भावार्थ ।।

शुद्धात्माभावना को सिद्ध करने के लिये अथवा प्राप्त करनें के लिये बहिरंग व्रत तपश्चरण, दान पूजादिक को जो करता है वह परंपरा से मोक्ष को प्राप्त करता है ।

(समयसार १५ म. गा. जयसेनाचार्य तात्पर्यवृत्ति)

पावागम दाराइं अणाइरुवट्ठि याइं जीवम्मि ।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंतेकड सदोसो ।। ५७ ।।

(जय धवला)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है तब तक जीव अनादि काल से बंध ही करता है । सम्यग्दर्शन होने के पश्चात ही सातिशय पुण्य का आश्रव होता है । जीव मे अनादि काल से पापाश्रव के द्वार स्थित है । उनके रहते हुए जो जीव शुभाश्रव द्वार का उद्घाटन करता है अर्थात पापाश्रव के कारणभूत मिथ्यात्व, विषय, कषाय, हिंसादि त्याग करके शुभाश्रवके कारण भूत सम्यग्दर्शन, दया, दानादि में प्रवृत्त होता है । वह कसे सदोष हो सकता है ? अर्थात कभी भी नहीं हो सकता है । इस–लिये प्राथमिक जीव को परंपरा से मोक्ष के साधनभूत पुण्य को निदान रहित होकर सतत उपार्जन करना चाहिये ।

सालम्बन एवं निरालम्बन का ध्यान:–

शंका:– अवलम्बन ध्यान से पुण्य होता है और अशुभ ध्यान से पाप होता है ये दोनों संसार के कारण है इसलिये दोनों विकल्पों से उपरम होकर शुद्धात्मानुभूतिरुप निरालम्ब ध्यान क्यों नहीं करना चाहिये ?

समाधान:–

जो भणइ कोई एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाण ।
सुद्धं च णिरालम्बं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥ ३८२ ॥
(भाव-संग्रह)

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुण ठाव जाणिं झाणाणि ।
तह्मा स देस विरओ मुक्खं धम्मं ण ज्झाएई ॥ ३८३ ॥
(भाव-संग्रह)

जो कोई कहता है कि गृहस्थों को निश्चल निरालम्ब, शुद्ध ध्यान होता है वह यतियों के आगम को नहीं जानता है दृष्टीवाद अंग में जो गुणस्थान को लेकर ध्यान का वर्णन है उससे सिद्ध होता हे वि देश विरत पंचम गुणस्थान श्रावकों को मुख्य (उत्कृष्ट) धर्म ध्यान नहीं होता है ।

गृहस्थों को उत्कृष्ट धर्म ध्यान नही होने का कारण:-

किं ज सो गिहवन्तो बहिरंतर गंथ परिमिओ णिच्चं ।
बहु आरंभ पउत्तो कह झायइ सुद्ध मप्पाणं ॥ ३८४ ॥
(भाव-संग्रह)

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे ।
ज्झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥ ३८५ ॥
(भाव-सग्रह)

गृहस्थ सतत बाह्य धन धान्य, स्त्री-पुत्र परिग्रह एवं कामक्रोधादि अन्तरंग परिग्रह से वेष्टित रहता है । कृषि व्यापारादि आरंभ से लीन रहता है इसी प्रकार बाह्य विषय मे लीन रहनेवाला गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार कर सकता है अर्थात नहीं कर सकता ।

न धर्मकल्पवृक्ष समं तरुं
न भावतीर्थं समं अस्ति तीर्थं ।
मनसमानं नान्य चंचलास्ति
आत्मशक्ति समं न शक्तिमस्ति ॥ ५ ॥

विवेक समं न राजहंसः मधुर वचन समं नहि पिकः ।
गुण ग्राहक समं मधुमक्षिः निन्दक समं नही गृद्धपक्षिः । ६ ॥

गृहस्थ व्यापार को करता हुआ उसका मन, इंद्रियों, भाव उसमें ही तल्लीन रहता है जिस समय मे वह ध्यान करने के लिये आंख बन्द कर बैठता है उसके सामने सम्पूर्ण संसार-व्यापार मनरुपी चल चित्र के परदे पर अंकित होते है। वह उस समय मे हाथ में तो माला फिराता है और मन बाजार मे घुमाता है।

ख पुष्पमथवा शृंगं स्वरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिगृहाश्रमे ॥ १७ ॥

(ज्ञानार्णवः)

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते है। कदाचित् किसी देश वा काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परंतु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होना किसी देश वा काल में संभव नहीं है ॥१७॥

अप्रमत्त गुणस्थान में मुनि को निरालम्ब ध्यान होता है:-

जं पुण वि णिरालम्बं तं झाणं गयपमाय गुण ठाणे ।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिण लिंग रूवस्स ॥ ३८१ ॥

(भाव-संग्रह)

जो गृह त्याग करके निर्ग्रन्थ जिनलिंग को धारण किया है इसी प्रकार अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनियों को निरालम्ब ध्यान हो सकता है गृहस्थों को नहीं।

अरसमरुवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीद मणिद्दिट्ठ संठाणं ॥ १२७ ॥

(पंचास्तिकाय)

अलिंगग्गहणं यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन-ज्ञानसमुत्पन्न परमानंदरुपानुकूलत्व सुस्थित वास्तव सुखामृतजलेन पूर्णकलशवत्सर्व प्रदेशेषुभरितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवतीत्यलिंगग्रहणः

(श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः)

गाथार्थः– शुद्ध आत्मा रस रुप, गंध रहित है। संसारी जीव के समान शुद्ध जीव प्रगट नहीं है इसलिये अप्रगट है। चैतन्य गुण से पूर्ण है शब्द रहित है, इन्द्रियादि चिन्हों से ग्रहण करने में अयोग्य है, निराकार है।

टीकार्थः–रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान से समुत्पन्न परमानंद रुप अनाकूलत्व सुस्थत, वास्तविक, सुखामृत जल के द्वारा पूर्ण कलश के समान सर्व प्रदेश में भरे हुए अवस्था को प्राप्त परम मुनियोंको जैसे शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार अन्यों को शुद्धात्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है। किंतु अनुमान लक्षण के द्वारा परोक्ष ज्ञान से व्यवहार नय से धूम से अग्नि का ज्ञान जैसे होता है उसी प्रकार आत्मा का परोक्ष ज्ञान परमयोगी (ध्यानावस्थापन्न मुनि) को छोडकर यथा योग्य अन्यों को होता है। जैसे दूरस्थ पर्वतादि के ऊपर धूम अग्नि का साक्षात् दर्शन नहीं होता है परतु बिना अग्नि से धूम नहीं होता है इस न्याय के अनुसार अनुमान से ज्ञात होता है। वहां पर अग्नि है इसी प्रकार गुरु के उपदेश से, शास्त्राध्ययन, मनन, चिंतन, अनुप्रेक्षा से परम मुनि को छोडकर अन्यों को अशुद्धात्मा का अनुमान से ज्ञान होता है।

उपसंहारः–

लहिऊणदेस संजम सयलंवा होइ सुरोत्तमोसग्गे।
मोत्तूण सुहे रम्मे पुणो वि अवयरइ मणुयत्ते ॥ ५९६ ॥
तत्थ वि सुहाइं भुत्ता दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो।
सुक्कज्झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्झेइ ॥ ५९७ ॥

जो देश संयम को अर्थात श्रावक के व्रतों का पालन करता है। अथवा मुनिधर्म को पालन करता है उस सातिशय पुण्य के कारण उत्तम स्वर्ग में जन्म लेता है वहां पर रम्य, मनोहर भोगों को भोगकर

सुगुण समं नहि गन्धमस्ति न वीर्य समं प्रतापमस्यि।
न रागसमानं बन्धनमस्ति न क्रोध समानं अनलमस्ति ॥ ७ ॥

विषयसमानं विषं मोह समानं रिपुः।
कुभाव समानं हिंसा त्रैलोक्य मध्ये नहि ॥ ८ ॥

पुनः उत्तम मनुष्य को प्राप्त होता है। वहां पर उत्तम भोग को भोगकर पूर्व संस्कार के कारण सातिशय पुण्य के प्रभाव से दीक्षा लेकर मुनिव्रत को धारण कर शुक्ल ध्यान को प्राप्त करके कर्म नष्ट करके सिद्धगति को प्राप्त करता है इसी प्रकार गृहस्थ के व्रत से सातिशय पुण्य प्राप्त होता है, पापों का संवर निर्जरा होती है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।

७ वां गुणस्थान-सकल सयमी-मोक्ष मार्ग के उत्कृष्ट यात्री:-

जब भव्य सम्यग्दृष्टी देश संयम रुपी पुरुषार्थ से कर्म शक्ति को ह्रास करके आत्मशक्ति की वृद्धि करता है तब उसकी मोक्ष मार्ग की यात्रा तीव्र हो जाती है। तब वह अवशेष बाह्य परिग्रहों को पूर्णरुपसे त्याग सहित अन्तरंग परिग्रह को त्याग कर वह जिनेन्द्र भगवान के यथा जात रुप को धारण करता है। वह तीर्थंकर का लघुनंदन बन जाता है।

वत्तावत्तपमादे जो णिवसइ पमत्त संजदो होइ।
सयल गुणसील कलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ६०१ ॥
(भाव-संग्रह)

जो महाव्रतधारी मुनि व्यक्त अव्य त प्रमाद से सहित है, सर्व गुण शील मण्डित है, चित्रलाचरण से सहित है (प्रमाद के कारण आचरण मे मिश्ररुप परिणाम) उनके प्रमत्तविरत ६ ठा गुणस्थान होता है।

मुनि का स्वरुप:-

णाह होमि परेसि ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिणिंदो जादो जध जादरुव धरो ॥ २०४ ॥
(प्रवचनसार)

मै दूसरों का नहीं हूँ पर मेरे नहीं है इसलोक मे मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चय करके जितेन्द्रिय होता हुआ यथा जात रुप धारी निर्ग्रन्थ मुनि बन जाता है।

शंका:- आत्म, द्रव्य, त्याग, आदान, व्रत, अव्रत, संकल्प विकल्प से रहित है। तब इसी प्रकार बाह्य द्रव्यों अर्थात् संसार स्त्री कुटुंब का त्याग एवं व्रतों आदि का पालन रुपी संकल्प विकल्प क्यो करना चाहिये?

समाधान:-

"पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खं परिमोक्खं" ॥ २०१॥

(प्रवचनसार)

यदि सम्पूर्ण दुःख से प्रकृष्ट रुप से विमुक्त होना चाहते हो तो श्रामण्य दीक्षा को अंगीकार करो। अन्यथा मोक्ष नहीं मिल सकता है।

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसाय अमग्गया सव्वे ॥ १० ।

(अष्टपाहुड)

परम जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित अचेलकत्व एव पाणिपात्र स्वरुप को प्राप्त करो। क्योंकि ये ही प्रकृष्ट मोक्ष का प्रकृष्ट मार्ग है शेष मार्ग उन्मार्ग है, मिथ्या मार्ग है।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धि चरणस्य सिद्धौ।
बुद्ध्वेति कर्मा विरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥१३॥

(अमृतचन्द्रटीका)

द्रव्य की सिद्धी में चरण की सिद्धी है। और चरण की सिद्धी में द्रव्य की सिद्धी है ज्ञान से आत्मविशुद्धि होती है उससे विवेक प्रगट होता है हेय को त्याग करता है, उपादेय को ग्रहण करता है, बाह्यद्रव्यों से उपेक्षा भाव धारण करता है। आत्म स्वरुप को जानने के बाद ज्ञानी आत्म स्वरुप से विरोध कार्य अर्थात आचरण नहीं करता है बाह्य कर्मों से विरक्त होकर आत्मशुद्धि के लिए चारित्र पालन करता है। जब तक

नहि नहि अमृत अहिंसा सम क्वचित्
नहि नहि भोजन सुज्ञान समं क्वचित।
नहि नहि व्यापार सुध्यान समं क्वचित्
नहि नहि सुवीरः मुमुक्षसमं क्वचित् ॥ ९ ॥

विनव समं न नीति स्वाध्याय समं तपः
स्वरुचि समं स्वादः प्रेम समानं बन्धः।
न क्षमा समं शस्त्रं लोभ समानं पापं
धैर्य्यं समानं शक्तिः त्रैलोक्येनान्य अन्य ॥ १० ॥

आत्म अविरुद्ध चारित्र पालन नहीं करेंगे तब तक सर्व कार्य से निवृत्त होकर आत्मोपलब्धि रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते है।

मुनियों का कर्तव्यः–

झायइ धम्मज्झाणं अट्ठं पि य णोकसाय उदयाओ।
सज्झाय भावणाए उवसामइ पुंणु वि झाणम्मि ॥ ६०३ ॥
(भाव-संग्रह)

मन धर्मध्यान को धाता है कभी कभी तो कषाय के उदय से आर्त ध्यान भी हो जाता है। उस आर्त्तध्यान को उपशमन के लिये स्वाध्याय, अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करते है। प्रमादवशतः मूल गुण उत्तर गुण में अतिचार आदि लगने पर निंदा, गर्हा प्रतिक्रमणादि करता है। जब मन धर्मध्यान मे स्थिर नहीं रहता है, तब स्वाध्याय स्तुति वंदनादि करता है।

शंकाः– मुनि गुहादि क्रिया को छोडकर मूलगुण रुप क्रिया को करता है। क्रिया की अपेक्षा दोनों समान होनें से बंध भी समान है। अशुभ को छोडकर अहिंसाव्रत देववंदनादि शुभ क्रियाओं से पुण्य बंध होता है क्योंकि शुद्ध की अपेक्षा शुभ अशुभ है बन्ध की अपेक्षा पुण्य-पाप समान है। मुनि धर्म ही बन्ध स्वरुप है। और बन्धस्वरुप होनें के कारण संसार का कारण है।

समाधानः–

सेतु सुद्धो भावो तस्सुवलभो य होइ गुणणे।
पणदह प्रमाद रहिये सयलवि चारित्त जुत्तस्स ॥ ६ ॥
(भाव-संग्रह)

शुद्ध भाव आत्म का स्वरुप होने से अत्यन्त उपादेय एवं ग्रहण करने योग्य है। इस शुद्ध भाव की प्राप्ति १५ प्रमाद से रहित सकल-चारित्र से शोभित महामुनियों को अप्रमत्तगुणस्थान आदि मे होती है।

छट्ठमए गुणठाणे वट्टंतो परिहरेइ छावासं।
जो साहु सो ण मुणई परमायमसार संदोह ॥ ६०६ ॥
(भाव-संग्रह)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अहव मुणंतो छंडइ सव्वावासइं सुत्तबद्धाइं ।
तो तेण होइ चत्तो सुआयमो जिनवरिदस्स ॥ ६०७ ॥
(भाव-संग्रह)

जो ६ ठा गुणस्थान मे प्रवर्तन करते हुए देव वंदना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रतिक्रमणादि का त्याग करता है वह परमागम के रहस्य को नहीं जानता है । अथवा जानता हुआ भी सूत्र निबद्ध आवश्यकों का त्याग करता है वह जिन भगवान द्वारा प्रतिपादित आगम को ही त्याग किया । और जिनागम के त्याग के कारण सम्यक्त्व को ही त्याग कर दिया इसलिये वह मिथ्यादृष्टी है । इसलिये जब तक मन निश्चल रुपसे निश्चल ध्यान नहीं होता है तब तक षट् आवश्यक क्रिया को व्रतसहित पालन करना चाहिये ।

यम नियमों का फलः-

णाणादिरयण तियमिह सज्झं तं साधयंति जमणियमा ।
जत्थ जमा सस्यदिया णियमा णियतप्प परिणामः ॥ २ ॥
(मूलाचार कुंद कुंदा)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रुप साध्य है । यम और नियम इस रत्नत्रय रुप साध्य को सिद्ध करनेवाले है । साधन के बिना साध्य सिद्धि नहीं होती है । इसलिये महाव्रतादि यम सामायिकादि नियम के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं हो सकती है । इसलिये मोक्ष के लिये

स्वाधीन सुखं परमेव सुरणं
भोग समं रोग न अन्य क्वचित् ।
रत्नत्रय धारी समं न श्रीमान्
भारवाहि पशु रेव धनवान् ॥ ११ ॥

– नर पशुः –

धर्मः विवेकः नीति ज्ञानं हीन
वात्सल्य बन्धुत्व समता हीन ।
मनुष्य समानं न पशुरस्ति
परोपकारी पशुरेव श्रेष्ठः ॥ १२ ॥

व्रतादि अनिवार्य है। जो महाव्रतादि आजीवन पालन किया जाता है उसे यम कहते है। सामायिकादि अल्पकालावधि होने से यम कहलाते है।

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्व संजदे सिरसा।
इह पर लोग हिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

(मूलाचार) सि. च. वसुनन्दी टीकाकार

इह शब्दः प्रत्यक्षवचनः परशब्द उपरतेन्द्रिय-जन्म वचनः लोक शब्दः सुरेश्वरादि वचनः। इह च परश्चेहपरौ तौच तौ लोकौ च इह पर लोकौ ताभ्यांतयोर्वा हितं सुरेश्वर्यपूजा सत्कार चित्त निवृत्तिफलादि तदेवार्थः प्रयोजनं फलं येषां ते इहपरलोक हितार्थास्तान् इह लोक परलोक सुरेश्वर्यादि निमित्तान्।

इहलोके पूजां सर्वं जनमान्यतां गरुतां सर्वजनमैत्रीभावादिके च लभते मूलगुणानाचरन्, परलोक च सुरैश्वर्यतीर्थंकरत्वं चक्रवर्ती बल देवादिकत्वं सर्वजनकान्त-तादिकं च मूलगुणानाचरन् लभते इति। मूलगुणान् सर्वोधर गुणधारतां गतानाचरणविशेषान्।

'इह' शब्द प्रत्यक्ष को सूचित करनेवाला है 'पर' शब्द इन्द्रियातीत जन्म को कहनेवाला है और 'लोक' शब्द देवों के ऐश्वर्य आदि का वाचक है।

'हित' शब्द से सुख, ऐश्वर्य पूजा सत्कार और चित्त की निवृत्ति फल आदि कहे जाते है और 'अर्थ' शब्द से प्रयोजन अथवा फल विवक्षित है। इस प्रकार से इहलोक और परलोक के लिये अथवा इन उभय लोकों में सुख ऐश्वर्य आदि रुप ही है प्रयोजन जिनका, वे इहलोक पर हितार्थ कहे जाते है। अर्थात ये मूल गुण इहलोक और परलोक मे सुख ऐश्वर्य आदि के निमित्त है। इन मूलगुणों का आचरण करते हुए जीव इस लोक मे पूजा, सर्वजन से मान्यता गुरुता (बड़प्पन) और सभी जीवों से मैत्री भाव आदि को प्राप्त करते है तथा उन मूलगुणों को धारण करते हुए परलोक में देवों के ऐश्वर्य, तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती, बलदेव, आदि के पद और सभी जनों मे मनोज्ञता, प्रियता आदि प्राप्त

करते है। एसे मूलगुण जो कि सभी उत्तर गुणों के आधारपने को प्राप्त आचरण विशेष है।

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा वाएव परं लहणि सोक्खं ॥ २५४ ॥
(प्रवचनसार)

तपोधनः शेषतपोधनानां वैयावृत्यं कुर्वाणा सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्यं कुर्वन्ति। वचनेन धर्मोपदेशं च। शेषमौषधान्नापानादिकं गृहस्थानामधीन तेन कारणेन वैयावृत्यरुपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः तपोधनानां गौणः। द्वितीयं च कारणं निर्विकारचिच्चमत्कारभावना प्रतिपक्षभूतेन विषय कषाय निमित्तोत्पन्नेनार्ति रौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थामात्माश्रित निश्चय धर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादि धर्मेण दुर्ध्यान वंचना भवति तपोधन संसर्गेण निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परंपरया निर्वाणं लभत इत्यभिप्रायः॥
(जयचन्द्राचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिः)

गाथार्थ– यह प्रशस्त भूत चर्या श्रमणों के होती है और गृहस्थों के तो मुख्य होती है शास्त्रों में ऐसा कहा गया है। उसी से गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

तपोधन दूसरे साधुओं की वैयावृत्ति करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावृत्य करते है वह पापारंभ व हिंसा से रहित

– दुर्जन –

परोपकारदुग्ध पाने सोऽपि
कृतघ्न विषप्रदाने संलग्नः।
दुर्जन सम नहि विषधरः
मंत्रेन शाम्यति दुर्जन नरः ॥ १३ ॥
सुगुण शतेऽपि समाश्रितोऽपि
कुगुण कुरकृतः ग्रहणे शक्तः।
दुर्जन समानं नहि जलौकः
दूरेऽपि कुगुणः ग्रहणे शक्तः ॥ १४ ॥

होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते है । शेष औषधि अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है, इसलिये वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है किन्तु साधुओं का गौण है । दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय और कषायों के निमित्त से पैदा होनेवाले आर्त्त और रौद्रध्यान मे परिणमनेवाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चय धर्म के पालने का अवकाश नहीं है । यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रुप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करे तो खोटे ध्यान से बचते है तथा साधुओं की संगति से गृहस्थो निश्चय तथा व्यवहार मोक्ष मार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परपरा निर्वाण को प्राप्त करते है ।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंग परिचित्ता ।
देवो ववगयमोहो उदय करो भव्वजीवाण ॥ २५ ॥

(अट्ठ पाहुडं) कुन्द कुन्द

दया से विशुद्ध जो धर्म सर्वसग से रहित प्रवज्या अर्थात मुनि दीक्षा, मोह से रहित देव भव्य जीवों के लिये उदय कर रहा है ।

वर वय तवेहिं सग्गो मा दुक्खं होऊ णिरइ इयरेहिं ।
छायातविट्ठायाणं पडिवालंताण गुरु भेद ॥ २५ ॥

(अट्ठ पाहुडं कुन्द कुन्द)

जब तक रत्नत्रय की पूर्णता नही होती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । जब तक मोक्ष की मोक्ष की प्राप्ति नही होती है तब तक व्रत तपों का पालन करके स्वर्ग प्राप्त करना श्रेष्ठ है । परन्तु अव्रती होकर नरक तिर्यंचगति संबंधी दुःख प्राप्त करना श्रेष्ठ नहीं है । जिस प्रकार एक पथिक को पीछे आनेंवाले अपने साथी की राह देखने के अत्यन्त उष्ण धूप में बैठनें की अपेक्षा शीतल वृक्ष की छाया में बैठना श्रेयस्कर है ऐसा कौन मूर्ख होगा जो शीतल छाया को छोडकर अत्यन्त उष्ण धूप में बैठेगा ।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ॥ ८४ ॥

(समाधिशतक)

हिंसा पापादि अव्रतों को छोडकर अहिंसादि व्रत मे अत्यन्त निष्ठा वान होना चाहिये । उस व्रत के माध्यम से जो पमात्मा पद की प्राप्ति हो जायेगी तब उन व्रतों को भी त्यागना चाहिये । जिस प्रकार मंजिल के ऊपर चढने के लिये सीढी की आवश्यकता होती है विना सीढी के चढा नहीं जा सकता है परन्तु मंजिल के ऊपर जाने के बाद सीढी स्वय-मेव छूट जाती है अथवा सीढी की शेष सीमा के बाद उस सीढी को त्याग कर मंजिल में प्रवेश करते है जैसे हम आगे बढ जाते है पीछे का रास्ता छूट जाता है उसी प्रकार हम गुणश्रेणी आरुढ होकर बढ जाते है तो पीछे की गुणश्रेणी जूट जाती है । जैसे मुनि होनेपर श्रावक के व्रत छूट जाते है, उसी प्रकार परमात्म पद को प्राप्त करते है तो व्रतादि के विकल्प नहीं रहते है जैसे दूध से दही, घी बनता है जब तक घी नहीं बनता है तब तक दूध दही का संरक्षण कारण आवश्यक है परंतु घी बनने के बाद दूधादि अवस्था नहीं रहती है । जैसे फूल से फल बनता है फल होनेपर स्वयं फूल खिर जाता है ।

अशुभाच्छुभायातः शुद्धः स्यादयभागमात् ।
खेर प्राप्त संध्यस्य तमसो न सुमुद्गमः ॥ १२२ ॥
विद्यूत तमसो रागस्तपः श्रुत निबन्धन् ।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥ १२३ ॥
विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ १२४ ॥

(आत्मानुशासन)

ईर्षक समानं नहि इन्दुरः
सन्त सुगुणः कर्त्तने चतुरः ।
मुषिकः लुनन्ति निकट वस्तु
इर्षकः लुनन्ति दूरे स्थितेऽपि ॥ १५ ॥
दुर्जन शिष्य सम नहि अग्नि
दहति शिक्षाः अशिक्षारपि ।
ईन्धन हीन दूरस्थ अग्नि
न दहति (कु) शिष्यःउभयरेपि ॥ १६ ॥

अर्थः– यह आराधक भव्य जीव आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ स्वरुप असंयम अवस्था से शुभ रुप संयम अवस्था को प्राप्त हुआ समस्त कर्ममल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य जब तक प्रभात काल को प्राप्त नहीं होता है तब तक वह अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता है।

अज्ञान असंयमरुप अंधकार को नष्ट करनेवाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषय का जो अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभात कालीन राग (लालिमा) के समान अभ्युदय के लिये होता है।

जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाश को छोड़कर और अंधकार को आगे करके जब (अस्त) राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पाताल को जाता है। अर्थात अस्त हो जाता है। उसी प्रकार जो प्राणी वस्तु स्वरुप को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान रुप प्रकाश को अज्ञान असंयम को स्विकार करता हुआ संसार-शरीर-भोग सम्बन्धी राग को प्राप्त होता है तब वह पाताल तल अर्थात आत्म पतन रुप अवस्था को प्राप्त होता हुआ नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है।

आत्मारुपी सूर्य अनादिकाल से अज्ञान असंयम मोहरुपी अन्धकार से व्याप्त संसाररुपी रात्री मे संचरण कर रहा है। उसको चिन्ज्योति स्वरुप मुक्ति लोक को प्राप्त करता है उसको पहले अज्ञान-असंयम रुपी अंधकार को छोडकर देव शास्त्र गुरु व्रत नियम सम्बन्धी राग रुपी दिग्वलय मे आना ही होगा। उस समय में पूर्ण अंधकार नहीं प्रकाश भी नहीं परन्तु उस राग आत्मा रुपी सूर्योदय के लिये कारण है। जिस प्रकार सूर्योदय के पूर्व पूर्ण प्रकाश नहीं पूर्ण अंधकार नहीं परन्तु वह लालिमा सूर्योदय के अभ्युदय का सूचक है परन्तु जब जीव देव-शास्त्र-गुरु-तप–संयम को छोडकर संसार शरीर प्रति अनुराग करता है वह राग उसके पतन का ही कारण है जिस प्रकार सायंकालीन राग (लालिमा) पतन का सूचक है अर्थात प्रभात कालिमा और सायंकालीन दोनों राग समान होते हुये भी प्रभात कालीन अभ्युदय के सूचक है और सायंकालीन राग पतन के सूचक है। उसी प्रकार देव-शास्त्र-गुरु प्रति और ससार-शरीर भोग प्रतिराग समान होते हुए एक उत्थान का कारण हो तो दूसरा पतन का कारण है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि ।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ।। १०० ।।
मूलाचार - ' समयसाराधिकार '

अर्थः- खेवटिया ज्ञान है, वायु ध्यान है और नौका चारित्र है। इन तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर को तिर जाते है।

विषयविरतिः संगत्यागः कषाय विनिग्रहः
शम-क्ष्म दमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोधनः ।।
नियमित मनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता ।
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ।। २२४ ।।
(आत्मानुशासनम्)

अर्थः- इन्द्रिय विषयों से विरक्ति परिग्रह का त्याग कषायों का दमन राग-द्वेष की शान्ति यम-नियम इन्द्रिय दमन सात तत्त्वों का विचार मन की प्रवृत्ति पर नियंत्रण जिन भगवान की भक्ति और प्राणियों पर दया भाव ये सब भाव उस पुण्यात्मा पुरुष के होते है। जिसके कि संसार समुद्र का किनारा निकट आ चुका है। अर्थात निकट भव्य सम्यग्दृष्टी जीव उपरोक्त व्रतादि स्वरुप नौका मे बैठकर संसार रुपी स्वरुप को शीघ्र रुप से पार करता है।

यथा यथा समायाति संविती तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।। ३७ ।।

निन्दक सम नहि चित्रकारः
सम सुगुणे विषमः आकारः ।
मूर्तिक द्रव्यं समो असमः
किंतु अमूर्तिक गुणे निन्दकः ।। १७ ।:

- सज्जनः -

सज्जन समानं न कदा सरोजः
मित्रागमे विकाशितः रात्रौ म्लानमुखः ।
अहो ! सज्जन सरोज सदा विकाशितः
निन्दा प्रशंसा सर्वत्र शत्रु किम्वा मित्रे ।। १९ ।।

यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथ समायाति तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

(इष्टोपदेश)

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थः- जैसे जैसे विशुद्ध आत्मस्वरुप की संवित्ति बढती जाती है वैसे वैसे सुलभ भी इन्द्रिय विषय रुचता नहीं है जैसे जैसे सुलभ भी इन्द्रिय विषय रुचकर नहीं लगता है वैसे वैसे आत्मसंवित्ति बढती ही जाती है ।

णिय अप्पणाण झाणज्झयण सुहामियर सायण्णं पाणं ।
मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजदि सोहु बहिरप्पा ॥ १२६ ॥

अर्थः- जो ज्ञानध्यान अध्ययन और सुखामृत रसायण पान से विमुख होकर इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भोगता है वह निश्चित बहिरात्मा मूढ है ।

शुभोपयोग एवं पुण्यपापः-

शंकाः- व्यवहार नय अपेक्षा शुभोपयोग के प्राध्यान्यता से जो व्रत संयमादि अरिहन्त भक्ति आदि भाव है वे सब पुण्य बन्ध के कारण होने से एवं रागात्मक होने के कारण हेय है ? पुण्य से ससार बढता है इसलिये व्रत, संयमादि अरिहन्त भक्ति संसार के कारण है ?

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावंत्तिभणिदमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खय कारणं समये ॥ १८१ ॥

(प्रवचनसार)

अपने आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्य मे जो शुभ रुप परिणाम है उससे पुण्य होता है और अशुभ भाव से पाप होता है जो दोनों भावों से रहित होकर स्व स्वरुप में प्रवर्त्तमान होता है उसका सम्पूर्ण दुःख क्षय हो जाता है ।

अरहंत सिद्ध चेदीय पवयण गण णाण भत्ति संपण्णो ।
बन्धदि पुण्णं बहुसोण हु सो कम्मक्खयं कुणदि ॥ १६६ ॥

(पंचास्तिकाय)

अर्थ :– अरिहन्त-सिद्ध-चैत्यालय-प्रवचन-मुनिगण-भेद-विज्ञानादि बहुश्रुत की भक्ति आदि से अत्यधिक पुण्य बन्ध करता है। परन्तु कर्म क्षय नहीं करता है।

इस आर्ष वचन से सिद्ध होता है व्यवहार स्वरुप शुभ क्रियायें हेय है।

समाधान:– ण च ववहारणओ चप्पलओ तत्तो ववहाराणुसारि सिस्साणं पउत्ति दसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्तिमणेणावहारिय गोद गयेरेण मगलं तत्थ कयं।

अर्थ:– यदि कहा जाय कि व्यवहार नय असत्य है सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेंवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत: जो व्यवहार नय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन मे निश्चय करके गौतम स्वविर ने चौबीस अनुयोग के द्वारों के आदि मे मंगल किया है।

वीरसेनाचार्य। ज. ध. पु. पृष्ठ ७–८

ण च अप्पमाणपुरस्सरो ववहारो सच्चत्तमल्लियइ। ण च एवं' बाहविवज्जिय सव्व ववहाराणं सच्चत्तुवलंभादो।

अर्थ:– अप्रमाण पूर्वक होनेवाला व्यवहार सत्यता को प्राप्त नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि सभी व्यवहार अप्रमाण पूर्वक होने से असत्य मान लिये जाय सो भी बात नहीं है, क्योंकि जो व्यवहार बाधा रहित होते है उन सब में सत्यता पाई जाती है।

सज्जन समानं नहि कदापि सलिल:
अग्नि संपर्केन उष्णमेव अतिशीघ्र:।
दावालन अग्नि सम दुर्जन: सम्पर्के
सज्जन स्वशीतलता न त्यजे त्रिकाले॥ २०॥

निन्दा प्रशंसा प्रसंगो शत्रू मित्र वर्गे
लाभालाभे जीवित मरणे सर्वकाले।
समुद्रवत् गम्भीरं मेरुवत स्थिरं
य: तिष्टत सयेव सज्जन: धीर: वीर:॥ २१॥

पुण्ण कम्म बन्धत्थीणं देसव्वयाणं मंगलं कारणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खकंक्खुवाणमिदि ण वोत्तुं जुतं; पुण्णबन्ध हेउत्तं पडि विसेसाभावादो मंगलस्सेव सराग संयमस्स वि परिच्चागप्प संगादो; ण च एव तेण संजम परिच्चागप्प सग भावेण विव्वुइगमणाभावप्पसंगादो। सराग संयमो गुणसेदि णिज्जराए कारणं, तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज गुणो त्ति सराग संयमे गुणीणं वट्टुणं जुत्तमिदि णं पच्चवठागं कायव्वं; अरहंत णमोक्कारो सेयहिय बन्धादो असंखेज्ज गुण कम्मक्खय कारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो उत्तं च।

अरहंत णमोक्कारं भावेण रा जो करेदि पयडमदी।
सो सव्व दुक्ख मोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥

यदि कहा जाय कि पुण्य कर्म के बान्धनें के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पुण्य बन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात पुण्य बन्ध के कारणभूत कार्यों को जैसे देशव्रती श्रावक करते है वैसे ही मुनि भी करते है, मुनि के लिये उनका एकान्त से निषेध नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये यहां कहा जा रहा है उसी प्रकार उनके सराग संयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है क्योंकि देशव्रत के समान सराग संयम भी पुण्य बन्ध का कारण है।

यदि कहा जाय कि मुनियों के सराग संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होवो सो भी बात नहीं है क्यों कि मुनियों के सराग संयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यदि कहा जाय कि सराग संयम गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है क्योंकि उससे बन्ध की अपेक्षा मोक्ष अर्थात कर्मों की निर्जरा असंख्यात गुणी होती है ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कारण है इसलिये सराग संयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

कहा भी है–

जो विवेक जीव भावपूर्वक अरहन्त को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

(ज. ध. पु. १ पृ ७–८)

किं फलमेदं धम्मज्झाणि? अक्खवएसु विउलामर सुहफलं गुण-सेढिए कम्मणिज्जरा फलं च। खवएसु पुण असंखेज्ज-गुण सेढीए कम्म पदेश णिज्जरण फलं सुहकम्माण मुक्कस्साणुभागविहाण फलं च। अत-एव धम्मदिनपेतं धर्म्यं ध्यानमिति- सिद्धम्।

एत्थ गाहाओ–

होंति सुहासव-संवर-णिज्जरामर सुहाई विउलाई।
ज्झाण वरस्स फालइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ५६ ॥

जह वा घण संघान रवणेण तरणाह्या विलिज्जंति।
ज्झाणप्प वणोवहया तह कम्म घणा विलिज्जति ॥ ५७ ॥

अर्थः– शंका- इस धर्मध्यान का क्या फल है ?

समाधानः– अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुण श्रेणी में कर्मों की निर्जरा होना भी उसका फल है; तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यात गुण श्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है। अतएव जो धर्म से अनुप्रेत है वह धर्मध्यान है,

---

यदि सूर्यः कदापि पश्चिमे उदिश्यति
अग्नि शीतलता याति चन्द्र तापयति।
समुद्र यदि कदापि स्वमर्यादा त्यागे
तथापि सज्जनः स्वस्वभाव न त्यागे ॥ २२ ॥

पर स्त्री दर्शने अन्धः गमनेच नपुंसकः
विकथा निन्दा श्रवणे बधिरमेव भावः।
असत्य भाषणे मूकः कुकार्येच पंगुः
मुग्ध कुविचारे अहो कृति सज्जनस्य ॥ २३ ॥

यह बात सिद्ध होती है।

इस विषय में गाथाएँ–

उत्कृष्ट धर्मध्यान के शुभ आश्रव संवर, निर्जरा और देवों का सुख मे शुभानुबन्धी विपुल फल होते है ॥ ५६ ॥

अथवा जैसे मेघपटल ताडित होकर क्षण मात्र मे विलीन हो जाते है वैसे ही ध्यानरुपी पवन से उपहन होकर कर्ममेघ भी विहीन हो जाते है ॥ ५७ ॥

(ध. पू. ५ पृ ७७)

मोह सव्वुवसग्गो पुण धम्मज्झाण फलं; सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहम सांपराइयस्स चरिम समए मोहणीयस्स सव्वुवसमुवलभादो तिण्णं घादि कम्माणं णिम्मूल विणास फल मेंपत्तविदक्क अविचारज्झाणं मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाण फलं, सुहुम सांपराय चरिम समए तस्स विणासुवलंभादो ।

अर्थः– मोह का सर्वोपशम करना धर्म ध्यान का फल है; क्योंकि कषाय सहित धर्मध्यानी के सूक्ष्म एवं सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय मे मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन ध्यानी कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का फल है। परन्तु मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्यों कि सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।

(ध. पु. ५ पृ. ८१)

प्राथमिकानां चिन्तास्थिति करणार्थं विषय दुर्ध्यान वंचनार्थं च परंपरया मुक्ति कारणमर्हदादि पर द्रव्य ध्येयम् पश्चात्चित्ते स्थिरी भूते साक्षान्मुक्ति कारणं स्वशुद्धात्मतत्वमेव ध्येयं नास्त्येकांतः एवं साध्य साधक भावं ज्ञात्वा ध्येय विषये विवादो न कर्तव्यः इति ।

(" परमात्म प्रकाश अध्याय २ गाहाटीका ३३ ब्रह्मदेव ")

अर्थः– ध्यान के प्राथमिक साधकों को चित्त के स्थिर करने के लिये और विषय कषाय स्वरुप दुर्ध्यान से बचने के लिये परम्परा मुक्ति

के कारण स्वरुप अरिहन्तादि ध्यान करने योग्य है। अर्थात ध्येय है। पश्चात चित्त स्थिर होने पर साक्षात्मुक्ति का कारण जो निज शुद्धात्म तत्व है वही ध्यावने योग्य है। पर द्रव्य होने से अरिहन्तादि ध्यावने योग्य नहीं है यह एकान्त से ठीक नहीं है। अतः सविकल्प अवस्था में अरिहन्तादि उपादेय ही है। इस प्रकार साध्य-साधन जानकर ध्यावने योग्य वस्तु में विवाद नहीं करना पंचपरमेष्ठी का ध्यान साधक है, और आत्म ध्यान साध्य है, यह निःसंदेह जानना। वैयावृत्यादि स्वकीयावस्था योग्यो धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति।

(टीका प्रवचनसार २५०)

अर्थः- वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म कार्य की अपेक्षा से नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर हो रहा।

यद्यपि व्यवहार नयेन गृहस्थावस्थाणं विषय कषाय दुर्ध्यान वंचनार्थं धर्मवर्धनार्थंच पूजाभिषेक दानादि व्यवहारोऽस्ति तथापि वीतराग निर्विकल्प समाधि रतानोतत्काले बहिरंग व्यापाराभावात् स्वमेव नास्तीति।

अर्थः- यद्यपि व्यवहार नय कर गृहस्थ अवस्था में विषय कषाय रुप खोटे ध्यान के हटाने के लिये और धर्म बढानें के लिये पूजा अभिषेक

- ज्ञानं -

ज्ञान समान नहि कोटि रश्मिः
क्षेत्रा कालावधि प्रकाशयति।
ज्ञानं तु पुनः चैतन्य रश्मिः
सर्वं क्षेत्र काल प्रकाशयन्ति ॥ २४ ॥

- ज्ञानी -

ज्ञानी समान नहि चक्रवर्ती
क्षेत्र कालावधि प्रभूत्वे स्थिति।
ज्ञानी जयन्ति समस्त विश्वम्
अनन्त सुख ईशत्वे स्थिति ॥ २५ ॥

दान आदि का व्यवहार है। तो भी वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हुए योगीश्वरों को उस समय में बाह्य व्यापार के अभाव होने से स्वयं ही द्रव्य पूजा का प्रसंग नहीं आता भाव पूजा में ही तन्मय है।

(टीका परमात्म प्रकाश। १२३-२)

धर्मार्थक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

शुद्धात्मानुभूतिः-

सम्यग्दृष्टी जनः पुनरभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधिबलेन कतकफल स्थानीयं निश्चय नयाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः।

(स. सा. ता. वृ. - पृ. १३)

अर्थः- जो सम्यग्दृष्टी जन होता है वह तो अभेद रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधी के बल से कतक स्थानिक निश्चय नय का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। ननु-वीतराग संवेदन विचार काले वीतराग विशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः किं सरागमपि स्वसंवेदन ज्ञानमस्तीति ?

अत्रोत्तरं विषय सुखानुभवानन्द रुप स्वसंवेदन ज्ञानं सर्वजन प्रसिद्ध सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरुप संवेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसवेदन ज्ञान व्याख्यान काले सर्वत्रं ज्ञातव्यमिति भावार्थः

स. सा. ता. वृ. १०३ - पृ ८९

शंकाः- वीतराग संवेदन विचार काल में आप ने जो वार वार वीतराग विशेषण दिया है वह क्यों देते आ रहे है क्या कोई सराग स्व संवेदन ज्ञान भी होता है ?

समाधानः- इस के उत्तर मे आचार्य उत्तर देते है कि भाई विषय सुखानुभव के आनंदरुप स्वसंवेदन होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है। अर्थात वह सब लोगों के अनुभव मे आया करता है, वह सराग होता है किन्तु जो शुद्धात्मा के सुखानुभव रुप स्वसंवेदन ज्ञान होता है वह वीतराग होता है। इसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल मे सब ही स्थान पर समझना चाहिये।

विषय कषाय निमित्तोत्पन्नेनार्त्त रौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां

गृहस्थानामात्माश्रित निश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति ।

(प्र. सा. ता. वृ. २५४ - पृ. ३४७)

विषय कषाय के निमित्त से उत्पन्न आर्त्त-रौद्र ध्यानों में परिणत गृहस्थजनों को आत्माश्रित निश्चय धर्म का अवकाश नहीं है ।

असंयत सम्यग्दृष्टी श्रावक प्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोग-साधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोग वर्तते तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीण-कषायपर्यंत जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदेन विवक्षितेकदेश शुद्धनय रुप शुद्धोपयोग वर्तते ।

(द्र. सं. टी. ३८)

असंयत सम्यग्दृष्टी से प्रमत्त तक के तीनों गुणस्थानों में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऐसे उत्तरोत्तर विशुद्ध शुभोपयोग वर्तता है । और उसके अनन्तर अप्रमत्तादि क्षीण कषाय के गुणस्थानों में जघन्य: मध्यम उत्कृष्ट भेद को लिये विवक्षित एकदेश शुद्ध नयरुप शुद्धोपयोग वर्तता है ।

ये गृहस्थापि सन्तो मनागात्म भावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति भूवंते ते जिनधर्म विराधक: मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या: ।

जो गृहस्थ होते हुए भी मनाक (थोडा) आत्म भावना को प्राप्त करके " हम ध्यानी है " ऐसा कहते है, वे जिनधर्म बिराधक मिथ्या-दृष्टी जानना चाहिये ।

(मो. पा. अध्याय - ३०५)

– कालरात्रि –

मोह रेव महा मद्य: अज्ञानमेव काल रात्रि:
इच्छारेव महास्वप्नं स्वजागृते विनश्यति । २६ ॥

मोहमहा मद्य पानेन जीव:
अज्ञान रात्रौ मध्ये स्वपयति ।
आकाक्षां स्वप्नं पश्यति सर्वदा
आत्म जाग्रते समस्त नश्यन्ति ॥ २७ ॥

परम ध्यानों के पर्यायवाची शब्दः–

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किं वि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पामि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ।।

नित्य निरंजन निष्क्रिय निज शुद्धात्मानुभूति प्रतिबन्धक शुभाशुभ चेष्टारुपं कायव्यापारं, तथैव शुभाशुभान्तर्वहि जल्परुप वचन व्यापारं तथैव शुभाशुभविकल्प जाल रुपं चित्तव्यापारं च किमपि मा कुरुते हे विवेकि जनः ।

येन योगत्रय निरोधेन स्थिरो भवति । स क - - - आत्मा । कथम्भूतः स्थिरो भवति ?

सहज शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म तत्त्व सम्यक् श्रद्धान्ज्ञानानुचरणउपामेव रत्नत्रयात्मक परम समाधि समुद्भूत सर्वप्रदेशाल्हाद जनक सुखास्वाद परिणति सहिते निजात्मनि रतः परिणतिस्तल्लीयमान स्तच्चित्तस्तन्मयो भवति - - - इदमेवात्म सुखरुपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति ।

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागं परमानन्द सुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चय मोक्षमार्गं स्वरुपम् ।

तच्च पर्याय नामान्तरेण - - - शुद्धात्म स्वरुपं - - - तदेव परम स्वात्मोपलब्धि लक्षणं सिद्ध स्वरुप - - - तदेव निर्मल स्वरुपं तदेव स्वसंवेदन ज्ञान - - - तदेव शुद्धात्म स्वरुपं - - - तदेव परमात्म दर्शनं - - - तदेव शुद्ध चारित्रं - - - तदेव शुद्धात्म द्रव्य - - - स एव शुद्धात्मानुभूति - - - स एवात्म प्रतीति, स एव आत्म संवित्तिः - - - स एव परम समाधि - - - स एव शुद्धात्मपदार्थम अध्ययन रुपं एव निश्चय मोक्षोपायः स एव चैकायचिन्ता निरोधः; - - - स एव सुद्धोपयोगः स एव परम योग;- - - स एव भूतार्थः - - - स एव निश्चय पंचाचारः - - - स एव समयसार - - - स एव अध्यात्मसारः - - - तदैव समतादि निश्चय षडावश्यक स्वरुपं, - - - तदेवाभेद रत्नत्रय खलयं, तदैव वीतराग सामायिक - - - स एव परमात्म भावना; - - - स एव शुद्धात्मभावनोत्पन्न सुखानुभूति रुपं परम कला - - - तदैव परमामृत परम धर्म ध्यानं - - - तदैव शुक्ल

ध्यान - - - तदैव रागादि विकल्प शून्य ध्यानं - - - तदैव परम वीत-रागत्वं, परम भेद ज्ञातं इत्यादी समस्त रागादि विकल्पोपाधि रहित परमाल्हादैक सुख लक्षण ध्यानरुपस्य निश्चय मोक्ष मार्गस्थ वाचका-न्यान्यपि पर्याय नामानि विज्ञेयानी भवद्भि परमात्म तत्त्वविद्भिरिति ।

द्र. सं. टी. ५६ – पृ १६६-१८८

हे ज्ञानी जनो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो अर्थात काय के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो, और कुछ भी मत विचारों जिस से कि तुम्हारा आत्मा अपने आत्मा में तल्लीन स्थिर होवे; क्यों कि जो आत्मा में तल्लीन होना है वही परम ध्यान है ।

नित्य निरंजन और क्रिया रहित, ऐसा जो निजशुद्ध आत्मा का अनुभव है उसको रोकनेवाला जो शुभ-अशुभ चेष्टा रुप कार्य का व्यापार है उसको उसी प्रकार शुभ अशुभ अन्तरंग तथा बहिरंगरुप वचन के व्यापार को और इसी प्रकार शुभ अशुभ विकल्पों के समूहरुप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो जिन मन वचन काय रुप है तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है वह कौन है ? आत्मा ! कैसा स्थिर होता है ? सहज सुद्ध आत्मज्ञान और दर्शन स्वभाव को धारण करनेवाला जो परमात्मतत्त्व है उसके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण लाने रुप जो अभेद रत्नत्रय है उस स्वरुप जो परम ध्यान है उससे उत्पन्न और सब प्रदेशों को आनंद उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो सुख उसके आस्वादरूप परिणति सहित निज आत्मा में परिणत तल्लीन, तन्मय तथा तच्चित्त होकर स्थिर होता है । यही जो आत्मा के सुखरुप में परिषमन होना है वह निश्चय

---

(७) सरस्वती स्तोत्रम्

जगन्माता वागीश्वरी शारदा ब्रह्मचारिणी ।
आत्मविद्या संपादने सिद्धिर्भवतु मे सदा ॥

सर्वज्ञद्दोभ्दुतः पवित्र तीर्थं धूनी ।
अनेकान्तो बहुभि स्याद्वादः कलध्वनि ॥

अहिंसा स्वच्छ गात्री भव्यानां तीर्थ मूर्तीः ।
संसार ताप हत्री भव्यानां मोक्षदात्री ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

से परम अर्थात् उत्कृष्ट ध्यान होता है। उस परम ध्यान में स्थित हुए जीवों को जो वीतरागपरमानंद सुख प्रतिभासित है वही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरुप है।

वह दूसरे पर्याय नामों से क्या क्या कहलाता है अर्थात् उसको किन किन नामों से लोग कहते है सो कथन किया जाता है। वही शुद्ध आत्मा का स्वरुप है। वही स्वात्मोपणब्धि स्वरुप है। वही निर्मल स्वरुप का धारक है। वही स्वसंवेदन ज्ञान है। वही शुद्धात्म स्वरुप है। वही परमात्म का दर्शन है। वही शुद्ध चारित्र है। वही शुद्धात्म द्रव्य है। वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है। वही शुद्धात्मा कि प्रतीति है, वही स्वसंवित्ति है, वही परम समाधि है, वही शुद्धात्म पदार्थ है, वही शुद्धात्म पदार्थ का अध्ययन है, वही निश्चय मोक्ष उपाय है, वही एकात चिन्ता स्वरुप ध्यान है, वही शुद्धोपयोग है, वही परम योग है, वही भूतार्थ-उपादेय है, वही निश्चय पंचाचार है, वही आत्म स्वरुप है, वही आत्म सार है, वही समतादि निश्चय नय से षडावश्यक है, वही अभेद रत्नत्रय है, वही वीतराग परम सामायिक, वही परमात्म भावना है, वही शुद्धात्म के भावना से उत्पन्न सुखानुभूति स्वरुप परम कला है, वही परमामृत स्वरुप परम ध्यान है, वही शुक्ल ध्यान है, वही रागादि विकल्प से रहित ध्यान है, वही परम वीतरागत्व है, वही जो परम भेद ज्ञान है ऐसे समस्त रागादि विकल्पों से रहित परम आनंद सुख रुप लक्षण का धारक जो ध्यान है उस स्वरुप जो निश्चय मोक्ष मार्ग है उसको कहने वाले अन्य भी बहुत से जीव पर्यायी नाम परमात्म तत्त्व को अर्थात परमात्मा के स्वरुप को जानने वाले जो भव्य जीव है उनको जान लेने चाहिये।

आर्त-रौद्र परित्याग लक्षण निर्विकल्प सामायिक स्थितानां यच्छुद्धात्मरुपस्य दर्शनमनुभवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः रुचिरनुभूति स्तदेव निश्चयनयेन निश्चय चारित्राविनाभावि निश्चय सम्यक्त्व वीत-राग सम्यक्त्व भन्यते तदेव च गुणगुण्यभेद रुप निश्चय नयेन सुद्धात्म स्वरुपं भवतीति।

स. सा. त. वृ. – जीवाधिकार पीठिका

आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्वि-

कल्प समाधि में स्थिर रहनेवाले जो जीव है उनको जो शुद्धात्मा के स्वरुप का दर्शन है, अनुभव है, अवलोकन है, उपलब्धि है, सवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनभूति है, वही निश्चय नय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात (उसे वीतराग चारित्र को) साथ में लिये हुए रहता है। और वही गुण-गुणी में अभेद जो निश्चय नय है उससे शुद्धात्म का स्वरुप कहा जाता है।

वीतराग चारित्रानुकूलं शुद्धात्मानुभूत्य विनाभूतं वीतराग सम्यक्त्व
(म. प्र. टी. ७६)

वीतराग चारित्र के अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूति रुप वीतराग सम्यक्त्व है।

संवेदना ज्ञानेन परं परमात्मानं भावय
पं. दौलतरामजी। भाषा टीका (म. प्र. टी. १३)

जो वीतराग संवेदन कर परमात्मा जाना जाता था, वही ध्यान करने योग्य है।

शंका:– जो स्वसंवेदन अर्थात अपने कर अपने को अनुभवना इसमें वीतरागता विशेष क्यों कहा है?

समाधान:– विषयों के आस्वादन से भी उन वस्तुओं के स्वरुप का जाननापना होता है, परन्तु राग भाव कर दूषित है इसलिये बीज

एकान्त अध्यात्मवाद (८)

यावत् जीवाय सुखी जीयात् पंचेन्द्रिय भोग सदा कुर्यात्।
शरीर क्रिया शरीरे भवति आत्मा सदा निर्लिप्त भवति।
यावत् जीयात् सुखी जीयात् पंचेन्द्रिय भोग सदा कुर्यात्।
भोगते निर्जरा भवति अध्यात्म योग यह भणन्ति॥
यावत् जीयात् सुखी जीयात् निरर्गल भाव सदा कुर्यात।
संयमे भावे कर्म बन्धन्ति सद्गुरुदेव सदा भणन्ति।
यावत् जीयात् सुखी जीयात् दान तपादिक दान कुर्यात्।
पुण्य बन्धेत् संसार वर्धति भावी तिर्यंश सदा भणन्ति॥

रस का आस्वादन नहीं है, और वीतराग दशा में स्वरुप का यथार्थ ज्ञान होता है। आकुलता रहित होता है। तथा संवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवें गुणस्थान वाले गृहस्थ के भी होता है, वहाँपर सराग देखने में आता है, इसलिये राग सहित अवस्था के निषेध के लिये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है। राग भाव है वह कषाय रुप है। इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टी अनन्तानुबन्धि कषाय है तब तक तो बहिरात्मा है, उस के स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात सम्यग्ज्ञान सर्वथा ही नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टी के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धि के अभाव से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकडी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकडी का अभाव है, इसलिये राग भाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ गया, इस कारण से भी स्वसंवेदन ज्ञान प्रबल हो गया, परन्तु दो चौकडी के रहने से मुनि के समान प्रकाश नहीं हुआ। मुनि के तीन चौकडी का अभाव है, इसलिये राग भाव तो निर्बल हो गया। तथा वीतराग भाव प्रबल हो गया। वहाँपर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकडी बाकी है, इसलिये छठ्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि सराग संयमी है! उसका वीतराग संयमी के जैसा प्रकाश नहीं है। सातवे गुणस्थान में चौथी चौकडी मन्द हो जाती है। वहाँपर आहार-विहार आदि क्रिया नहीं होती। ध्यान मे आरुढ रहते है। सातवें से छठ्ठे गुणस्थान मे आते तब वहाँपर आहारादि क्रिया है। इसी प्रकार छठ्ठा सातवाँ गुणस्थान करते रहते है। वहाँपर अन्तर्मुहूर्त काल है। आठवे गुणस्थान मे चौथी चौकडी अत्यन्त मन्द हो जाती है। वहाँ राग भाव कि अत्यन्त क्षीणता होती है। वीतराग भाव पुष्ट हो जाता है। स्वसंवेदन ज्ञान का विशेष प्रकाश होता है। श्रेणी मांडने से शुक्ल ध्यान उत्पन्न होता है।

श्रेणी के दो भेद है। एक क्षपक दूसरा उपक्षपक, क्षपक श्रेणी वाले तो उसी भव से केवल ज्ञान पाकर मुक्त हो जाते है, और उपशम वाले आठवें नवमें-दसवें से ग्यारहवाँ गुणस्थान तक पहुँच पीछे पड जाते है। अर्थात नीचे के गुणस्थानों में आते है क्योंकि उसका काल अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु कुछ एक भव भी धारण करते है। तथा क्षपक वाले

आठवें से नवमे गुणस्थान मे प्राप्त होते है, वहाँ कषायों का सर्वथा नाश होता है, एक सज्वलन लोभ रह जाता है इसलिये स्वसंवेदन ज्ञान का बहुत जादा प्रकाश होता है, परन्तु एक संज्वलन लोभ बाकी रहने से वहाँ सराग चारित्र ही कहा जाता है। जब दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्म लाभ नहीं रहता है तब मोह की अठ्ठावीस प्रकृतियों के नष्ट हो जानें से वीतराग चारित्र की सिद्धि हो जाती है। दसवें से बारहवें मे जाते है। ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते है। वहाँ निर्मोह वीतरागी के शुक्ल ध्यान का दूसरा पाया (भेद) प्रकट होता है। यथाख्यात चारित्र हो जाता है। बारहवें के अन्त में ज्ञानावरण-दर्शनावरण अन्तराय इन तीनों का भी विनाश कर डाला, मोह का नाश पहले हो ही चुका था। तब चारों घाति कर्मो के नष्ट हो जाने से तेरहवें गुणस्थान मे केवलज्ञान प्रकट होता है। वहाँपर ही शुद्ध परमात्मा होता है अर्थात उसके ज्ञान का पूर्ण प्रकाश हो जाता है, निःकषाय है।

वह चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानतक तो अन्तरात्मा है, उसके गुणस्थान प्रति चढती हुई शुद्धता है, और पूर्ण शुद्धता परमात्मा के है, यह साराश समझना।

रागादि मल जुदाणं, णियप्परूवं ण दिस्सदे किं पि।
समला दरिसे रूवं ण दिस्सेद जह तहा णेयं॥
(रयणसार – १०२)

स्वरुप स्तोत्रम् (१)

जिनं शुद्ध ज्ञानी सिद्ध आत्म रूपं
सूक्ष्मं परं श्रेष्ठं परमार्थ रूपम्।
अव्यक्तं अव्ययं अनादि अनन्तं
चिदानंद रुपं नमो स्वस्वरुपम्॥ १॥

स्वयम्भूः श्रीधरः अच्युतो माधवः
सुगतः कामारि निरंजनरूपम्।
पूर्णं शून्यरुपं द्वैताद्वैत रूपं
चिदानंदरूपं नमो स्वस्वरुपम्॥ २॥

जिस प्रकार मलीन दर्पण में अपना मुख नहीं दिखता है, उसी प्रकार चित्त रागादि भावों से मलीन है, उसे अपने निज आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता।

राग-द्वेषादि कल्लोलैरेलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं, तत्तत्त्वं नेतरो॥ ३५

(स. श. – पृ. ८१)

जैसे समुद्र का जल जब पवन के द्वारा उठनेवाले तरंगों से चंचल होता है तब उसमें पदार्थ निर्मलता के साथ नही दिखाता है। परन्तु जब वही जल स्थिर होता है तब उस निर्मल जल में अपना मुंह या अन्य कोई पदार्थ साफ-साफ दिखता है। वैसे ही जब यह, मन, क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावों से चंचल होता है तब उसमें आत्मा का स्वभाव नही झलकता है। परन्तु जब उसमें क्रोधादि भाव नहीं होते है तब उस निर्मल मन मे आत्मा का जो स्वरुप है सो बराबर दिखता है। तात्पर्य यह है कि जिस के मन से राग-द्वेषादि विकारी भाव है वे आत्मा के स्वरुप को नही पा सकते और मोह सहित सम्यग्दृष्टी योगी अपने स्वरुप के अनुभव में ऐसे दत्तचित्त होते है।

तमात्मानं कोऽसौ जानाति। योगी कोऽर्थः त्रिगुप्ति निर्विकल्पं समाधिस्थ इति।

(प. प्र. टी. १० – पृ ८५)

शंका:– आत्मा को कौन जानता है ?

समाधान:– योगी जानता है।

शंका:– वह योगी कैसा है ?

समाधान:– त्रिगुप्ति स्वरुप समाधिमें लीन होनेवाला योगी आत्मा को जानता है।

अथ समभावस्थितानां योगिनां परमानन्द जनयन् कोऽपि शुद्धात्मा स्फुरति तमाह–

जो समभाव परिट्ठियहं जोइहं कोइ फुरेइ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ॥

(प. प्र. ३५)

समभाव अर्थात जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रू-मित्र इत्यादि इन सब मे समभाव को परिणत हुए परम योगीश्वरों के अर्थात जिनके शत्रू-मित्रादि सब समान है, और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र रुप अभेद रत्नत्रय जिसका स्वरुप है, ऐसी वीतराग निर्विकल्प समाधिमें तिष्ठे हुए है, उन योगीश्वरों के हृदय में वीतराग परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो स्फुरायमान होता है वही प्रकट परमात्मा है ऐसा जानो। अर्थात उपरोक्त गुणों से युक्त होनेवाला योगी ही शुद्धात्मा से स्फुरायमान सुखानुभव कहता है।

वीतराग निर्विकल्प समाधिस्थो अन्तरात्मा परस्वरुपान् जानतीति
(प. प्र. ८९ टी.)

वीतराग निर्विकल्प समाधि स्थित अन्तरात्मा पर स्वरुप को जानता है। अर्थात भेदविज्ञान के बल से परद्रव्य से स्वद्रव्य पृथक् जानता है।

वीतराग निर्विकल्प समाधि विषयं च परमात्मानं प्रतिपाद्ययंति :-

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं जो जिय मुणहु ण जाइ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ जो परमप्पु अणाई ॥ २३ ॥

वेदैः शास्त्रैरिंदिये यो जीवमन्तु न याति।
निर्मलध्यानस्थ यो विषयः स परमात्मा अनादि ॥ २३ ॥

अर्थातः- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पांच तरह आस्रवोंसे रहित निर्मल निज शुद्धात्म के जानकर उत्पन्न हुए नित्यानंद

एकानेक रुपं व्यक्ता व्यक्तरुपं
अरुपी स्वरुपी विचित्र स्वरुपम्।
चैतन्याचैतन्य अनेकान्तरुपं
चिदानन्दरुपं नमो स्वस्वरुपम् ॥ ३ ॥

अकर्ता सकर्ता भोक्ताभोक्तंरुपं
अमूर्ति समूर्ति मुक्तामुक्त रुपम्।
ज्ञाताज्ञातरुपं ज्ञान ज्ञेयरुपं
चिदानन्दरुपं नमो स्वरुपम् ॥ ४ ॥

सुखामृत का आस्वाद उस स्वरुप परिणत निर्विकल्प अपनें स्वरुपके ध्यान कर स्वरुप की प्राप्ति है। आत्मा ध्यानगम्य ही है, शास्त्र गम्य नहीं है क्योंकि जिनको शास्त्र सुनने से ध्यान की सिद्धि हो जावे, वे ही आत्मा का अनुभव कर सकते है, जिन्होंने पाया, उन्होंने ध्यान से ही पाया है, और शास्त्र सुनना है तो ध्यानका उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूप मे अपना परिणाम लगाओ। दूसरी जगह भी अन्यथा इत्यादि कहा है। उसका यह भावार्थ है कि, वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही है। नय प्रमाणरुप है तथा ज्ञान की पंडिताई कुछ और ही है वह आत्मा निर्विकल्प है नय प्रमाण निक्षेप से रहित है वह परम तत्व को केवल आनंदरुप है और ये लोग अन्यही मार्ग मे लगे हुए है सो वृथा क्लेश कर रहे है। इस जगह अर्थरुप शुद्धात्माही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य है। यह सारांश समझना ॥

(परमात्म प्रकाश)

यत्रनेन्द्रिय सुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।
तं आत्मनं मन्यस्य जीवत्वं अन्यत्परमहर ॥ २७ ॥

जित्थुण इन्दिय-सुह-दुहइं जित्थु ण मन वावारु ।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परि अवहारु ॥ २८ ॥

गाथार्थः– जिस शुद्ध आत्म स्वभाव मे आकुलता रहित अतींद्रिय सुख से जो विपरीत जो आकुलता के उत्पन्न करनेवाले इन्द्रिय जनित सुख दुःख नहीं है। जिसमें संकल्प विकल्परुप मन के व्यापार भी नहीं है अर्थात विकल्प रहित परमात्म से मन के व्यापार जुदे है उस पूर्वोक्त लक्षण वालों को हे जीव, तू आत्माराम मान अन्य सब विभाओं को छोड !

टीका:– अनाकुलत्व लक्षण पारमार्थिक सौख्य विपरितान्याकुलत्वोंत्पादकानीन्द्रिय सुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्प परमात्मनो विलक्षणः संकल्पविकल्परुपो मनो व्यापारो नास्ति । सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्ण परि अवदारु तं पूर्वोक्त लक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्य नित्यानन्दैक रुपं वीतराग निर्विकल्प समाधौ स्थित्वा जानीहि, हे जीव त्वम् अन्यपरमात्म स्वभावाद्विपरीतं पन्चेन्द्रिय विषय स्वरुपादि विभाव समूह परम्प-

रेन दूरे सर्व प्रकारेणापहर त्यज । तात्पर्यार्थ। निर्विकल्प समाधौ सर्वत्र वीतराग विशेषणं किमर्थं कृतम् इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यतएव हेतोः वीतरागस्तत एव निर्विकल्प इति हेतु हेतु मद् भावज्ञापनार्थम् अथवा ये सरागिणोऽपि संतो वयं निर्विकल्प समाधिस्थ इति वदंति तन्निषेधार्थम् अथवा श्वेतशंखवत्स्वरुप विशेषणमिदम् इति परिहारत्रयं निर्दोष परमात्म शब्दादि पूर्वपक्षेऽपि योजनीयम् ॥ २८ ॥

भावार्थः- ज्ञानस्वरुप निज शुद्धात्मको निर्विकल्प समाधिमे स्थिर होकर जान अन्य परमात्म स्वभाव से विपरित पांच इन्द्रियों के विषय वगैरह सब विकार परिणामों को दूर से ही त्याग, उनका सर्वथा ही त्याग कर । यहांपर किसी शिष्यने प्रश्न किया कि निर्विकल्प समाधिमे सब जगह वीतराग विशेषण क्यों कहा है ? उसका उत्तर कहते है – जहांपर वीतरागता है, वहीं निर्विकल्प समाधीपना है, इस रहस्य को समझने के लिये अथवा जो रागी हुए कहते है कि हम निर्विकल्प समाधि मे स्थित है उनके निषेध के लिये वीतरागता सहित निर्विकल्प समाधि का कथन किया गया है । अथवा सफेद शंख की तरह स्वरुप प्रकट करने के लिये कहा गया है अर्थात जो शंख होगा, वह श्वेत ही होगा उसी प्रकार जो निर्विकल्प समाधि होगी, वह वीतरागतारुप ही होगी ॥ २८ ॥

गृहस्थेरभेद रत्नत्रयस्वरुपमुपादेयं कृत्वा भेद रत्नत्रयात्मक श्रावक धर्म कर्तव्यः यतिना तु रत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिक रत्नत्रयबलेन

स्वात्मस्थ स्वरुपं विश्व व्यापिरुपं
प्रमाण स्वरुपं अप्रमाण रुपम् ।
सर्वात्म स्वरुपं स्याद्वाद स्वरुपं
चिदानन्द रुपं नमो स्वरुप । ५ ॥

ध्यानातीत रुपं ध्यानमय रुपं
ज्ञानमय रुपं ज्ञेयातीत रु म् ।
सदसदरुपं अस्तिनास्ति रुपं
चिदानन्द रुपं नमो स्वस्वरुपम् ॥ ६ ॥

विशिष्ट तपश्चरण कर्तव्यं नो चेत दुर्लभ परंपरायां प्राप्तं मनुष्यजन्म निष्फलमिति ।

(अध्याय २ परमात्म प्रकाश – १३३)

अर्थः– गृहस्थों को अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय रत्नत्रय को उपादेय करके लक्षमे रख कर भेद रत्नत्रयात्मक अर्थात व्यवहार रत्नत्रयात्मक श्रावक धर्म-दान पूजादि पालन करने योग्य है । तथा यतिओं को निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद रत्नत्रय में स्थित होकर व्यवहार रत्नत्रय के वल से विशेष तपश्चरण करने योग्य है। यदि उपरोक्त कर्तव्य श्रावक तथा मुनि पालन नही करते है तो दुर्लभ परंपरा से प्राप्त मनुष्य जन्म निष्फल जाता है

इसलिये श्रावक व्यवहार मोक्ष मार्गी है, मनी निश्चय मोक्ष मार्गी है।

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं ।
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ॥
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा ।
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ ४१ ॥

(आत्मानुशासन)

गृहस्थाश्रम विद्वज्जनों के भी चारित्र को प्रायः किसी सामायिक आदि शुभकार्यो मे पूर्णतया धर्मरुप किसी विषय भोगादि रुप कार्य मे पूर्ण तया पाप रुप तथा किसी जिन गृहादि के निर्माणादि रुप कार्य मे उभय (पाप-पुण्य) रुप करता है । इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धे के रस्सी मांजने के समान अथवा हाथी के समान अथवा शरावी या पागल की प्रवृत्ति के समान सर्वथा हितकारक नहीं है ।

अनाद्यविद्या दोषोत्थ चतुःसंज्ञाज्वरातुराः ।
शश्वत्स्वज्ञान विमुखाः सागारा विषयोन्मुखा ॥

(प. आशाधर – सा. ध. २)

अनादि कालीन अविद्यारुपी दोषो से उत्पन्न होनेवाली आहार-भय मैथुन परिग्रह रुपी संज्ञा ज्वर से पीडित निरन्तर आत्मज्ञान से विमुख

एव विषयों के सुख गृहस्थ होते है अर्थात विषय भोगों मे विशेष रत होने के कारण उनका लक्ष नहीं जाता है।

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ग्रंथसंज्ञामपासितुम् ।
अपरायन्तः सागाराः प्रायो विषय मूच्छिता ॥

(पं. आशाधर – सा. ध. ३)

अनादि कालीन अज्ञान के कारण परम्परा से आनेवाली परिग्रह संज्ञा को छोडनें के लिये असमर्थ प्राय करके विषय भोगों में मूर्च्छित गृहस्थ होते है ,।

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेइ भोय परिचत्तो ।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥

(भा. सं – गा. ३६५)

भद्र ध्यानी गृहस्थ जब तक धार्मिक शुभ क्रियायें करता है तब तक वह भोगोंपभोग को त्याग करता है। इसलिये गृहस्थों को धार्मिक क्रियायें हस्तिस्नानवत् है। अर्थात धार्मिक क्रियायों के समय में किंचित संवर और निर्जरा होती है परन्तु भोगोपभोग के समय आश्रव एव बंध हो जाता है।

पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थों को होने योग्य ध्यान–

अट्ठाउद्दं ज्झाणं मद्दं अत्थिति तम्हि गुणठाणे ।
बहु आरम्भ परिग्गइ जुत्तस्स च णत्थि त धम्मं ॥

(भा. सं. – गा. ३५०)

न कर्मो नो कर्म न रागादि रुपं
न लेश्या न योग न भोगादि रुपम् ।
न वर्णं न गंधं न रसादि रुपं
चिदानन्द रुपं नमो स्वस्वरुपम् ॥ ७ ॥
न पुण्यं न पापं न जन्मं न मृत्युं
न मित्रं नामित्रं न शिष्यं न गुरुम् ।
न दीनं न हीनं न वृद्धो न बालो
चिदानन्द रुपं नमो स्वस्वरुपम् ॥ ८ ॥

इस पंचम गुणस्थान में आर्त-रौद्र ध्यान एवं भद्र ध्यान होता है। श्रावक बहु आरम्भ और परिग्रह से सहित होने के कारण उनको धर्म-ध्यान नहीं होता है।

गिह वावार रयाणं गेहीणं इंदियत्थं परिकलियं।
अट्ठज्झाणं जायइ रूद्दं वा मोह छण्णाणं॥
झाणेहिं तेहिं पावं उप्पण्णं तं खवइ भद्द झाणेण।
जीवो उवसम जुत्तो देसजई णाण संपण्णो॥

(भा. सं. – गा. ३६३–३६४)

कृषि वाणिज्यादि व्यापार करनेवाले गृहस्थों को नाना प्रकार के इन्द्रिय मोहक पदार्थ विषयमें आर्त ध्यान उत्पन्न होता है। मोह से युक्त गृहस्थों को रौद्र ध्यान भी होता है। पर दोनों ध्यान से उत्पन्न पाप को उपशमानेवाले एवं ध्यान संपन्न श्रावक भद्रध्यान के माध्यम से नाश करता है।

असुह कम्मस्स णासो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण।
इय चिंतं तस्स हवे अपाय विचयं परं झाणं॥

(भा. सं. – गा. ३६८)

अशुभ कर्म का नाश होकर शुभ कर्मों की प्राप्ति किन उपायों से होगी ऐसा विचार करनेवाला गृहस्थ अपाय विचय नामक धर्म ध्यान का स्वामी होता है।

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमाय विरहिए ठाणे।
देश विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्व॥

(भा. सं. – गा. ३७१)

यह चार प्रकार का धर्मध्यान मुख्य रीति से अप्रमत्त गुणस्थान में होता है। एवं देश विरत और प्रमत्त विरत इन दोनों गुणस्थानों मे उपचार से धर्म ध्यान होता है ऐसा जानना चाहिये।

सेतु सुद्धो भावो तस्सुवलंभो य होई गुणठाणे।
पणदह पमाद रहिये सयलवि चारित्त जुत्तस्स॥

(भा. सं. – गा. ६)

जो शुद्ध भाव सेवन करने योग्य है। उसकी प्राप्ति पन्द्रह प्रकार के प्रमाण से रहित सकल चारित्र से युक्त अप्रमत्त विरत गुणस्थान मे होती है।

इन्दिय विसय विरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अविअप्प सरूवे अप्पणो तं तु॥

(तत्त्वसार – गा. ६)

जब इन्द्रिय विषयों से विरक्त हुआ मन स्थिरता को प्राप्त होता है तब निर्विकल्प तत्त्व अपने स्व स्वरुप में स्थिरता को प्राप्त होता है

समणे णिच्चल भूये णठ्ठे सव्वे वियप्प संदोहे।
थक्को सुद्ध सहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो॥

(तत्त्वसार – गा. ६)

सर्व विकल्प समूह नाश होनेपर एवं मन स्थिर होनेपर निर्विकल्प स्थिर, निश्चय, नित्य अर्थात शाश्वत ऐसा जो शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है।

ध्याता का लक्षण:–

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठाणिठ्ठ अठ्ठेसु।
स्थिर मिच्छहि जह चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए॥

(द्र. सं. – गा. ४८)

हे भव्य जनों ! यदि तुम न ना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिय चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो

न देवं न नरं न नारकी रुपं
न लिंग नालिंग लिंगातीतरुपम्।
न आद्यं न मध्यं न अन्तं न शून्यं
चिदानन्द रुपम् नमो स्वस्वरुम्॥ ९॥
निर्दण्डं निद्वन्द्वं निर्मम् निर्दोषं
निक्षोभ निष्काम भयातीत रुपम्।
अक्षयं अनन्तं गुणाधीश रुपं
चिदानन्द रुपं नमो स्वस्वरुपम्॥ १०॥

इष्टानिष्ट रुप जो इन्द्रियों का विषय है उनमे राग-द्वेष और मोह को मत करो।

समस्त राग-द्वेष-मोह से उत्पन्न हुए विकल्पों के समूह से रहित जो निज परमात्मा के समूह की भावना से उत्पन्न हुआ परमानन्द रुप एक लक्षण सुखामृत रस उससे उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वादन में तत्पर हुए जो मग्न हुई परम कला अर्थात परम सवित्ति है। उस मे स्थित होकर हे भव्य जीवो ! मोह-राग-द्वेष को मत करो।

शंका:– किन मे राग-द्वेष-मोह मत करो ?

समाधान:– माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बुल आदिरुप जो इन्द्रियों के विषय मे राग-द्वेष-मोह मत करो। यदि तुम परमात्म के अनुभव में निश्चल चित्त को जानना चाहते हो तो नाना प्रकार जो ध्यान है उसकी सिद्धि के लिये चित्त से उत्पन्न होनेवाला शुभाशुभ विकल्पों का समूह जिसमें विचित्त ध्यान, उस विचित्त ध्यान अर्थात निर्विकल्प ध्यान के लिये राग-द्वेष-मोह मत करो।

इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग रोग को दूर करने तथा भोगोपभोगों के कारणों की इच्छा रखने रुप भेदों से चार प्रकार का आर्त ध्यान है। यह आर्त्त ध्यान न्यूनाधिक भाव से मिथ्यादृष्टी गुणस्थान को आदि लेकर प्रमत्त विरत गुणस्थान पर्यन्त जो छह गुणस्थान है उनमें रहनेवाले जीवों के होता है। और यह आर्त्त ध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टी जीवों के निर्ग्रन्थ गति के बन्ध का कारण होता है तथापि जिस सम्यग्दृष्टी ने पहले तिर्यंच गति की आयु को बांध लिया है उस सम्यग्दृष्टी जीव को छोड़कर अन्य जो सम्यग्दृष्टी जीव है उनके तिर्यंच गति के बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टी जीवों के निज शुद्धात्मा के ग्रहण करने की भावना के बल से तिर्यंचगति का कारणरुप जो संक्लेश भाव है उसका अभाव है।

हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द या विषयसंरक्षणानन्द के भेद से रौद्र ध्यान चार प्रकार का है। यह न्यूनाधिक भाव से मिथ्यात्व गुणस्थान से पंचम गुणस्थान पर्यंत रहनेवाले जीवों के उत्पन्न

होता है। यह रौद्र ध्य न मिथ्यादृष्टी जीवों के लिये नरकगति का कारण है तो भी जिस सम्यग्दृष्टीने नरकायु बन्ध की है उसको छोडकर अन्य सम्यग्दृष्टीयों को नरकगति का कारण नहीं है। क्योंकि सम्यग्दृष्टीयोंके निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। इसलिये विशिष्ट ध्यान के बल से नरक गति का कारणभूत जो तीव्र संक्लेश नहीं होता है।

आज्ञा विचय - अपाय विचय - विपाक विचय एवं संस्थान विचय इन चार भेदों से भेद को प्राप्त हुआ धर्म ध्यान न्यूनाधिक वृद्धि के क्रम से अविरत सम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत गुण-स्थानवर्ती जीवों को उत्पन्न होता है। मुख्यवृत्या पुण्यबन्ध कारणमपि परंपरया मुक्ति कारणं चेति धर्मध्यानं"। यह धर्मध्यान मुख्यरुप से पुण्य बन्ध का कारण है तो भी परंपरा से मोक्ष का कारण है।

आज्ञाविचय धर्मध्यान–

अल्प वृद्धि का धारक विशेष ज्ञान के धारी गुरुके अभाव मे शुद्ध जीवादि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर भी जिनदेव के आज्ञानुसार तत्त्वों को ग्रहण करना अर्थात श्रद्धान रखना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्यन्न हन्यते।
आज्ञा सिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः॥

श्री जिनदेव का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतु अर्थात तर्क से खंडित नहीं हो सकता। इसलिये जो सूक्ष्म तत्त्व है उसको आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जिनेंद्रदेव अन्यथावादी अर्थात झूठा उपदेश नही देनेवाले है। इसलिये भगवान की वाणी को प्रमाण मानकर जो पदार्थों का निश्चय करता है। इसे आज्ञा विचय नामक धर्मध्यान कहते है।

अपाय विचय धर्मध्यान -

भेद तथा अभेदरुप रत्नत्रय की भावनाके बल से अपने अथवा अन्य

ज्ञानमय सुखाकरं चैतन्य विभूः सर्वज्ञम्।
मम सर्वस्य गुरु प्रभु पिता माता नमाम्यहम्॥ ११॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जीवों के कर्मों के नाश का विचार करना अर्थात वर्तमान में इन प्राप्त हुए दुःखों से छुटकारा कब मिलेगा इस प्रकार जो विचार करता है उसको अपाय विचय नामक धर्मध्यान जानना चाहिय

विपाक विचय धर्मध्यान–

शुद्ध निश्चय नय से यह जीव अशुभ कर्मों के उदय से रहित है तो भी अनादी कर्मों के बन्ध के वश से पाप के उदय से नारकादि गतियों मे दुःखरुप विपाकरुप फल का अनुभव करता है। और पुण्योदय से देवादि गतियो मे सुखरुप विपाक को भोगता है। उस प्रकार कर्म फल-विपाक का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

संस्थान विचय धर्मध्यान–

ऊपर कही हुई जो लोकानुप्रेक्षा का चिंतन करता है वह संस्थान विचय नामका धर्मध्यान है।

इस प्रकार चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

पृथक्त्ववितर्क वीचार शुक्ल ध्यान–

द्रव्य-गुण और पर्याय इनका जो जुदापना है उसको पृथक्त्व कहते है। निज शुद्धात्मा का अनुभव रुप भावश्रुत अथवा निज शुद्धात्मा को कहनेवाला जो अन्तरंग वचन है वह वितर्क कहते है। निरीहवृत्ती से अर्थात विना इच्छा किये अपनें आप ही जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में एक वचन से दूसरे वचन में और मन-वचन-काय इन तीनों योगों में एक योग से दूसरे योग मे जो परिणमन है उसको वीचार कहते है। त्याग करनेंवाला निज शुद्धात्मा के ज्ञान को छोडकर बाह्य पदार्थों की चिंता नही करता अर्थात निज आत्मा का ध्यान करता है। तथापि जितने अंशों से उसके आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों में अनिहित वृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते है इस कारण से इस ध्यान को पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान कहते है।

यह प्रथम शुक्ल ध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा मे अपूर्वकरण उपशमक, अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्म सांपराय उपशमक और उपशान्त मोह इन आठवा-नवमा-दसवा ग्यारहवाँ पर्यंत जो चार गुणस्थान

है उनमें होता है। और क्षपक श्रेणी की विवक्षामें अपूर्वकरण क्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक, और सूक्ष्म सांपराय क्षपक नाम के धारक जो आठवे से दसवे तक तीन गुणस्थान है ! इनमें होता है।

एकत्ववितर्क वीचार शुक्लध्यान–

आत्म द्रव्य मे अथवा विकार रहित जो आत्मा का सुख है उसे अनुभव पर्याय मे अथवा उपाधि रहित निज आत्मा का जो ज्ञात गुण है उसमें उन तीनों मे से जिस एक द्रव्य-गुण या पर्याय में ध्यानी प्रवृत्त हो गया उसं मे वितर्क नामक जो निजात्मानुभव रुप भावश्रुत का बल है। उससे स्थिर होकर जो वीचार अर्थात द्रव्य-गुण-पर्याय में परावर्तन करता है वह एकत्व वितर्क वीचार, क्षीण कषायवर्ती गुणस्थान में होनेवाला शुक्लध्यान है।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान–

यह उपचार से सयोग केवली जिन नामक तेरहवें गुणस्थान मे होता है।

व्युपरतक्रिया निवृत्ति-शुक्लध्यान–

विशेषता करके उपरत अर्थात दूर हुई है क्रिया जिसमे वह व्युपरत क्रिया है। व्युपरत क्रिया हो या अनिवृत्ति अर्थात निवर्तक न हो वह व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान है। और अध्यात्म भाषा से सहज शुद्ध परम चैतन्य से शोभायमान तथा निर्भर आनंद के समूह को धारण करनेवाला जो भगवान निज आत्मा है उसमें उपादेय बुद्धि करके अर्थात निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है एसे बुद्धि को करके फिर जो " मैं अनंतज्ञान का धारक हूँ, मैं अनंत सुख का धारक हूं " इत्यादि भावनाको करता है। इस रुप अन्तरंग धर्मध्यान कहा जाता है और पंचपरमेष्ठीयों की भक्ति को आदिसे उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठान का करना है वह बहिरंग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज शुद्ध आत्मा में विकल्प रहित ध्यान रुप लक्षण का धारक शुक्लध्यान है। अथवा मत्र वाक्य मे–

पंचम काल में क्या भावश्रुतकेवली हो सकते है ?

जो हि सुदेणभिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुद केवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।

(स सा. – गा. १०)

तात्पर्यवृत्तिः–यः कर्ता भावश्रुतेन स्वसंवेदज्ञानेन निर्विकल्प समाधि ना करनभूतेन अभिसमंज्जानात्यनुभवति कं आत्मान इमं प्रत्यक्षीभूतं पुनः किं विशिष्टं असहायं रागादि रहितं पुरुषं निश्चयश्रुत केवलिनं परम ऋषयः कथयंति लोक प्रदीप कराः लोक प्रकाशकः इति । अनया गाथया निश्चयश्रुत केवलि लक्षणं । अथ यः कर्त्ता द्वादशांग द्रव्यश्रुतं सर्व परिपूर्णं जानाति व्यवहार श्रुतकेवलिनं तं पुरुषं आहु श्रुवन्ति के ते ? जिनाः सर्वज्ञाः ।

कस्मादिति चेत यस्मात् कारणात् द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुत ज्ञानं आत्मा भवति कथभूत आत्म संवित्ति विषय परमरिच्छित्ति विषयं वा तस्मात् कारणात् द्रव्यश्रुत केवलि स भवतीति ।

अयमत्रार्थः–यो भावश्रुतरुपेण स्वसंवेदन ज्ञानेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चय श्रुत केवलि भवति । यस्तु स्वशुद्धात्मानं न सवेदति न भाव-यति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहार श्रुतकेवलि भवतीति ।

ननु तर्हि स्वसंवेदन ज्ञानबलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवलि भवति ? तन्न यादृश पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरुपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्मध्यान योग्यमस्तित्यर्थः ।

(स. सा. त. पृ. १०)

जो द्वादशांग के द्वारा अपनी शुद्धात्मा को अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चयश्रुतकेवली कहते है । और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो संपूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन भगवान द्रव्यश्रुत केवली कहते है ।

जो जीव कर्ता (करणता) को प्राप्त हुए निर्विकल्प समाधिरुप स्वसंवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरुप से अपने अनुभव मे लाता है, उस प्रत्यक्षीभूत अपनी आपकी आत्मा को सहाय रहित अर्थात निरा-लम्ब, रागादि रहित अनुभव मे लाता है उस पुरुष को निश्चय श्रुत

केवली कहते हे। कौन कहते है ? लोकालोक के प्रकाशक परम ऋषी कहते है। इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चय श्रुत केवली का लक्षण कहा गया है।

किंतु जो पुरुष द्वा शांग द्रव्यश्रुत ज्ञान को परिपूर्ण रुप जानता है उसे जिन भगवान द्रव्यश्रुत केवली कहते है। क्योंकि द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भावश्रुत है वह आत्मा ही है जो कि आत्मा की संवित्ति को विषय करनेवाला और पर की परिच्छित्ति को विषय कहने वाला होता है इसलिये वह द्रव्यश्रुत केवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भावश्रुत रुप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवली अपनी शुद्धात्मा को जानता है वह निश्चय श्रुत केवली होता है। किंतु जो अपनी शुद्धात्मा का अनुभव नही कर रहा है न उसकी भावना कर रहा है। केवल बहिर्विषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थो को जान ता है वह व्यवहार श्रुत केवली होता है।

इस पर शिष्य कहता है कि–

शंका:– फिर तो स्वसंवेदनज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुत केवल हो सकता है ऐसा समझना चाहिये क्या ?

समाधान:– इसका समाधान यह है कि, इस काल से श्रुतकेवली नहीं हो सकता है। क्यों क जैसा शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदन ज्ञान पूर्व पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता है। किन्तु इस काल मे तो यथा योग्य धर्मध्यान ही हो सकता है।

जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ।
अप्पहं केरइ भावडइ बिबिउ जेण वसेइ॥

(म. प्र. अध्या. २ – गा. ९९)

जोइक अप्पे जाणिएण हे योगिन आत्माना ज्ञातेन। किं भवति। जागु जाणियउ हवेइ जगम् त्रिभूवनं ज्ञातं भवति। कस्मात्। अप्पहं केरइ भावडइ बिबिउ जेण वसेइ आत्मनः संबन्धिनि भावे केवलज्ञान पर्याये बिम्बितं प्रतिबिम्बितं येन प्रकारेण वसति तिष्ठतीति।

अयमर्थः– स्वरुप ज्ञातं भवति। कस्मात्। यस्माद्राघव पाण्डवादयो

महापुरुषा जिन दीक्षा गृहीत्वा द्वादशांग पठित्वा द्वादशांगध्ययन फलभूते निश्चय रत्नत्रयात्मके परमात्म ध्याने तिष्ठन्ति तेन कारणेन वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानेन निजात्मा ज्ञाते सति सर्व ज्ञात भवतीति। अथवा निर्विकल्प समाधि समुत्पन्नपरमानन्द सुखरसास्वादे जातो सति पुरुषो जानाति किं जानाति। वेत्ति मम स्वरुपमन्यदेह रागादिक परमिति तेन कारणनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवन्ति। अथवा आत्मा कर्म श्रुतज्ञान रुपेण व्याप्ति ज्ञानेन करणभूतेन सर्व लोकालोक जानाति तेन कारणेनात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति। अथवा वीतराग निर्विकल्प त्रिशुद्धी समाधी बलेन केवलज्ञानोत्पत्ति बीजभूतेन केवलज्ञाने जाते स्मति दर्पणे बिम्बवत् सर्व लोकालोक स्वरुपं विज्ञायत इति हेतोरात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञानं भवतीति। अभेद व्याख्यान चतुष्टयं ज्ञात्वा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्याग कृत्वा सर्व तात्पर्येण निज शुद्धात्म भावना कर्तव्येति: तात्पर्यम्।

हे योगी! एक अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना जाना है। क्योंकि आत्मा के भावरुप केवलज्ञान मे यह लोक प्रतिबिंबित हुआ है, बस रहा है।

भावार्थ:– वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानसे शुद्धात्म तत्त्व के जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है। क्योंकि जैसे रामचंद्र पांडव, भरत सगर आदि महान पुरुष भी जिन दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढकर द्वादशांग पढने का जो फल निश्चय रत्नत्रय स्वरुप जो शुद्ध परमात्मा उसके ध्यान में लीन हुए विष्ठे है। इसलिये वीतराग स्वसंवेदन जानकर अपने आत्माका जानना ही सार है। आत्मा के जानने से सबका जानपना सफल होता है। इस कारण जिन्हो ने अपनी आत्मा जानी उन्होंने सब को जाना। अथवा निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्द सुखरस उसके आस्वाद होने पर ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है, कि मेरा स्वरुप जुदा है। और देह रागादिक मेरे से दूसरे है मेरे नहीं है। इसलिये आत्मा के जानने से सब भेद जाने जाते है, जिसने अपने को जान लिया उसने अपने से भिन्न सब पदार्थ जाने। अथवा आत्माश्रुतज्ञानरुप सब लोकालोक को जानता है। इसलिये आत्मा के जानने से सब जाना गया। अथवा वीतराग-निर्विकल्प परमसमाधि के

दल से केवलज्ञान को उत्पन्न करके जैसे दर्पण मे घटपटादि पदार्थ झलकते है उसी प्रकार ज्ञान रुपी दर्पण में सब लोकालोक भासते है। इससे यह बात निश्चय हुई कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है।

यहांपर सारांश यह है कि इन चारों व्याख्यानों का रहस्य जानकर बाह्य अभ्यन्तर सर्व परिग्रह छोडकर सर्व तरह से अपने शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये।

अथ केवलज्ञान श्रुतज्ञानिनोरपि शेष दर्शनेन विशेषाकांक्षा क्षोभं क्षपयति–

अब केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी के अविशेष दिखलाते हुए विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते है।

जो हि सुदेण विजाणादि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
त सुयकेवलिमिसिणो भणन्ति लोयप्पदीवयरा॥

(प्रवचनसार – ३३)

जो वास्तव में श्रुतज्ञान से (निर्विकल्प रुप भावश्रुत परिणाम से) स्वभाव से ज्ञायक स्वभावी आत्म द्रव्य को जानता है। लोक के प्रकाशक ऋषीगण उसको श्रुतकेवली कहते है।

य। कर्ता स्फुटं निर्विकाररुपं स्वसंवित्ति रुप भाव श्रुत परिणामेन विजानाति विशेषेण जानाति। विषय सुखानन्द विलक्षण निज शुद्धात्मोत्थपरमानन्दैक लक्षण सुखरसास्वादेनानुभवति। कम्। निजात्म द्रव्यं कथभूतं। ज्ञायक केवलज्ञान स्वरुपं। केन कृत्वा। समस्त विभावरहित स्वस्वभावेन। तं महायोगीन्द्र श्रुतकेवलिनं कथयन्ति। के कर्त्तारः। ऋषयः। किं विशिष्टाः। लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशकाः इति। अतो विस्तरः– युगपत् परिणत समस्त चैतन्यशालिनः केवलज्ञानेन अनाद्यनन्त निःकारणान्यद्रव्यासाधारण स्वसंवेद्यमान परम चैतन्य सामान्य लक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवल य त्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवानकेवली भवति, तथायं गणधरदेवादि निश्चय रत्नत्रयाराधकजनोपि पूर्वोक्त लक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेंन स्वसंवेदनानिश्चयाश्रुत केवली भवतीति। किंच यथा कोपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि

प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवस स्थानीय मोक्ष पर्याये भगवानात्मानं पश्यति। संसारी विवेकजनः पुनर्निशास्थानीय संसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादि-विकल्प रहित परम समाधिना निजात्मानं पश्यतीति। अथमत्राभिप्रायः आत्मोपरोक्षः कथं ध्यान क्रियते इति सन्देह कृत्वा परमात्म भावना न त्यज्यति।

(प्र. सा. ता. वृ. गा. ३३ पृ. ७८)

जो कोई पुरुष निश्चय से निर्विकार स्वसंवेदन रुप भावश्रुत रुप परिणाम के द्वारा समस्त विभाओं से रहित स्वभाव से ही ज्ञायक अर्थात केवलज्ञानरुप निज आत्मा को विशेष करके जानता है। अर्थात विषयों के सुख से विलक्षण अपनें निज शुद्धात्मा की भावना के बल से पैदा होने वाले परमानन्द मयी एक लक्षण को रखनेवाले सुख रस के आस्वाद से अनुभव करता है। लोक के प्रकाशक ऋषी उस महायोगीन्द्र को श्रुत-केवली कहते है।

इसका विस्तार यह है कि एक समय मे परिणमन करनेव ले सब चैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि अन्त से रहित अन्य किसी कारण के विना दूसरे द्रव्यों मे न पाईये ऐसे असाधारण अपने आपसे अपने में अनुभव आने योग्य परम चैतन्य रुप सामान्य लक्षण को रखनेवाले तथा परद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसे आत्मा का आत्मा से स्वानुभव करने से जैसे भगवान केवली होते है वैसे ही यहाँ गणधर आदि निश्चय रत्नत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व मे कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी श्रुत ज्ञान के द्वारा अनभव करनें से श्रुतकेवली होते है। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई एक देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य का उदय होने से दिवस में देखता है और रात्रि में भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है, वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान केवली आत्मा देखते है और संसारी विवेकी जीव रात्री के समान ससार अवस्था मे दीपक के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपनी आत्मा को देखते है। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है उसको ध्यान कैसे किया जाय ऐसा सन्देह करके परमात्माकी भावना को नहीं छोड देना चाहिये।

सपलागम पार गया सुद केवलिणाम सुप्पसिद्धा जे ।
एदाण बुद्धि रिद्धि चोद्दसपुव्वित्त णामेण ॥
(ति. प. अ. ४ गा. १००१)

जो महर्षि संपूर्ण आगम के पारंगत है और श्रुत केवली नाम से प्रसिद्ध उनके चौदह पूर्व नामक ऋद्धि बुद्धि होती है।

णमो चोद्दस पुव्वीपाणं ॥ १३ ॥ ध. ४-१-१३

" सयलसुदणाण धारिणो चोत्रसपुव्विणो " अर्थात चौदह पूर्व के धारियों को नमस्कार हो। समस्त श्रुत ज्ञान के धारक चौदह पूर्वी कहे जाते है।

जो चौदह पूर्व के धारक महामुनि होते है, वें मिथ्यत्व को प्राप्त नहीं होते है और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं करते है।

श्रुतकेवली भावलिंगी चौदह पूर्व धारी महामुनी ही होते है ! संयम रहित चौदह पूर्व धारी भी श्रुतकेवली नही होते है। जैसे कोई देव चौदह पूर्व के धारी क्षायिक सम्यग्दृष्टी होते हुये भी वे श्रुत केवली नही हो सकता है। क्योंकि उनके संयम का अभाव है। जो महामुनि भावश्रुत के माध्यम से स्वसंवेदन ज्ञान रुप निर्विकल्प परमसमाधि के बल से आत्मा को सम्पूर्ण ओर से जानता है, अनुभव करता है, भले

दुराग्रही एवं सत्याग्रही–

आग्रही बत निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्ट ।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम ॥
दुराग्रही मनुष्यने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्ति को।
उसी ओर ले जाना चाहता है, किन्तु जो आग्रह से रहित
होकर निष्पक्ष दृष्टी से विचार करना चाहता है वह युक्ति
का अनुसरण करके उसके उपर विचार करता है, और
तदनुकूल वस्तुस्वरुप का निश्चय करता है।
दुराग्रही " Mine is Right " मानता है।
सत्याग्रही " Right is Mine " मानता है।

वह सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के ज्ञान का ज्ञाता नहीं होते हुए भी वह भावश्रुत का ज्ञाता होता है । परन्तु सांप्रतिक पचम काल मे शुक्ल ध्यान रूप निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है इसलिये वर्तमान मे कोई भावश्रुत केवली भी नहीं है । उसी प्रकार द्रव्यश्रुत केवली भी नहीं है । पचम काल मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुये है । उसके बाद श्रुतकेवलीरूप सूर्य का अस्त हो गया । शुभोपयोगी रूप श्रुतकेवली नहीं है । क्योंकि शुभोपयोगी निर्विकल्प परम समाधि में लीन होकर आत्मा को पूर्ण रूप अनुभव नही कर सकता है ।

शुभ क्रियाओं से कर्म निर्जरा–

आपासयाइ कम्मं, विज्जावच्चं च दाण पूजाइं ।
ज कुणइ सम्मादट्ठी, त सव्व णिज्जरा णिमित्तं ॥

देव वन्दनादि सामायिक कर्म मुनियों की सेवादि, दान कर्मादि जो शुभ क्रियायें सम्यग्दृष्टी जीव करते है उससे कर्म की निर्जरा होती है ।

समत्तुप्पत्ती वि य सावय विरये अणंत कम्मसे ।
दंसव मोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसते ॥
खवये य खीण मोहे जिणे य णियमा हवे असंज्जा ।
तव्विवरिओ कालो संखेज्ज गुणाए सेढीए ॥

तीनों करणों के अन्तिम समय में वर्तमान विशुद्ध मिथ्यादृष्टी जीव के जो गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी निर्जरा होनेपर असंयत सम्यग्दृष्टी में प्रति समय होनेवाली गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असख्यात गुण है । उससे देश विरति के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे सकल संयमी के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे अनन्तानुबन्धी कि संयोजना करनेवाले के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असख्यात गुणा है । उससे दर्शन मोह की क्षपणा करनेवाले जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती उपशम जीव के गुण श्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे उपशांत कषाय जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे अपूर्वकरण

आदि तीन गुणस्थानवर्ती क्षपक जीव के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असख्यात गुणा है । उससे क्षीण मोह जीव के गुणश्रेणी निजरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे स्वस्थान केवली जिन के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है । उससे समुद्घात केवली जिन के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है ।

परन्तु गुणश्रेणी आयाम का काल इसमे विपरीत है अर्थात समुद्-घात केवली से लेकर विशुद्ध मिथ्यादृष्टी तक काल क्रम से असंख्यात गुणा है ।

(भो. जी. - धवल - ज. ध पु. १– पृ. ९७)

भावार्थः–इस उपरोक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि मिथ्या-दृष्टीसे सम्यग्दृष्टी असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है । और अविरत सम्यग्दृष्टीसे देश सयत गुणस्थानवर्ती जीव असंख्यात गुणीत कर्म निर्जरा करता है । और इनसे एक एकलसंयमी असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है । मुख्यरुप से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती से लेकर सातवाँ गुणस्थान पर्यंत शुभध्यान है । अतः यदि शुभध्यान से कर्म निर्जरा नहीं होती है ऐसा माननेपर आगम विरोध होगा । आगम त्रिकाल अबाधित सत्य है कभी अन्यथा नहीं हो सकता है ।

अतः सिद्ध हुआ कि उत्तरोत्तर शुभध्यान (शुभोपयोग) से अधि-काधिक कर्म निर्जरा होती है ।

" पर मोक्ष हेतु " !

(त. सू. अध्याय – ९)

आगे के दो शुभ और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हे ।

उपरोक्त गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों के अनुभाग बन्ध उत्तरोत्तर

चार चरमोत्कृष्ट–

दानं दुर्गतिनाशाय शीलं सद्गतिकारणं ।
तपः कर्मविनाशाय भावना भवनाशिनी ।।
दान से नरकादिकुगति नाश होता है, शील से सद्गति मिलती है
तपः से कर्मनाश होता है, भावना से भवनाश होता है ।

बढती जाती है। यदि पुण्य प्रकृति सर्वथा संसार का कारण होता है तो उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती जीव अधिकाधिक दीर्घ संसारी होने अतः पुण्य संसार का कारण कहना आगम विरोध है। जिन भगवान कि मुख से निकली हुई द्वादशांग वाणी मे मुनियों को मुख्य करके आचारांग का वर्णन है। और यथायोग्य धर्म को धारण करनेंवाले गृहस्थों के लिय उपासकाध्ययन अंग का वर्णन है, जो कि शुभ ध्यान स्वरुप है, पुण्य बन्ध का कारण है! यदि शुभ क्रियाओं से सिर्फ पुण्य बन्ध ही होता है संसार काही कारण है तो क्या जिन भगवान के मुख से निकली हुयी वाणी संसार का कारण है? क्या जिन भगवान अनन्त दुःख स्वरुप संसार मे परिभ्रमण कराना चाहते है? अतः पुण्य ससार का कारण कहना हेय करना यह जिन भगवान के वाणी या श्रुत का अवर्णवाद है।

पुण्य प्रकृति शुभध्यान से अथवा आदि के तीन शुक्लध्यान से भी नष्ट नहीं होता है। केवल अयोग गुणस्थानवर्ती के चरम समय मे नष्ट होता है उसके पहले नहीं।

सातावेदनीय उक्कस्साणुभागं बन्धिय खीणकसाय सजोगि-अजोगि गुणठ्ठाणाणि उवगयस्य वेयणीय उक्कस्साणुभागो एदेसु गुणठ्ठाणेसु लब्धदि।

साता वेदनीयके उत्कृष्ट अनुभाग को बांधकर क्षीण कसाय सयोगि और अयोगी गुणस्थान को प्राप्त हुए जीव के इन गुणस्थानों में वेदनीय का उत्कृष्ट अनुभाग पाया जाता है।

(ज. ध. पु. ४ पृ. १७)

सुभाणं कम्माणमणुभाग घादो णत्थि।

शुभ कर्मो का अनुभाग घात नहीं होता है।

(ध. पु. १ पृ. २७२)

शुभोपयोग का स्वरुपः—

दव्वत्थिकाय धप्पण तच्च पयत्थेसु सत्त णवमेंसु।
बन्धण मोक्खे तक्कारणरुवे बारसणुवेक्खे॥

रयणत्तय स्सरुवे अज्जाकम्मो दयादि सद्धम्मे ।
इच्चेव माइगे जो वट्टदि सो होदि सुहभावो ॥

छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, संसार और उसके कारणरुप आश्रवबन्ध और मोक्ष के कारण स्वरुप संवर-निर्जरा-बारह अनुप्रेक्षा-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र रुप रत्नत्रय धर्म, आर्य कर्म (शुभ कर्म, श्रावक और मुनि के यथायोग्य षडावश्यक दान पूजादि सद्धर्म इत्यादि रुप जो उपयोग है वह शुभभाव है ।

(रयणसार - ६४-६५)

साता पुण्यास्रव वेदनीय आस्रव के कारण-

दया दानं तपः शीलं सत्य शौच दमः क्षमा ।
वैयावृत्य विनीतिश्च जिन पूजार्जवं तथा ॥
सराग संयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।
भूत व्रत्यनुकंपा च सद्वेद्यासाव हेतवः ॥

(गा. - २५-२६)

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौचं, इन्द्रिय, दमन, क्षमा, वैयावृत्ति विनयता, जिन पूजा, सरलता तथा सराग संयम, संयमासंयम, जीव, दया आदि साता वेदनीय के कारण है । यदि शुभोपयोग को धर्म नहीं मानेंग तो उपरोक्त समस्त गुणों का अभाव हो जायेगा । जिस से व्यवहार तीर्थ का विच्छेद होगा । व्यवहार तीर्थ का विच्छेद होने से धर्म का लोप होगा । धर्म के लोप से इह लोक सुख स्वर्गादि अभ्युदय सुख लोप होगा ।

सिद्धांत कौनसा श्रावक पढ सकता है ?

सम्यक्त्व व्रतसंयुक्तै। श्रावकैः शीलधारिभिः ।
पठनीयं सुसिद्धान्तं रहस्ये न विना हि तत् ॥
जो श्रावक सम्यक्त्व सहित है, व्रतों का पालन करनेवाला है शीलसम्पन्न है वह सिद्धांत शास्त्र रहस्य स्त्रशा को पढ सकता है । यदि उपरोक्त गुणों से रहित है तो सिद्धांत शास्त्रको नहीं पढना चाहिये ।

इ ना ही नही नीति नियम सदाचार का लोप होने से देश, राष्ट्र समाज परिवार में अन्याय, दुराचार चलेगा जिससे बहुत बडा विप्लव होगा और सर्वत्र अशान्ति ही फैलेगी। इसलिये शान्ति स्थापना के लिए सम्यक् शुभोपयोग अत्यन्त आवश्यक है। जो कि मात्र स्वर्गादि अभ्युदय सुख में ही कारण नही बल्कि परम्परा से मोक्ष का भी कारण है।

अनेक आचार्य भी जिनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा किये है ऐसे पूज्यपादाचार्य अपनें वचन को पवित्र करने के लिये जिन भगवान की स्तुति करते हुए अन्त में यहाँ तक कहते है कि–

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाण संप्राप्ति ॥ ६ ॥

(समाधि भक्ति – पूज्यपादाचार्य – श्लो. ६)

आपके पुनीत चरण मेरे हृदय मे एवं मेरे हृदय आपके पवित्र चरण मे हे जगज्जेष्ठ परमाराध्य त्रिलोकाधिपती जिनेन्द्र ! तब तक रहे, जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो। अर्थात मैं सदा आपके चरण के उपासक बन के रहूँ।

पुण्य फल–

काणि पुण्ण फलाणि ?

तित्थयर गणहर रिसि चक्कवट्टि बलदेव वासुदेव सुर-विज्जाहरिद्धिओ।

(ध. १-१-२ – पृ. १०५)

शंका:– पुण्य के फल कौन से है ?

समाधान:– तीर्थंकर, गणधर, ऋषी, चक्रवर्ती देव, बलदेव, वासु देव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल है।

पाप का स्वरुप–

पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम्। ददसद्वद्यादि।

जो आत्मा को शुभ से बचाता है, वह पाप है।

जैसे – असाता वेदनीय

(स. सि. अध्याय ६ - सू. ३ पृ. २२०)

पापं नाम अनभिमतस्य पावकं ।

(भ. आ. वि. ३४–१३४)

अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति जिस से होती है ऐसे कर्म को पाप कहते है।

पापास्रव कारण–

चरिय पमाद बहुला कालस्स लोलदा य विसयेसु ।
परपरित्ताव पवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥

(पंचास्तिकाय – गा. १३९)

लालुपता, पर को परता करना तथा पर के अपवाद बोलना यह सब पाप के आश्रव के कारण है ।

पाप बन्ध का कारण–

अथ देव शास्त्र मुनीनां योऽसौ निन्दा करोति तस्य पाप बन्धो भवति ।

देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेई ।
णियमे पाउ हवेइ तसु जे संसारु भमेइ ॥ ६२ ॥

(परमात्म प्रकाश द्वितीय अधिकार)

देव शास्त्र गुरु की जो निंदा करत है, उससे महान पाप का बन्ध होता है, वह पापी पाप के अभाव से नरक निगोदादि खोटी गतियों मे अनन्त काल तक भटकता है ।

वीतराग देव, जिन सूत्र और निर्ग्रन्थ मुनियों से जो जीव द्वेष

गुरु बिन कौन दिखावे वाट–

पुस्तकाधितो नाधितो गुरु सन्निधौ ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भजया स्त्रीया: ॥
जो गुरु से पुस्तक अध्ययन नहीं करता है, वह सभा में
उसी प्रकार शोभायमान नहीं होता जैसे पर पुरुष से
गर्भ धारण करनेवाली स्त्री ॥

करता है उसके निश्चय से पाप होता है, उस पाप के कारण से वह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। पर परा से जो मोक्ष के कारण और साक्षात पुण्य के बन्ध के कारण, जो देव शास्त्र गुरु है इनकी जो निन्दा करता है, उसके नियम से पाप होता है, पाप से दुर्गतियों में भटकता है।

देवहं इत्यादि। देवहं सत्थहं मुणिवरहं जो विद्देसु करेइ देवशास्त्र मुनीनां साक्षात्पुण्य बध हेतु भूतानां परंपरया मुक्ति कारण भूतानां च योऽसौ विद्वेषं करोति। तस्य किं भवति। णियमे पाउ हवेई तसु नियमेन पापं भवति तस्य। येन पाप बन्धेन किं भवति। जे ससारु भमेइ येन पापेन संसारं भ्रमतीति। तद्यथा। निज परमात्म पदार्थोपलम्भरुचि रुपं निश्चय सम्यक्त्वकारणस्य तत्वार्थश्रद्धान रुप व्यवहार सम्यक्त्वस्य विषयभूतानां देवशास्त्रपतीनां योऽसौ निन्दा करोति स मिथ्यादृष्टीर्भवति। मिथ्यात्वेन पापं बध्नाति, पापेन चतुर्गति संसारं भ्रमतीति भावार्थः॥ ६२॥

निज परमात्म द्रव्य की प्राप्ति की रुचि वही निश्चय सम्यक्त्व उसका कारण तत्वार्थ श्रद्धान रुप व्यवहार सम्यक्त्व उसके मूल अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामयी धर्म इन तीनों की जो निंदा करता है, वह मिथ्यादृष्टी होता है।

वह मिथ्यात्व का महान पाप बांधता है, उस पाप से चतुर्गति संसार मे भ्रमता है।

सम्यग्दर्शन घातक व्यक्ति–

जिनाभिषेके जिनवै प्रतिष्ठा जिनालये जैन सुपात्रतायाम।
सावद्यलेशो वदते स पापो स निन्दको दर्शनघातकश्च॥

(सार-सग्रह)

जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक, चैत्य चैत्यालय निर्वाण प्रतिष्ठा एवं सुपात्र दान में पाप होता है, ऐसा जो प्रतिपादन करता है वह जिन धर्म का निंदक है, सम्यक् दर्शन का घातक है, उपरोक्त क्रियाओं में कुछ आरम्भादि कारणों से अत्यन्त कम पाप बन्ध होता है –

परन्तु उसमे अत्यन्त आत्मविशुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन की निर्मलता बढती है, सातिशय पुण्य बन्ध होता है, जो कि परंपरा मोक्ष का कारण है, इस महा फल के आगे जघन्य पाप निष्फल जाता है।

अशुभ भाव–

हिंसाइसु कोहाइसु मिच्छा णाणेसु पक्खवाएसु ।
मिच्छारिएसु मएसु दुरहिणिवेसुसु असुहलेसेसु ॥
विकहाइसु सद्दहज्झाणेसु असुहगेसु दंडसु ।
सल्लेसु गारवेसु य जो वट्टइ असुह भावो सो ॥

(रयणसार – गा. ६२-६३)

हिंसादिकमे, क्रोधादिमें, मिथ्याज्ञानमें, पक्षपातमें, मत्सर भावमें मदमें, मिथ्याभिप्रायमतमें, अशुभ लेश्यामे, विकथा.में, आर्त्त-रौद्र ध्यानमें अशुभकारण दण्डमे, मिथ्यामाया-निदान शल्यमें, चार प्रकार मदमें जो प्रवर्तमान होता है, उसे अशुभ भाव कहते है। इन्हीं अशुभ भावों से पाप का आश्रव होता है।

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिवेदनं ।
परात्म द्वितयस्थानि तथा च परपैशुन ॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।
तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विशसनं तथा ॥

What is the Religion—

धम्मोवत्थु सहावो उत्तमसमाधि दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयंच धम्मो जोवाणं रखणं धम्मो ॥
धम्मो मंगलमुक्किठठं अहिंसा संयमो तवो ।
देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो ॥
पवित्रो क्रियते येन येनैव ध्रियते जगत् ।
नमस्तमै दयाद्राय कर्मकल्पांघ्रिपाय वै ॥
संसार दुःखनः सत्वान् यो धरत्युक्तमे सुखे स धर्मः ।
इन्द्रियाणां निरोधने राणद्वेषक्षयणे च ॥

(आगे पृष्ठ १५१ पर देखिए)

पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च ।
शस्त्रप्रदानं विश्रम्भ घातनं विष मिश्रणं ।।
शृंखला वागुरा पाश रज्जुजालादि संग्रहं ।
धर्म विध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथ ।।
तपस्वी गर्हणं शील व्रतप्रच्यावनं तथा ।
इत्यसदवेदनीयस्य भवन्त्यास्रव हेतवः ।।
(तत्वसार – अध्य. ४ – श्लो. २०-२४)

अर्थ– दुःख-अनिष्ट संयोग होनेपर दुःख करना ।
शोक– इष्ट वियोग होनेपर दुःख करना ।
वध– लोक निन्दादि प्राणों का वध करना ।
ताप– लोक निन्दादि के होनेपर संताप करना ।
क्रन्दन– अश्रुपात करते हुये रुदना करना ।
परिवेदन– दूसरों को दया उत्पन्न हों, ऐसा जोर-जोर से रोना । जिससे देखकर दूसरा भी रोने लगे ।
परपैशुन– दुर्भावना से दुसरों पर दोषारोपण करना ।
छेदन– शरीर के अवयवों का छदन करना । जैसे - बैलों का नाक छेदनादि ।
भेदन– शरीर के अगों का अलग करना । जैसे - पैर निकालना, हात काटनादि ।
ताडन– लाठी से मारना ।
दमन– दूसरों को भय दिखाना ।
तर्जन- दूसरों को दुःख देना ।
भर्त्सना– कठोर-अभद्र वचनो से दूसरों की निन्दा करना ।
सद्यो विशंसन– छल-कपटपूर्वक दूसरों को धोका देना ।

हिंसादि पाप कर्म से आजीविका चलाना, कुटील भाव-मायाचार में प्रवृत्ति, हिंसाजनक शस्त्र दूसरों को काम मे देना, विश्वासघात करना, स्वतः और दूसरों को विषादि सेवन करके कराके मरण को प्राप्त होना, या दूसरों को प्राप्त कराना । पशु-पक्षीओं को बन्ध में डालना, धर्मनीति विरुद्ध कार्य करना,धर्मात्माओं के शुभ कर्म में विघ्न

डालना, पत्नी-साधुओं की निन्दा करन , झूठे अपवाद लगाना । व्रत नियमों का भंग करना । और दूसरे धर्मात्म पुरुषों के भी व्रत, नियम संयमादि शुभ क्रियाओं को करने नहीं देना । इसी प्रकार अनेक धर्मनीति विरुद्ध कार्य करना यह सब असाता वेदनीय कर्म बन्ध के कारण है ।

पाप का फल दुःख व कुगतियों की प्राप्ति–

हिंसादिष्वहामुत्रापायवद्य दर्शनम् ॥ ९ ॥
दुःखमेव वा ॥ १० ॥

हिंसादि पांच दोषों मे एहिक और पारलौकिक उपाय और अवद्य का दर्शन भावनें योग्य है । अथवा–

हिंसादिक दुःख ही है, एसी भावना करनी चाहिये ।

(स. सि. – अध्या. ६ सू. ९-१० प्र. सा. – मु. – १२)

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भविय वेरइयो ।
दुक्ख सहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंता ॥

अशुभ उदय से कुमानुष, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीडित होता हुआ संसार मे अत्यन्त भ्रमण करता है ।

(ध. १-१,१,२ – १०५-५)

काणि पावफलाणि । णिरय-तिरिय कुमाणुस जाइ-जरा-मरण–वाहिवेयणा- दालिद्दादीणि ।

अहिंसाया च भूतानाममृतसत्वाय कल्पते ण हिन्दु
धम्मो दयाविशुद्धो ॥
धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धी विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ (मनुस्मृति)

Religion is the manifestation of divinit in man.

(विवेकानन्द)

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः सधर्मः ॥ (वैदिक)

Religion is the pursuies and justice aud abdication of violence.

(राधाकृष्णन्)

शंका– पाप के फल कौन से है ?

समाधान– नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियों मे जन्म-मरण व्याधि वेदना और दारिद्री आदि की प्राप्ति पाप के फल है ।

पाप अत्यन्त हेय है –

ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्त हेय एवायमशुभोपयोग इति ।

चारित्र के लेशमात्र का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यत हेय है ।

(स. सि. – आ. – ३०६)

यस्तावदज्ञानिजन साधारणोऽप्रतिक्रमणादि: स शुद्धात्म सिद्धयाभाव स्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव ।

प्रथम तो जो अज्ञान जन साधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि है वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरुप स्वभाव वाले है । इसलिये स्वयमेव अपराध स्वरुप होने से विषकुम्भ ही है । क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है ।

अशुभ एव शुभ भावों के फल–

असुहादो णिरयाउ सुहभावादो दु सग्ग सुहमाओ । दुह-सुहभाव जाणदु ज ते रुच्चेद णं कुणहो ॥

पंचेंन्द्रियादि विषय और कषाय रुप अशुभ भावों से नरकादि दुर्गति का दुःख मिलता है और देव-शास्त्र-गुरु कि भक्ति रुपी शुभभावनाओं से स्वर्गादिक अभ्युदय सुखों कि प्राप्ति होती है । सुख और दुःख अशुभ और शुभ भावोंपर आधारित है ।

हे भव्य आत्मन् ! आप को जो अच्छा लगे सो करो । दुःख चाहिये तो अशुभ भाव करो और सुख चाहिये तो शुभ भाव करो । इतना सदैव ध्यान रखो जो तुम कर्म करेंगे वह तुम्हे भोग ना ही होगा ।

पुण्य त्याग करने योग्य व्यक्ती कौन है ?

अत्राह प्रभाकर भट्ट - तर्हि ये केचन पुण्य पाप द्वयं समान कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । यदि

शुद्धात्मानुभूति लक्षणं त्रिगुप्ति गुप्त वीतर ग निर्विकल्प परमसमाधि लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव । यदि पुनस्तथाविद्यामवस्थामलभमाना अभिसंतो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजंति तपोधनावस्थाया षडावश्यकादिक च त्यक्त्वोभय भ्रष्टाः संतः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्य ॥

अर्थ– प्रभाकर भट्ट कहते है – यदि जो कोई पुण्य पाप इन दोनों को समान मानकर रहते है तो उनके मत मे आप दूषण क्यों देते है ? योगीन्द्र देव कहते है – जब शुद्धात्मानुभूति स्वरुप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान मे मग्न हुये पुण्य पापको समान जानते है तब तो सम्मत ही है । परन्तु जो मूढ परमसमाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था मे दान पूजा दिक शुभ क्रियाओं को छोड देते है । और मुनि पद में छह आवश्यक क्रियाओं को छोड देते है वे दोनों तरफसे भ्रष्ट हो जाते है इसलिये उनके मत में अर्थ जो पुण्य और पाप को समान मानते है हुये रहते है सो ही दूषण है ।

(प. प्रकाश – पा. १८२)

अथ हे जीवजिनेश्वर पदे परम भक्ति कुर्विति शिक्षां दर्शयति–

" अरि जिय जिण – पइ भत्ति करि सुहि सज्जणु अवेहरि ।
ति बप्पेण वि कज्जु णवि जो पाडइ संसारी ॥ १३४ ॥

निरर्थक जीवन–

वित्तं हि नष्टं किंचित नष्टं
स्वास्थ्यं हि नष्टं किंचिद्धि नष्टम् ।
वत्त हि नष्टं सर्वं विनष्ट तसच्च वृत्त परिरक्षणीयम् ॥
धर्मार्थिकाममोक्षाणं यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥
येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भूविभारभूता मनुष्यरुपेण मृगाश्चरन्ति ॥
आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मः विशेषः खलुमानवानां धर्मेन हीना पशवो मानवाः ॥

हे आत्मन । अनादि काले दुर्लभे वीतराग सर्वज्ञ प्रणीते रग-द्वेष मोह रहिते जीव परिणाम लक्षणे शुद्धोपयोगरुपे निश्चय धर्मे व्यवहार धर्मे च पुनः षडावश्यकादि लक्षणे गृहस्थापेक्षया दान-पूजादि लक्षणे वा शुभोपयोग स्वरुपे रतिं कुरु । इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोजमपि त्यज तदनुकूलं परगोगजमपि स्वीकुर्विति ।

अगाथं भावार्थः । विषय सुख निमितं यथानुरागं करोति ।
जीवस्तथा जिनधर्म करोति तर्हि संसारे न पततीति ।

विस यह कारणि सव्व जण् जिम अणराउ करेइ ।
तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारी पडेइ ॥

अर्थ- हे आत्मन ! अनादि काल से दुर्लभ जो वीतराग सर्वज्ञ कहा हुआ राग-द्वेष-मोह रहित शुद्धोपयोग रुप निश्चय धर्म और शुद्धोपयोग रुप व्यवहार धर्म उनमे भी छहः आवश्यक रुप यतीका धर्म, तथा दान पूजादि श्रावक का यह धर्म शुभाचार रुप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीत कर । इस धर्म से विमुख जो अपने कुल का मनुष्य उसे छोड और उस धर्म के सन्मुख जो पर कुटुम्ब का भी मनुष्य हो उससे प्रिती कर । तात्पर्य यह है की, यह जीव जैसे विषय-सुखसे प्रिति करता है, वैसे जो जिनधर्म में करे तो संसार में नहीं भटके । एसा दूसरी जगह भी कहा है की विषय कारणों में यह जीव बारंबार प्रेम करता है, वैसे जो जिन धर्म में करें तो ससार मे भ्रमण न करे ॥ १३४ ॥

(परमात्म प्रकाश)

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्मोशुभं वा शुभं ।
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन दुःख सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छितये ।
सर्वारम्भ परिग्रह ग्रहपरित्यागी स वन्द्यः स ताम् ॥ २६२ ॥

(आत्मानुशासनम्)

अर्थ–प्राणिने पूर्व भव मे जिस पाप या पुण्य कर्म का सचय किया है वह दैव कहा जाता है । उसकी उदीरणासे प्राप्त हुए दुःख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है । पाप कार्यो को छोडकर केवल पुण्य कार्यों को ही करता है–वह भी अभीष्ट

है – प्रशसाके योग्य है किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पुण्य-पाप) को ही नष्ट करने के लिये समस्त आरम्भ व परिग्रह पिशाच्च को छोड कर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषों के लिये वंदनीय पूज्य है ॥ २६२ ॥

शुभाशुभे पुण्य पापे सुख दुःखे च षट त्रयम ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेष त्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥
तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम् ।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राःनोति परमं पदम् ॥ २४० ॥

अर्थ-शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, सुख और दुःख इस प्रकार ये छह हुए । इन छहों के तीन युगलों में से आदि के तीन शुभ, पुण्य और सुख-आत्मा के लिये हितकारक होने से आचरण के योग्य है। तथा शेष तीन अशुभ-पाप और दुःख अहितकारक होने से छोडने के योग्य है।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है की जिनपूजादिक शुभ क्रियाओं के द्वारा पुण्य कर्म का बन्ध होतो है । इसके विपरीत हिसा एवं असत्य संभाषणादिरुप अशुभ क्रियाओंके द्वारा पाप का बन्ध होता है और उस पाप कर्म के उदय मे प्राप्त होनेंपर उससे दुःख की प्राप्ति होती है ।

श्रावक की परिभाषा–

श्रा – (श्रद्धावान) श्रद्धालुनां श्र ति जिनेन्द्र शासने,
व – (विवेकवान) धनाधि पात्रषुवपत्य नीरसम् ।
क – (क्रियावान) कृतंत्य पुण्यानि सुसाधु सेवनात् ।
अतोऽपि ते श्रावकमाहुरुत्तमाः ॥

मुनि का परिवार–

धैर्यं: यस्यैपिता क्षमाश्च जननि शान्तिश्चिरगृहिणी ।
सत्त : सूनुरयं दया च भगिनी भ्रातः मनः संयमः ।
शय्या भूमीतलः दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम् ।
येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्मात् भीतः योगीनः ॥

इसलिये उक्त छह मे से शुभ और पुण्य सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ पाप और दुःख ये तीन हेय है ।। २३९ ।।

पूर्व श्लोक में जिन तीन को शुभ-पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया है उनमे भी प्रथम का (अशुभ का) परित्याग करना चाहिये ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे, इस प्रकार शुभ को छोडकर और शुद्ध स्वभाव मे स्थित होकर जीव अन्तमें उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ।

विशेषार्थ–उपर जो इस श्लोक का अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपयुक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है – श्लोक २३९ में जो अशुभ पाप और दुःख ये तीन अहितकारक बतलाये गये है । उनमे भी प्रथम अशुभ का ही त्याग करना चाहिये कारण यह कि ऐसा होनेपर शेष दोनों पाप और दुःख स्वयंभव नहीं रहते है क्योंकि इनका मूल कारण अशुभ ही है। इस प्रकार जब मूल कारणभूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात कार्यभूत पाप स्वयमेंव नष्ट हो जावेगा, और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्यभूत दुखःकी भी कैसे सम्भावना की जा सकती है नहीं की जा सकती है। इस प्रकार उक्त अहितकारक तीन के नष्ट हो जानेपर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते है वे भी वास्तव में हितकारक नहीं है। (देखिय आगे श्लोक २६२)

उनको जो हितकारक व अनुष्ठय बतलाया गया है वह अतिशय अहितकारी अशुभादिक अपेक्षा ही बतलाया है। यथार्थ मे तो वे भी परतंत्र के ही कारण है। भेद इतना ही है कि जहां अशुभादिक जीवको नारक एवं तिर्यंच पर्याय में प्राप्त कराकर केवल दुःख का अनुभव कराते है वहां वे शुभादिक उसको मनुष्यों और देवों में उत्पन्न कराकर है। दुःखमिश्रित सुख का अनुभव कराते है। इसलिये यहां यह बतलाया है की उन अशुभादिक तीन को छोड देनें के पश्चात शुद्धोपयोग मे स्थित होकर उस शुभ को भी छोड देना चाहिये। इस प्रकार अन्त में उस शुभ के अविनाभावि पुण्य व सांसारिक सुख के भी नष्ट हो जानें पर जीव उस निर्बाध मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। जो की अनन्त काल

तक स्थिर रहनेवाला है ॥ २४० ॥

(आत्मानुशासनम् – २३९ ते २४०)

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अर्थ– व्रतोंके द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नही है । जैसे– छाया और धूप में बैठनेवाले मे अन्तर पाया जाता है वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करने वाले मे फर्क पाया जाता है ॥ ३ ॥

इष्टोपदेश–

व्रतादिक पालने से पाप कर्मों की निर्जरा होती है और पुण्य कर्म का बन्ध होता है। परन्तु पुण्य बन्ध इहलोक व परलोक सुख का कारण है और परम्परा से मुक्ति का कारण है।

शुभः शुभानुबन्धीति कर्मच्छेदाय जायते ।
पारंपर्येण यो बन्धः स प्रबन्धाद्विधीयते ॥ ५४ ॥

अर्थ– शुभ भाव से शुभानुबन्धी होता है और यह शुभानुबन्धी परम्परा से बन्ध छेद के लिए कारण हो जाता है । इसलिये शुभानुबन्धी कर्म को प्रचुर रुप से करना चाहिये ।

(धर्मरत्नाकर – दान फल अधिकार)

विशेषार्थ– शरीर में कांटा धुसने के बाद उस कांटाको निकालने के लिये एक सुदृढ कांटा चाहिय, शरीरस्थित कांटाको जब तक नहीं निकालते तब तक इस सदृढ कांटा की परम आवश्यकता है शरीरस्थित कांटा निकालनें के बाद उस सदृढ कांटा की आवश्यकता स्वयमेव नहीं रहती उसी प्रकार पाप कर्म देह स्थित कांटा के समान है । उस पाप कर्म को निकालने के लिये एक सुदृढ पुण्यरुप कांटा चाहिये, पाप रुपी कांटा निकालने के बाद पुण्यरुपी कांटा की आवश्यकता स्वयमेव हट जाती है । जैसे– मलीन वस्तु के सपर्क मे वस्त्र अस्वच्छ हो जाता है । उस अस्वच्छ को हटाने के लिये पानी, साबून, टिनोपाल चाहिये । पानी और साबून के प्रयोग से जब वस्त्र स्वच्छ हो जाता है तब उस वस्त्र को

लगा हुआ साबून को भी स्वच्छ पानी से धोकर निकाल देते है। वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उसको टिनोपाल मे डाल के उसको चमकाते है। वस्त्र से साबून और पानी अलग वस्तु है (पर द्रव्य है) तो भी बिना पानी और साबून मलिन स्त्र स्वच्छ नहीं होता है। परन्तु स्वच्छ होने के बाद साबून और पानी का आवश्यकता नहीं रहती है। मलीन अवस्था में टिनोपाल वस्त्र को लगाने पर उसमें चमक नहीं आ सकती है। इसी प्रकार आत्माको स्वच्छ करने के लिये शुभभावरुपी पानी और पुण्यरुपी साबून चाहिये इसके माध्यम से मलीन पापात्माको पवित्र पुण्यात्मा होने के बाद शक्ल ध्यानरूपी टिनोपाल से उसको केवलज्ञान रुपी प्रकाश से चमकना चाहिये। जब तक आत्मा को शुभ भाव और पुण्य से स्वच्छ नहीं करते तब तक शुक्लध्यान रुपी टिनोपाल का कोई प्रकार परिणाम नहीं हो सकता है। वस्त्र स्वच्छ होने के बाद उस वस्त्र में स्थित पानी को भी निकाल देते है। इसी प्रकार अयोग केवली १४ वे गुणस्थान के आवस्था में व्युपरित त्रिया निवृत्ती रुपी परम शुक्ल ध्यान से पुण्यरुपी कण को भी सुखाकर पृथक करना चाहिये तब जाकर आत्मा निरंजन निष्कलंक होता है।

अहो पुण्यवन्ता पुंसा कष्टं चापि सुखायते।
तस्माद्भव्यैः प्रयत्नेन कार्यं पुण्यं जिनोदितं ॥

अर्थ– अहो आश्चर्य की बात है की पुण्यवान के लिये कष्ट भी सुखकर हो जाता है इसलिये हे भव्य जिनेंद्र भगवान द्वारा प्रतिपादित पुण्य को तुम प्रयत्नपूर्वक करो।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रव ॥ २४६ ॥

टीका– यस्य च कर्मणां स्वकार्यमकुर्वतामेव विश्लेषो भवति स एव योगीत्याहयस्येत्यादि। यस्य परम वीतरागस्य। निष्फल स्वकार्यम् अकुर्वत सत। गलति उग्र तपःसामर्थ्यदुदयमानीय जीर्यते। न पुनरास्रवो न पुनः कर्मणागमनम् सवर एव भवतीत्यर्थः ॥ २४६ ॥

अर्थ–जिनका कर्म उदयमे आकार भी बिना फल दिये खिर जाते है वह योगी है। वह परम वीतरागी होते है। परन वीतरागी मुनी उग्र

तप के माध्यम से भविष्य में उदय आने योग्य कर्म को गला देता है। उसी प्रकार मुनीश्वर को नवीन आश्रव या बन्ध नही होता है। उस परम वीतरागी मुनिश्वरों का पाप एवं पुण्य स्वयमेव निष्फल होकर खिर जाते है और उनको नवीन कर्मास्रव बन्ध नहीं होता है। उन्हीको परम निर्वाण की प्राप्ति होती है।

(आत्मानुशासनम्)

असुहाण पयडीण अणंत भागा रस्सस खंडाणि।
सुह पयडीणं णियमा णात्थि ति रसस्स खण्डाणि ॥ ८० ॥

अर्थ– अप्रशस्त अर्थात पाप प्रकृतियों के अनंत बहुभाग का घात नियम से नहीं होता है। क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है परन्तु घात नही होता है। तथा विशुद्धि के कारण पाप प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होता है परन्तु वृद्धिको प्राप्त नही होता है।

पढमापुव्वरसादो चरिमे समये पअच्छइदराणं।
रससतमणंत गुण अणंतगुण हीणयं होदि ॥ ८२ ॥

अर्थ– अपूर्वकरण मे प्रतिसमय अणंतगुणी विशुद्धि होने के कारण प्रशस्त प्रकृतियोंका अनंतगुणा वढता अनुभाग सव्व है। तथा विशुदि के कारण अनुभाग काण्डक घात के महत्वसे अप्रशस्त प्रकृतियोंकी अनन्तवाँ भाग सत्व चरम समयमे होता है। इस कारण अश्वं करण के प्रथम समय संवधी प्रशस्त प्रकृतियोंका जो अनुभाग सत्व है उससे अश्वंकरण के चरम समय में प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग तो अनंतगुणा वढता हुआ सत्व में है। तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग सत्व अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितना है उससे अनंतगुणाहीन अपूर्वकरण के चरम समय मे है।

इससे सिद्ध होता है। आत्म विशुद्धि से पुण्य कर्म चौदहवाँ गुणस्थाव के नीचे नीचे नाश नहीं होते है परतु वृद्धि को प्राप्त होते है। तथा पाप कर्म आत्म विशुद्धि से नाश होता है किंतु वृद्धि को प्राप्त नहीं होते है।

(लब्धिसार)

विशेषार्थः- चतुर्थ गुणस्थानसे आगे उत्तरोत्तर पापकर्मका संवर और निर्जरा वृद्धि हो जाती है। और पुण्य कर्मका आश्रव और बंध उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है, इस प्रकार क्रिया सकषाय गुणस्थान तक (१० वे गुणस्थान तक) चलती रहती है। क्षीणकषाय आदि गुण-स्थान मे पुण्यास्रव होता है फिर भी बन्ध नहीं होता है, परन्तु पुण्य कर्म तेरावे गुणस्थान तक नष्ट नहीं होती बढता ही रहता है। परन्तु परम योगी शैलेश अवस्था प्राप्त अयोगी केवली गुणस्थान मे चरम समय और द्वीचरम समयमें संपूर्ण पुण्य और पाप कर्मोका समूल विनाश होजाता है। पाप प्रकृती यथा योग्य द्वितियादि गुणस्थान मे संवर एव निजरा होती है। परन्तु विशिष्ट पुण्य कर्मोका संवर निर्जरा १४ वे गुणस्थानके नीचे नीचे होती नहीं है। परंतु उत्तरोत्तर गुणस्थानमें अनुभाग शक्ति बढती जाती है। परन्तु परिनिर्वाण के पूर्ववर्ती सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाती है।

किनके पुण्य हेय है ?

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ मोहेणा य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ ६० ॥

अर्थ- पुण्यसे घरमे धन होता है और धनसे अभिमान, मानसे बुद्धिभ्रम होता है: बुद्धिके भ्रम होनेसे (अविवेकसे) पाप होता है इसलिये ऐसा पुण्य हमारे न होवे-

टीका- पुण्णेण इत्यादि। पुण्येण होइ विहवो पुण्येण विभवो विभूतिर्भवति, विहवेण मओ विभवेन मदोऽहंकारो गर्वो भवति मएण मइमोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदेन मतिमोहो मतिभ्रंशो विवेकमूढत्वं भवति। मइमोहेण य पावं मति मूढत्वेन पापं भवति ता पुण्यं अम्ह मा तस्मादित्थंभूतं पुण्यं अस्माकमा भूदिति। तथा च इद पूर्वोक्तं भेदाभेद-रत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्ट-, श्रुतानुभूत भोगाकांक्षारुप निदानबन्ध परिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जित पूर्व भवे तदेव मदमहंकार जनयति बुद्धिविनाशंच करोति। न च पुन सम्यक्त्वादि गुणसहित भरत-सगर राम पांडव आदि पुण्य बन्धवत्। यदि पुनः सर्वेषां मदमुजनयति तर्हि ते कथं पुण्य माजना सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्ष गताः

इति भावार्थ ॥ तथा चोक्तं चिरन्तनानां निरहंकारत्वम्–

"सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे ।
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतिर्निर्वृतेः ॥

प्राग्जनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराश्चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्यद्धताः ॥६०॥

भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित देखे सुने, अनुभवे भोगोंकी वांछारुप निदान बन्धके परिणामोंसे सहित जो मिथ्यादृष्टी संसारी अज्ञान जीव है। उसने पहले उपार्जन किये भोगोकी वांछारुप पुण्य उसके फल से प्राप्त हुयी घर में सम्पदा होनेसे अभिमान, (घमड) होता है, अभिमानसे बुद्धिभ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है और पापसे भवभवमें अनंत दुःख पाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टीयोंका पुण्य पापकाही कारण है। जो सम्यक्त्वादिगुणसहित भरत, राम, पाण्डवादिक विवेकी जीव है उनको पुण्य बन्ध अभिमान उत्पन्न नही करता परम्परासे मोक्ष का कारण है। जैसे–अज्ञानीयोंके पुण्यका फल विभूति गर्व कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टीयोंके नहीं है। वे सम्यग्दृष्टी पुण्य के पात्र हुये चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकार आदि विकल्पोंको छोडकर मोक्षको गये अर्थात सम्यग्दृष्टी जीव चक्रवर्ती बलभद्र पद में भी निरहंकार रहै। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथमे श्री गुणभद्राचार्यने किया है कि पहले समयमें ऐसे सत्पुरुष हो गये है कीं जिनके वचन में सत्य बुद्धिमें शास्त्र मनमें दया पराक्रम रूप भुजावोंमें शूरवीरता याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान और मोक्ष मार्गमें गमन है। वे निराभिमानी हुये जिनके किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। परन्तु अब बडा अचम्ब है की इस पंचम कालमें लेश मात्र भी गुण नही है तो भी शुद्धतापना है, यानी गुण तो रच मात्र भी नही और अभिमानमें बुद्धि रहती है।

(परमात्म प्रकाश–)

पाप भी उपादेय है।

अथ येन पापफलेन जीवो दुःखं प्राप्य दुःखविनाशार्थं धर्माभिमुखोभवती तत्पापमपि समीचीनमिति दर्शयति–

वर जिय पावइं सुन्दरइं णावई ताई भणंति ।
जीवहं दूक्खइं जाणवि लहु सिवमइं जाइं कुणंति ।।५६।।

वरं जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।
जीवानां दुःखानि जनित्वा लघु शिवमति यानि कुर्वन्ति ।।५६।।

टीका–वर जिय इत्यादि । वर जिय वरं किंतु हे जीव पावइं सुंदरइं पापानी सुन्दरामि समीचीनानि भणंति कथयन्ति । के । णणिय ज्ञानिनः तत्ववेदिनः । कानि । ताइं तानिपूर्वोक्तानी पापानि । कथभूतानि । जीवहं दुक्खइं जणिवि लहु सिवमइं जाइ कुणंती जीवानां दुःखानि जनित्वा लघ शीघ्र शिवमति मुक्तियोग्यमति यानि कुर्वन्ति । अयमत्राभिप्रायः । यत्र भेदाभेदारत्नत्रयात्मकं श्री धर्म लभते जीवस्तत्पापजनित दुःखमपि श्रेष्ठमिति कस्मादिति चेत । " आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति " इति वचनात ।।५६।।

अर्थ– आग जिस पापके फलसे यह जीव नरकादि में दुःख पाकर उस दुःखके दूर करने के लिए धर्म सन्मुख होता है, वह पाप का फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है । ऐसा दिखलाते है ।

हे जीव जो पापके उदय जीवको दुःख देकर शीघ्र ही मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धिकर देवे, तो वे पाप भी बहुत अच्छ है, ज्ञानी ऐसे कहते है ।

कोई जीव पाप करके नरक में गया वहां पर महान दुःख भोग उसमे कोई समय किसी जीवके सम्यक्त्वकी प्राप्ती हो जाती है क्यों की उस जगह सम्यक्त्वकी प्राप्तीके तीन कारण है । पहिला तो यह है कि तिसरे नरक तक देवता उसे संबोधनको (चेतावनेको) जाते है । सो कभी कोई जीवके धर्म सुननेसे सम्यक्त्व उत्पन्न हो जावे, दुसरा कारण–पुर्व भवका स्मरण और तिसरा नरककी पीडाकारी दुःखी हुआ नरकको महान दुःखका स्थान जान नरकके कारण जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह और आरंम्भादिक है उनको खराब जानके पापसे उदास होवे ।

तिसरे नरक तक ये तीन कारण है । आगेके चौथे, पांचवे,

छठवे, सातवे नरकमें देवोंका गमन न होनेसे धर्मश्रवण तो है ही नही लेकीन जाति स्मरण है। तथा वेदना कर दुःखी होके पापसे भयभीत होना व दोही कारण है। इन कारणोंको पाकर किसी जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। इस नयसे कोई भव्य जीव पापके उदयसे खोटि गतिमें गया वहाँ जाकर यदि सुलट जावे तथा सम्यक्त्व पावे तो व कुगति भी बहुत श्रेष्ठ है, यही योगीन्द्राचार्यने मूलमें कहा है की जो पाप जीवोंको दुःख प्राप्त करा करके फिर शीघ्र ही मोक्ष मार्गमे बुद्धिको लगावे, तो वे अशुभ भी अच्छे है। तथा जो अज्ञानि जीव किसी समय अज्ञान तपसे देव भी हुआ और देवसे मरकर एकेन्द्रिय हुआ तो वह देवपना किस कामका। अज्ञानीक देवपना भी वृथा है। जो कभी ज्ञानके प्रसादसे उत्कृष्ट देव होके बहुत काल तक सुख भोगके देवसे मनुष्य होकर मुनिव्रत धारण करके मोक्षको पावे तो वह भी अच्छा है।

ज्ञानी पुरुष उन पापियोंको भी श्रेष्ठ कहते है, जो पापके प्रभावसे दुःख भोगकर उस दुःखसे डरके दुःखके मूल कारण पापको जानके उस पापसे उदास होवे, वे प्रशंसा करनें योग्य है, और पापि जीव प्रशंसाके योग्य नही है। वर्षों की पाप क्रिया हमेशा निंदनीय है। भेदाभेदरत्नत्रय स्वरुप श्री वीतराग देवके धर्म को जो धारण करते है वे श्रेष्ठ है। यदि सुखी धारण करे तो भी ठीक और दुःखी धारण करे तब भी ठीक क्यों की शास्त्राका वचन है की कोई महाभाग दुःखी हूए ही धर्म में लवलीन होते है ॥ ५६ ॥ (**परमात्म प्रकाश**)

दुःख में सुमरन सब करैं, सुःख में करे न कोय।
जो सुख में सुमरन करैं, दुःख काहेका होय॥

अर्थ– साधारणत ससारी जीव दुःखके समयमें धर्म का आचरण करता है। परन्तु धर्म के कारण किंचित सुख प्राप्त होनेसे धर्मको ही भूल जाता है, पापादिक क्रियाओंमें लग जाता है, तब पुनः दुःख प्राप्त होता है। यदि जीव सुखके समयमे भी धर्म आचरण करने लगेगा तो कभी भ दुःख नही होगा।

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनु भवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरुन् मूलात् फलानी गृह्णन्ति ते पापाः ॥२४॥

अर्थ– जो मोही कामअंधा, विषयासक्त, जीव अज्ञानतासे धर्म को नष्ट करके विषय सुखोंका अनुभव करते वे पापी वृक्षको जड़ से उखाड़कर फल को ग्रहण करना चाहते है । अर्थात पूर्व पुण्य कर्म के उदयसे जो कुछ वैभव मिला है उस वैभवमें लीन होकर जो केवल भोगासक्त होता है वह पूर्व उपार्जित पुण्य को पूर्ण रूपसे भोग करता है। परन्तु नवीन पुण्यार्जन नही करता जिससे पापही शेष उसके पल्ले में रहता है। उससे वह नरक निगोद में जाता है। इसलिये पूर्वार्जित पुण्यसे जो वैभव मिला उसके बिना त्यागे भोग करनेसे उस पुण्यसे उसको दुगती हुई इस प्रकारसे पुण्य हेय है । (आत्मानुशासन्)

मिथ्यादृष्टीको पापानुबन्धि पुण्य से जो वैभव की प्राप्त होती है उस वैभव में मिथ्यादृष्टी लीन होकर आसक्ति पूर्वक भोग करता है किन्तु त्याग नही करता उसका वैभव अर्थात पुण्यफल ससारका कारण है। इसलिये उसका पुण्य कर्म परम्परासे मोक्ष का कारण नही होता है। किन्तु संसारका कारण होता है। अर्थात पुण्य फल रूप वैभवको प्राप्त कर जो आसक्ति पूर्वक भोगता है वह मिथ्यादृष्टी है। रागी बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टीका पुण्य पुण्यानुबंधी पुण्य है, सम्यग्दृष्टी पुण्य रूप वैभवको प्राप्त कर उसमे वह आसक्ति पूर्वक लीन नही होता है वह सोचता है। जानता है मानता है की यह वैभव मेरे आत्म स्वरूपसे पृथक् है पुण्यकर्मका फल है कुछ चारित्र मोहनीय कर्म के उदयसे आत्मिक शक्ति अभाव से रोगी जैसे तिक्त औषध सेवन करता है अनासक्त पूर्वक उसी प्रकार वह सम्यग्दृष्टी भोग को रोग मानकर निरूपाय होकर अनासक्त पूर्वक भोगता है। वह अनासक्त पूर्वक भोगते हुये कर्म को बांधता ही है परन्तु जितने अंश में अनासक्त भाव है उतने अंशमे कर्म बंध नही होता है। परन्तु अन्तरंग में सतत भोगोंकी निंदा गुहा करते हुए उन भोगोंसे छूटने के लिये रास्ता ढूंढता रहता है।

जब तक सम्पूर्ण भोग, आरंभ, परिग्रहोसे विरक्त नही हो पाता है तब तक स्वशक्तिनुसार दान, पूजा, गुरुसेवादि करते हुये पूर्व पुण्य का सद्उपयोग करता है और अत में समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रहको त्याग कर निर्ग्रन्थ होकर व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय को साधन कर

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मोक्ष पदवी को प्राप्त करता है। इसलिए सम्यग्दृष्टीका पुण्य परंपरासे मोक्षका कारण है तथा मिथ्यादृष्टी का पुण्य परंपरासे संसार काकारण है।

" आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति– " पाप कर्मके उदयसे जीव को जब कष्ट उठाना पडता है उस समयमे वह पाप कर्मोका स्वरूप समझ– कर पापसे निवृत होकर धर्ममे लगता है । जैसे नरक में तीव्र वेदना अनुभव कर नारकी पाप फलों का चितंवन करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है, इसीप्रकार जीव पापकर्मके फलसे संतप्त होकर पापसे डर कर अधर्म छोडकर धर्म करने लगता है । इसीलिए संसार में विरक्त होनेके लिए एवं धर्ममें प्रवृत होनेके लिए पाप कर्म भी निमित है । अर्थात जिस पाप फलसे दुःखोसे, संतापसे, संकटोसे जीव भयभित होकर धर्म में लगते है वह पाप भी उपादेय है । इसलिये भव्य जीवोंको संबोधन करते हुये आचार्योंनें प्रेरणा दी है–

" सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म मव तव कार्यं ।
सुखितस्य तद्भाभिवृध्दयै दुःख भुजस्तदुपघाताय ॥ १८ ॥

अर्थ– हे जीव तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो, चाहे दुःखका अनुभव कर रहा हो, किन्तु संसार में इन दोनो ही आवस्थामें एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये । कारण यह है की वह धर्म यदि तु सुखका अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख की वृध्दिका कारण होगा, ओर यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा ।

(आत्मानुशासनम्)

ध्यान अवस्था

अप्रमत्तविरत गुणस्थान- मोक्षमार्गका पथिक जब मोक्षमार्ग के विपरीत जो अंतरंग व बहिरंग परिग्रह उसका त्याग करके मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है, अनादि कालिन संस्कार एवं अनभ्यासके कारण जो कुछ आत्म ध्यानके लिये बाधक कारण प्रमादसे उनको सतत ज्ञान– वैराग्यरुपी शस्त्र द्वारा नष्ट करके स्वयं में लीन-स्थिर हो जाता हैं

उसको ध्यान कहते है। उस आत्मस्थ अवस्था विशेष को अप्रमत्त विरत गुणस्थान कहते है।

णट्ठा सेस पमाओ वयगुणसीलेहिं मंडिओ णाणी।
अणुव समओ अखवओ झाणणिवीणो हुअप्पमत्तो। ६१४॥

(भा. सं. । पृष्ठ २८२)

जिस समयमें मोक्षमार्ग ज्ञानी समस्त प्रमादों को नष्ट करके व्रत-गुण-शीलसे मंण्डित होकर ध्यानमे लीन होता है, परन्तु उपशम या क्षपक श्रेणी आरोहण नही किया है उस समयमे अप्रमत्त विरत आत्मावस्था होती है। अनादि कालिन संस्कार के कारण ज्ञानी मुनि ध्यानावस्था में सतत स्थिर नही होता है, इसलिए वह ध्यानावस्था से च्युत होकर प्रमत्तविरत अवस्था को प्राप्त होता है। पुनः शक्तिको संचय कर अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त होकर ध्यान मे लीन हो जाता है। इस प्रकार वह हजारों बार छट्ठवे से सातवें गुणस्थानमे आता जाता रहता है। उत्तम संहननधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टी महामुनि उपशमश्रेणीं एवं क्षपक श्रेणी दोनो श्रेणी आरोहण करते है। परन्तु उपशम श्रेणीवाले अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण होनें पर एवं क्रोधादि अन्यतर कषायों के उदयसे ग्यारहवे गुणस्थान से नीचे गिरकर यथायोग्य गुणस्थानको प्राप्त कर लेते है। और वज्रवृषभनाराच संहननधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि तद्भवमोक्षगामी चरमशरीरी महामुनि जब क्षपक श्रेणी आरोहण करते है तब सातिशय सातवे गुणस्थानसे निरालम्ब शुक्लध्यान को जाते है।

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्तगुण समासेण।
सालंबमणालंबं तं मुक्खं इत्थं बायव्वं॥ ६३९॥
एदम्हि गुणट्ठाणे जत्थि आवासयाण परिहारो।
झाणमणाम्मि थिरतं णिरंतरं अत्थि तं जहमा॥ ६४०॥

(भा. सं. । पृष्ट २९२)

अप्रमत्त गुणस्थान मे धर्म ध्यान होता है यहाँ पर सालम्ब और निरालंब धर्मध्यान कि मुख्यता है उससे पूर्ववर्ती गुणस्थानो मे छट्ठवे, पांचवे चौथे मे गौणरूप से धर्मध्यान होता है। धर्मध्यान उत्तरवर्ती गुणस्थानो मे अर्थात् आठवे नवमे. दसवे गुणस्थानो मे होता है। इस गुणस्तानों मे महामुनि समस्त प्रमाद से रहित होकर बाह्य क्रियाओं से विरत होकर निरन्तर ध्यानमे स्थिर होने के कारण बाह्य आवश्यकादि क्रियाओंका परिहार हो जाता है। इसके पहले-पहले आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन करना अनिवार्य हो जाता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान

खवएसु उवसमेसु य अउव्वणामेसु हवइ तिपयारं।
सुक्कज्झाणं णियमा मुहुत्त सवियक्क सवियार ॥ ६४३ ॥
(भा. सं. । पृष्ठ २९४)

क्षपकश्रेणी या उपशमश्रेणी आरोहण करनें वाला जीव जब अपूर्वकरण गुणस्थान मे पदार्पण करता है तब वहाँ पर पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्लध्यान प्रारंभ होता है। द्रव्य-गुण- पर्यायों की संक्रमण अपेक्षा पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान तीन प्रकार या अनेक प्रकारका होता है।

अनिवृत्ति गुणस्थान-

सुक्कं तत्थं पडत्तं जिणेंहि पुव्वुत्तलक्खणं झाणं।
णत्थि णियत्ति पुणरवि जम्हा अणियट्टि तं तम्हा ॥ ६५० ॥
(भा. सं. । पृष्ठ २९७)

इस गुणस्थानोमे पूर्वोक्त प्रथम पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्ल ध्यान होता है। यहाँ पर जीव के परिणाम विशुद्धि मे निवृत्ति नही होती है। इसलिए इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते है।

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान-

धुदकोसुंभयवत्थं, होदि जहा सुहुमएयसंजुत्तं।
एवं सुहुमकसाओ, सुहुमसरागोत्ति णादव्वो ॥ ५८ ॥
(गो. जी. पृष्ठ १२१)

श्रेणी आरोहणकारी जीव आत्मिक विशेष विशुद्धि से राग को कर्षण करता हुआ जिस समयमें सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त सूक्ष्मलोभ को वेदन करता है, उस समयमें वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है। जैसें कुसुंभ के रंग से रंगा हुआ वस्त्र सम्यक रूपसे बार बार धोनेपर बहुत कुछ निकल कर सूक्ष्म लाल वर्ण से युक्त होता है।

उपशान्त मोह गुणस्थान–

कदकफल जुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलए।
सयलो वसंत मोहो उवसंत कसायओ होदि ॥ ६१ ॥

(गो. जी. । पृ. १२६)

जैसे कनकफल के चूर्ण से युक्त जल निर्मल होता है अथवा मेघपटलसे रहित शरद ऋतु में जैसे सरोवर का जल ऊपर से निर्मल रहता है, वैसे ही पूर्ण रूपसे मोह को उपशांत करनेवाला उपशांत कषाय होता है। जिसने कषाय नोकषायों को उपशान्त अर्थात् पूर्ण रूप से उदय के अयोग्य कर दिया हैं वह उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती होता है।

क्षीणमोह गुणस्थान

णिस्सेस खीणमोहो फलिहामल भायणुदय समचित्तो।
खीण कसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ ६२ ॥

(गो. जी. । पृष्ठ १२७)

सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक अन्तिम समय मे चारित्र मोह की प्रकृति स्थिति, अनुभाग, और प्रदेशोंका बन्ध, उदय, उदीरणा तथा सत्ता के व्युच्छित्ति होनें पर उसके अनतर समय में चारित्र मोहका भी पूर्ण रूपसे विनाश होने पर जीव क्षीण कषाय होता है। उसका चित्र अर्थात भावमन विशुद्ध परिणाम अतिनिर्मल स्फटिक मात्र मे भरे निर्मल जल के समान होता है। अर्थात जैसे वह जल कलुषित नही होता है, उसी प्रकार यथाख्यात चरित्र से पवित्र क्षीण कषाय का विशुद्ध परिणाम भी किसी कारण से कलुषित नही होता है। वही परमार्थ निग्रन्थ है क्यों कि उसके कोई भी अंतरंग और बहिरंग परिग्रह नहीं होता है।

इस गुणस्थान में द्वितीय एकत्व वितर्क विचार ध्यान होता है।

जीवन मुक्त सकल परमात्मा–

केवलणाण दिवायर किरणकलापवप्पणासिय ण्णाणो ।
णव केवल लध्दुग्गम सुजणिय परमप्प ववएसो ॥ ६३ ॥
(गो. जी. । पृष्ठ १२८)

जिनने केवलज्ञान रूपी सुर्य के किरण समूहरूप जो पदार्थो को प्रकाशित करनेमें प्रविण दिव्यध्वनि के विशेष उनके द्वारा, शिष्य जनों का अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया है। इससे सयोग केवली भगवान के भव्य जीवों का उपहार करने रूप परमार्थ पदार्थ सम्पदा कही है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, केवलज्ञान, केवल दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन नौ केवल लब्धियोंके प्रकट होनेसे जिन्हों ने वास्तव में परमात्मा नाम को प्राप्त किया है। इस से भगवान् अर्हन्त परमेष्ठि के अनन्त ज्ञानादि रूप स्वार्थ सम्पदा दिखायी है।

शैलेश अयोगी जिन––

सीलोरीं संपत्ती, णिरूद्ध णिस्सेस आसवो जीवो ।
कम्मरय विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

जो अठारह हजार शीलों के स्वामी पने को प्राप्त है, समस्त आस्रवों के रूक जाने से जो नवीन बध्यमान कर्म रज से सर्वथा रहित है। तथा मनोयोग-वचनयोग-और काय योग से रहित होने से अयोग जिन है।

इस तरह जिनके योग नही है। तथा केवलि भी है वे अयोग केवली भगवान् परमेष्ठि है।

हरहंत का विशेष वर्णन––

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहि विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ ४५ ॥
(प्रवचन सा. । पृष्ठ १०४)

पञ्च कल्याण पूजा जनकं त्रैलोक्य विजयकर यत्तीर्थंकरनाम पुण्य कर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति । तेषां सा दिव्यध्वनिरूप वचन व्यापारादि क्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्व विपरीत कर्मोदय जनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटं । निर्मोह शुद्धात्मतत्व प्रच्छादकममकाराहङ्कारोत्पादन समर्थं मोहादि विरहितत्वाद्यतः । तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकार शुद्धात्मतत्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता ।

(प्र. सार. ता. वृ. । पृष्ठ)

तीर्थंकर अरहन्त भगवान पुण्यफल स्वरूप है अर्थात् पञ्चमहाकल्याण कि पूजा को उत्पन्न करनेवाला तथा तीन लोक को जीतनेवाला जो तीर्थंकर नामकर्म पुण्यकर्म उसके फल स्वरूप अरहन्त तीर्थंकर होते है । तथा उन अरहन्तों की दिव्यध्वनि रूप वचन का व्यापार तथा शरीरादि के व्यापार रूपक्रिया स्पष्ट रूप से औदयिक है । अर्थात निष्क्रिय निज शुद्धात्म तत्त्व से उस की क्रिया विपरीत है क्योंकि शुद्धात्मतत्त्व में कर्मोदय जनित किसी भी प्रकार कि क्रिया नहीं है । वह क्रिया मोहादि को से अर्थात मोह रहित निज आत्म तत्त्व के रोकने वाले तथा ममकार अहंकार को पैदा करने को समर्थ मोहादि से रहित है । इसलिये क्षायिक है । वहाँ पर पुण्योदय रूप तीर्थंकर नाम कर्म के अत्युत्कृष्ठ उदय से समवशरण में स्थित होकर के उपदेश करना और विहार करने रूप लिया होते हुये भी मोहनीय कर्म के अभाव से कर्म बन्ध नहीं होता है । तथा साता वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होते हुये भी वहाँ केवलज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता है । इससे सिद्ध होता है कि भले पुण्य प्रकृति के सद्भाव से साक्षात सर्व कर्म विनिर्मुक्त रूप द्रव्य मोक्ष नहीं है । परन्तु स्वात्मोपलाब्धि रूप भाव-जीवन मुक्त होने में पुण्य प्रकृति बाधक नहीं है । घाति कर्म रूप पाप प्रकृतियों का सद्भाव रहते हुये भाव मुक्त-(जीवन मुक्त) अवस्था प्राप्त हो नहीं सकती है ।

सिद्धावस्था--

अट्ठविह कम्मवियला णिट्ठिय कज्जा प ट्ठ संसारा ।
विट्ठ सयालत्थ सारा सिद्धा सिद्धि मम दिसतु ॥ १ ॥
(ति. प. । पृ. १)

जो आठ प्रकारके कर्मों से विकल अर्थात् रहित है, करने योग्य कर्मोको कर चुके है अर्थात् कृतकृत्य हैं, जिनका जन्म-मरण रूप संसार नष्ट हो चुका है और जिन्हों ने सम्पूर्ण पदार्थों के सार को देख लिया है, अर्थात् जो सर्वज्ञ है ऐसे सिद्ध परमेष्ठि मेरे लिये सिद्धि प्रदान करे।

णिरुवमरूवा णिट्ठिय कज्जा णिच्चा णिरंजणा णिरुजा ।
णिम्मल बोधा सिद्धा णिरुवं जाणंति हु एक्कसमएणं ॥ १७ ॥
(ति. प. अध्या. ९ । पृ. ८७५)

अनुपम स्वरूप से संयुक्त, कृतकृत्य, नित्य, निरंजन, निरोग, और निर्मल बोध से युक्त सिद्ध एक ही समय में समस्त पदार्थों को सदैव जानते हैं।

आत्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवद्वीत बाधं विशालं ।
वृद्धिह्रारा व्यपेतं विषय विरहितं निःप्रतिद्वन्द्व भावम् ।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरूपममसितं शाश्वतं सर्व कालम् ।
उत्कृष्टानन्त सारं परम सुखमतस्य सिद्धस्य जातम् ॥ १७ ॥
(सि. भक्ति । पृष्ठ)

सिद्ध भगवान का अलौकिक परमसुख आत्मा से ही उत्पन्न स्वयं अतिशय सहित, संपूर्ण बाधाओ से रहित, विशाल,-विस्तीर्ण, वृद्धि-ह्रास से रहित, संसारिक सुख से रहित, प्रतिद्वन्द्व से रहित, परद्रव्य निरपेक्ष उपमातीत अपरिमित, शाश्वतिक सर्वकाल स्थायी, परमोत्कर्णको प्राप्त अनन्त सार सहित महात्म्य से सहित है।

उपसंहार--

अनादि काल से जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में कर्म कि तीव्रतासे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अत्यन्त अशुभ लेश्या-अशुभ भावों में रहते हुये अत्यन्त दारू दुःखोंण को देनेवाले आर्त-रौद्र ध्यान करता है। इस अत्यन्त आत्म पतनरूप निम्न श्रेणीय अवस्था में यह जीव द्रव्य तत्वादि के स्वभाव के बारे में अपरिचित रहता है। उस समय आत्म जागृति नहीं होती हैं। परन्तु सुप्तवस्था रहती है परन्तु जब कभी अंतरग-बहिरंग समस्त कारणोंके सद्भाव होनेपर सद्गुरूका उद्बोधन प्राप्त करके चिर मोह निद्रा से जागृत होकर स्वयं को, गुरू को, विश्व को, सत्य को, तत्व को, दर्शन करता है। (सम्यग्दर्शन प्राप्ति) आनंदामृत स्वरूप स्वयं के स्वरूप को प्राप्त करने कि भावना होनेपर भी गमन करने का अनाश्यास होने के कारण आगे गमन अर्थात चारित्र स्वरूप अपना अत्थान नही कर पाता है। जिस प्रकार नवजात शिशु गमन करने कि इच्छा होनें पर भी आगे गमन नही करपाता है। उससे वह असमर्थ यात्री (असंयत सम्यग्दृष्टि) अन्तरंग में बहुत ही दुःख हो जाता है। जब वह मार्ग के विषय में परिचय प्राप्त करके अल्प शक्ति संचय करता है, तब वह मंद गति से गमण करना प्रारंभ करता है। पूर्व अनभ्यास के कारण, अपरिचित यात्री होने के कारण, शक्ति कम होने के कारण समर्थ मार्ग जानने वाले पथिक-अहिहंतादिओंका आलम्बन लेता है, लेना ही होता हैं। उनसे प्रेम-अनुराग रखता है। विशेष मार्ग परिचय प्राप्त करता है। उन्हीं के निर्देशन के अनुसार उन्हीं के पीछे पीछे, धीरे धीरे चलता है।

" नहि कृतमुपकार साधव विस्मरन्ति "

न्याय के अनुसार उन्हीं की सेवा, भक्ति, वन्दना करता है। उससे उसकी आत्मा कृतज्ञता के कारण रोमांच हो उठतो है। मार्ग पर स्वयं आरूढ यती भी उसकी क्षमं प्रीति-वात्सल्य को देखकर-जानकर उस भव्यात्मा को आगे बढने का चारित्र पर आरुढ होने का प्रोत्साहन देते है। आज तक जितने भी अनंत सुख को आत्मिक सुख को प्राप्त कर चुके वे सभी चारित्र पर आरुढ होकर ही हुये है। यदि कोई विना चारित्र के आत्मीक सुख की वांधा करता है, वह स्वयं को

धोका दे रहा है। दीर्घ संसारी है, अनंत दुःख को भोगने वाला है। जो वास्तविक संसार के दुःखो से संवेग-वैराग्य को प्राप्त हुआ है। संसार के दुःखों को हेय त्याज्य समझा है। वास्तविक सुख चाहता है। वह निश्चित चारित्र, जो व्यवहार निश्चयात्म है उसे धारण करेगा। धारक पुरुषों में अनुराग करेगा। उन्हे प्रोत्साहन देगा। जिससे वह अल्प चारित्रधारी धर्मात्मा यती वरों के सम्मग्दृष्टि वरोके सान्त्वना, सहाय, मार्गदर्शन पाकर उसकी आत्मिक शक्ति बढती जाती है।

धीरे-धीरे गमन करते हुए जब आत्म शक्ति बढती जाती एवंकुछ अभ्यास के कारण उन यात्रीओं के स्वरूप को धारण करके उनके साथ गमन करने का प्रयास करता है। अर्थात वह देशवृत्ती-देश चारित्र धारी यथाजात रूप को धारण करने वाले सकल महाव्रत का परि-पालन करने वाले मुनियों के साथ गमन करते हुये अनेक वन, नदी पर्वत, कान्तार को उपसर्ग-परिषहों को सहते हुए पार करते हुये आगे बढते जाते है। वह जानता है, मानता है कि रास्ता, लक्ष नही (मोक्ष नहीं) तो भी उन सब साधन के बिना साध्यरूप स्वरूप-मंजिल पर पहूँचा नहीं जा सकता। अतःएवं उन्हीं का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। आज नही कल इस भव में नहीं दूसरे भव में अवलम्बन तो लेना ही होगा। कोई औषध सेवन किये बिना रोग ठीक होता है ऐसा कहते हुये साधनरूप बाह्य उपचारों का लोप ही करे तो मूर्खता शिवाय दूसरा क्या कहा जाय ? अतः साध्य कि सिद्धि के लिये सम्यक् साधन-बाह्य-अभ्यन्तर सामग्री आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। परन्तु वह गमन (साधन) रूप क्रिया भी स्वस्वरूप नहीं है। परन्तु जितना-जितना गमन होगा उतना-उतना लक्ष्य (मंजिल) समीप होगा। गमन करते-करते अर्थात् चारित्र पालन करते हुये आगे बढेगें तब स्वयं ही पींछे का रास्ता छुढता जाता है। अर्थात् विकल्प अवस्था में करने योग्य क्रियाये स्वयं ही गौण हो जाते है,। जब वह पथिक लक्ष्य भूत स्वस्वरूप में पहूँच जाता है तब वह यात्रीक ज्ञानबन्द रूप अमृत में लीन होकर गमनागमन, रूप समस्त

संकल्प-विकल्प से रहित होकर निर्विकल्प रूप स्वस्वरूप में शाश्वतिक अवस्थान करता है। शाश्वत धाम को प्राप्त करता है। वहाँ पर न रास्ता है, न गमन है, न गमन का कारण है। वह स्वयं अब साध्य-साधक के विचारों से कर्त्ता-हर्त्ता पन से परे होकर कृत-कृत्य हो जाता है। स्वात्मोत्थ, निराबाध, अतीन्द्रिय सहज ज्ञानामृतपान में सदा के लिये लीन हो जाता है।

उस परम कृतकृत्य, ज्ञानामृतमय, अलौकिक, अपुनरागम पथ के पथिक को अनन्तानन्त त्रिकरण शुद्धिपूर्वक नमोऽस्तु।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

वन्दे तद् गुण लब्धये

जयतु अपुनरागमस्य पथः ॥
जयतु अपुनरागमस्य पाथिकः ॥
जयतु अपुनरागम स्वरूपः ॥

मंगलं भगवान जिनः मंगलं श्री जिनवाणी।
मंगलं आत्मसाधकः मोक्षमार्गस्तु मंगलम् ॥ १ ॥
मंगलं देवादिवीरः मंगलं कुन्थुसागरः।
मंगलं चिन्मयरूपः जीवधर्मस्तु मंगलम् ॥ २ ॥

जैन धर्मस्तु मंगलम् ॥
वस्तु धर्मस्तु मंगलम् ॥
आत्म धर्मस्तु मंगलम् ॥





ॐ श्री वीतरागाय नमः ॐ

आचार्यवर्य श्री देवसेन विरचित

-भाव-संग्रह-

धर्मरत्न, सरस्वती दिवाकर, पं. लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित हिन्दी भाषा टीका सहित

ॐ मंगलाचरण ॐ

वन्दे शान्तिजिनेन्द्र श्रीजिनभक्तं 'समन्तभद्रं' च ।
वन्दे शान्तिपयोधिं रत्नत्रयलब्धये भक्त्या ॥

मैं लालाराम शास्त्री रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए भक्तिपूर्वक श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रदेव को वन्दना करता हूँ, परम जिनभक्त श्री समन्तभद्रस्वामी की वन्दना करता हूं और आचार्यश्री शांतिसागर की वन्दना करता हूं।

आचार्य विरचित-मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

पणमिय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं ।
वोच्छामि भावसंगह मिणमो भव्वप्पवोहट्ठं ॥ १ ॥

प्रणम्य सुरसेननुतं मुनिगणधरवन्दितं महावीरम् ।
वक्ष्ये भावसंग्रहमेतं भव्यप्रबोधनार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ- जो महावीर स्वामी आचार्य श्री देवसेन के द्वारा वन्दनीय

हैं तथा मुनि और गणधर देवों के द्वारा वन्दनीय हैं ऐसे श्री महावीर स्वामी को नमस्कार कर मैं (आचार्य श्रीदेवसेन) भव्यजीवोंको आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये इस भाव संग्रह ग्रंथकी रचना करता हूँ ॥ १ ॥

जीवस्स हुंति भावा जीवा पुण दुविह भेयसंजुत्ता ।
मुक्ता पुण संसारी, मुक्ता सिद्धा णिरवलेवा ॥ २ ॥

जीवस्य भवन्ति भावा, जीवाः पुनर्द्विविधभेदसंयुक्ताः ।
मुक्ता पुनः संसारिणो, मुक्ताः सिद्धा निरवलेपाः ॥ २ ॥

अर्थ– भाव सब जीवों के ही होते है अन्य अजीवादिक पदार्थोंके भाव नहीं होते । तथा समस्त जीवों के दो भेद है :–एक मुक्त और दूसरे संसारी । जो जीव राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंसे रहित है और समस्त कर्मोंसे रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मुक्त जीव कहते है ।

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणिय तइलोया ।
असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा ॥ ३ ॥

लोकाग्रशिखरवासिनः केवलज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकाः ।
अशरीरा गतिरहिताः सुनिश्चलाः शुद्धभावस्थाः ॥ ३ ॥

अर्थ– वे सिद्ध परमेष्ठी वा मुक्त जीव लोक शिखरपर विराजमान हैं । अपने केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोकों को एक ही समयमे साक्षात् देखते और जानते हैं । तथा वे सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित हैं, चारों गतियों के परिभ्रमणसे रहित हैं, चारो गतियो में से किसी गतिमें भी नहीं है, अत्यन्त निश्चल है और अपने आत्मा के शुद्ध भावों में सदा लीन रहते हैं ॥ ३ ॥

जे संसारी जीवा चउगइपज्जायपरिणया णिच्चं ।
ते परिणामे गिणहदि सुहासुहे कम्मसंगहणे ॥ ४ ॥

ये संसारिणे । जीवाश्चतुर्गतिपर्यायपरिणता नित्यम् ।
ते परिणामान् गृह्णन्ति शुभाशुभान् कर्म-संग्रहणे ॥ ४ ॥

अर्थ– जो जीव सदा काल चारों गतियों की पर्यायों में परिणत होते रहते हैं ऐसे जीवों को संसारी जीव कहते हैं। तथा ऐसे संसारी जीव कर्मोंका का संग्रह करने के लिए शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्मों को ग्रहण करते रहते है।

भावार्थ– देवगति, मनुष्यगति, तिर्यश्चगति और नरकगति ये चार गतियां है। जो जीव इन चारों गतियों में परिभ्रमण करते रहते है वे जीव संसारी कहलाते हैं और ऐसे जीवों के शुभ परिणाम वा अशुभ परिणाम होते ही रहते है। उन्हीं शुभ या अशुभ परिणामों से समस्त कर्मों का संग्रह होता रहता है ॥ ४ ॥

भावेण कुणइ पावं पुण्णं भावेण तहय मुक्खं वा।
इयमंतर णाऊणं जं तेयं तं समायरहं ॥ ५ ॥

भावेन करोति पापं पुण्यं भावेन तथा च मोक्षं वा।
इत्यन्तरं ज्ञात्वा यच्छ्रेयस्तं समाचरत ॥ ५ ॥

अर्थ– यह जीव अपने ही परिणामों से पाप उपार्जन करता है, अपने ही परिणामों से पुण्य उपार्जन करता है और अपने ही परिणामों से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार अपने ही परिणामों में इतना भारी अन्तर समझकर हे भव्यजीव ! आत्मा के जो परिणाम आत्माका कल्याण करनेवाले हों उन्हीं परिणामों का तू आश्रय ले।

भावार्थ– शुभ अशुभ वा शुद्ध भाव अपने आधीन है। यह जीव किसी जीव को मारने के भाव भी कर सकता है और उसके बचाने के भी भाव उत्पन्न कर सकता है। दोनों प्रकारके भाव उत्पन्न करना उसीके आधीन है। तथा आत्मा का कल्याण जीवों की रक्षा करने से होता है और उनके मारने के परिणामों से पाप होता है। यही समझकर जीवों को अशुभ भावों का–पापरूप भावों का त्याग कर देना चाहिये और शुभ भावों को धारण करना चाहिये। देखो–हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहलाते है। इन्हीं पापोंके करनेसे यह जीव नरक जाता है; परन्तु स्वयंभू रमण समुद्रमें उत्पन्न होनेवाला

तन्दुल मत्स्य इन पांचों पापोंमें से कोई पाप नहीं करता परन्तु जीवों के हिंसा करने के भाव करता रहता है। उन भावोंके ही कारण वह सातवें नरक जाता है। यही समझकर अपने भाव वा परिणाम सदा संभालते रहना चाहिए। पांचों पापों के करने के भाव कभी नहीं करने चाहिए। पाप कर्म वा पुण्यकर्मों का बन्ध भावों से ही होता है। इसलिए संसारी जीवों को नरकादिके दुःखों से बचने के लिए पाप रूप अशुभ भावोंका त्याग करना ही आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

सेवो सुद्धो भावो तस्सुवलंभोय होइ गुणठाणे।
पणदहपमादरहिए सयलवि चारित्तजुत्तस्स ॥ ६ ॥

सेव्यः शुद्धो भावः तस्योपलंभश्च भवति, गुणस्थाने।
पंचदशप्रमादरहिते सकलस्यापि चारित्रयुक्तस्य ॥ ६ ॥

अर्थ– इन तीनों प्रकारके भावों में शुद्ध भाव ही सेव्य है, धारण करने योग्य है। तथा उस शुद्ध भाव की प्राप्ति सकल चारित्र को धारण करने वाले महामुनियों के पन्द्रह प्रमादों से रहित ऐसे सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में होती है।

भावार्थ– अशुभ भावतो त्याग करने योग्य है ही परन्तु शुभ भाव भी त्याग करने योग्य है। क्योंकि जिस प्रकार अशुभ भावों से नरकादि दुर्गतियों का बन्ध होता है। उसी प्रकार शुभभावों से देवादि शुभ गतियों का बन्ध होता है। इस प्रकार शुभ अशुभ दोनों ही कर्म बन्ध करने-वाले हैं। केवल शुद्धभाव ही कर्मबन्धन से छुड़ाकर मोक्षकी प्राप्ति कराने वाला है। इसलिए शुद्धभाव ही उपादेय और आत्माका कल्याण करने वाला है। शेष शुभ और अशुभभाव दोनों ही त्याज्य है। वह शुद्ध भाव श्रेणी आरोहण करने वाले महामुनियों के ही होता है। शुद्ध भावों को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ महामुनि ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि मोक्षका कारण निर्ग्रन्थलिंग ही है। अन्य किसी अवस्थासे मोक्षकी प्राति नही हो सकती।

सेसा जे बे भावा सुहासुहा पुण्णपाव संजयणया।
ते पंचभाव मिस्सा होंति गुणट्ठाणआसेज्ज ॥ ७ ॥

शेषौ यौ द्वौ भावौ शुभाशुभौ पुण्यपापसंजनकौ ।
तौ पंचभावमिश्रौ भवतो गुणस्थानमाश्रित्य ॥ ७

अर्थ– शुद्धभावों को छोडकर शेष जो शुभ अशुभ भाव है वे दोनों ही पुण्य पापों को उत्पन्न करनेवाले है । तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव, औदयिक आदि पांचों भावों से मिलकर गुणस्थानों के आश्रयसे रहते है ॥ ७ ॥

अउदइउ परिणामउ खय उवसमिउ तहा उवसमो खइओ ।
एए पंच पहाणा भावा जीवाण होंति जियलोए ॥ ८ ॥

औदयिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिकस्तथौपशमिकःक्षायिकः
एते पंच प्रधाना भावा जंवानां भवन्ति जीवलोके ॥ ८ ॥

अर्थ– औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक ये पांच भाव समस्त जीवों के प्रधान वा मुख्य भाव कहलाते है।

भावार्थ– ये पांच भाव मुख्य है। इन्हीं पांचो भावों में जब अशुभ शुभ शुद्ध भाव मिल जाते है तब गुणस्थानों की रचना बन जाती है ॥ ८ ॥

तेचिय पज्जाय गया चउदहगुणठाण णामगा भणिया ।
लहिऊण उदय उवसम खयउवमस खउ हु कम्मण्स ॥ ९ ॥

ते चैव पर्यायगताश्चतुर्दशगुणस्थाननामका भणिताः ।
लब्ध्वा उदयमुपशमं क्षयोपशमं क्षयं हि कर्मणः ॥ ९ ॥

अर्थ - वे शुभ अशुभ और शुद्धभाव ही कर्मों के उदय होने पर उपशम होने पर, क्षयोपशम होने पर, वा क्षय होनेपर अनेक प्रकारकी पर्यायों को प्राप्त होजाते है और उन भावों की वे पर्यायें ही चौदह गुण-स्थानों के नामसे कही जाती है ।

भावार्थ– कर्मों के उदय होने से औदयिक भाव होते है, कर्मों के उपशम होने से औपशमिकभाव होते है' कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे क्षायो-पशमिकभाव होते है, और कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायिक भाव होते है ।

इन्हीं भावोंमें शुभ अशुभ शुद्ध भाव मिलने से चौदह गुणस्थान बन जाते है ।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरियसम्मो य देसविरदो य ।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियत्ति सुहमो य ॥ १० ॥

उवसन्त खीणमोहो सजोइकेवलिजिणो अजोगी य ।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥ १० ॥

मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतं च ।
विरतं प्रमत्तं इतरदपूर्वमनिवृत्ति सुक्ष्मं च ॥ ११ ॥

उपशान्तक्षीणमोहे सयोग केवलि जिने । अयोगी च ।
एतानि चतुर्दश गुणस्थानानि क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ।११।

अर्थ– मिथ्यात्व गुणस्थान १ सासादन गुणस्थान २ मिश्रगुणस्थान ३ अविरत सम्हग्दृष्टि गुणस्थान ४ देशविरत अथवा विरत विरत गुणस्थान ५ प्रमत्त विरत ६ इतर अर्थात् अप्रमत्त विरत ७ अपूर्व करण गुणस्थान ८ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान । ९ सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान १० उपशान्तमोह गुणस्थान ११ क्षीणमोह गुणस्थान १२ सयोगि केवली गुणस्थान १३ अयोगि केवली गुणस्थान १४ ये अनुक्रमसे चौदह गुणस्थान कहलाते है । जो जीव समस्त कर्मों को नष्ट कर इनसे पार हो जाते है उनको सिद्ध वा मुक्त समझना चाहिये ।

अब आगे अनुक्रमसे इन्ही गुणस्थानों का स्वरूप कहते है ।

मिच्छत्तस्सुदएण य जीवे सम्भवइ उदइयो भावो ।
तेण य मिच्छादिट्ठी ठाणं पावेइ सो तइया ॥ १२ ॥

मिथ्यात्वस्योदयेन च जीवे संभवति औदयिको भावः ।
तेन च मिथ्यादृष्टिस्थानं प्राप्नोति स तत्र ॥ १२ ॥

अर्थ– मिथ्यात्व कर्मके उदय से इस जीवके औदयिकभाव प्रगट होते है । तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय होनेसे प्रगट हुए औदयिक भावों से इस जीवके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है ।

भावार्थ– आठ कर्मोंमें एक मोहनीय कर्म है जो सब कर्मों में प्रबल है। उसके अट्ठाईस भेद है। मोहनीय कर्मके मूलमें दो भेद है– दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद है– मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इसी प्रकार चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद है। अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ,संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद, नपुंसकवेद। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शन मोहनीय का एक मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है, तथा सादि मिथ्यादृष्टी के तीनों दर्शन मोहनीय कर्मों का उदय रहता है। इसका भी कारण यह है कि प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व होने के समय ही मिथ्यात्व कर्म तीन भागों में वट जाता है। इसके पहले वह एक मिथ्यात्व रूप ही रहता है। इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टी जीव के मिथ्या कर्म का उदय रहता है और उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

आगे उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से कैसे भाव होते है सो दिखलाते हैं:–

मिच्छत्तरस पउत्तो जीवो विवरीय दंसणो होई।
ण मुणइ हियंच अहियं पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो ॥ १३ ॥

मिथ्यात्वरसप्रयुक्तो जीवो विपरीतदर्शनो भवति।
न जानाति हितं चाहितं पित्तज्वरयुक्तो यथा पुरुषः ॥ १३ ॥

अर्थ– उस मिथ्यात्व कर्म के उदय होने से यह जीव विपरीत दृष्टी हो जाता है और पित्तज्वर वाले पुरुष के समान अपने हित अहित को नहीं जान सकता।

कडुवं मण्णइ महुरं महुरं पि य तं भणेइ अइ कडुयं।
तह मिच्छत्तपउत्तो उत्तमधम्मं ण रोचेई ॥ १४ ॥

कटुकं मन्यते मधुरं मधुरमपि च तद् भणति अतिकटुकम्।
तथा मिथ्यात्वप्रवृत्तः उत्तमधर्माय न रोचते ॥ १४ ॥

अर्थ– जिस प्रकार पित्तज्वर वाला पुरुष कडवे पदार्थ को मीठा कहता है और मीठे पदार्थ को कडवा कहता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व में प्रवृत्त हुआ यह जीव उत्तम धर्म में रुचि नहीं कर सकता।

भावार्थ– यहां पर दर्शन अथवा दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धान करना है। श्रद्धान दो प्रकार का होता है-एक सम्यक् श्रद्धान और दुसरा मिथ्या श्रद्धान। सम्यक् श्रद्धान आत्मा का एक गुण है जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से विपरीत हो जाता है। इसी को मिथ्या श्रद्धान कहते है। जिस प्रकार पित्तज्वर वाले पुरुष को मीठा पदार्थ भी कडवा लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव यथार्थ धर्म में रुचि वा श्रद्धान नहीं करता और इसीलिये ही वह अपने आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता।

यही बात आगे दिखलाते हैं :–

जइ कणय मज्ज कोद्दव महुरामोहेण मोहियो संतो।
ण मुणय कज्जाकज्ज मिच्छादिट्ठी तहा जीवो ॥ १५ ॥

यथा कनकमद्यकोद्रवमधुरमोहेन मोहितः सन्।
न जानाति कार्याकार्यं मिथ्यादृष्टिस्तथा जीवः ॥ १५ ॥

अर्थ– जिस प्रकार धतूरा मद्य और कोदों की मधुरता के मोह से मोहित हुआ यह जीव कार्य अकार्य को नहीं जानता, अपना हित नहीं पहचानता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपना हित अहित वा कार्य अकार्य नहीं जान सकता। विपरीत श्रद्धान होने के कारण वह अपने आत्मा का स्वरूप अथवा समस्त तत्त्वों का स्वरूप विपरीत ही समझता है और इसीलिये वह अपने आत्मा का अहित ही करता रहता है।

आगे उसी मिथ्यात्व के भेद बतलाते हैं।

तं पि हु पंचपयारं वियरो एयंतविणयसंजुत्तं।
संसय अण्णाणगयं विवरीओ होइ पुण बंभो ॥ १६ ॥

तदपि हि पंचप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तम् ।
संशयाज्ञानगतं विपरीतो भवति पुनः ब्राह्यः ॥ १६ ॥

अर्थ– वह मिथ्यात्व पांच प्रकार है–विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञानगत वा अज्ञान मिथ्यात्व । इन पांचो प्रयार के मिथ्यात्वों में से ब्राह्य मत विपरीत मिथ्यात्व है ।

मण्णइ जलेण सुद्धि तित्ति मंसेण पिसरवग्गस्स ।
पसुकयवहेण सागं धम्मं गोजोणिफासेण ॥ १७ ॥

मन्यते जलेन शुद्धि तृप्ति मांसेन पितृवर्गस्य ।
पशुकृतवधेन स्वर्गं धर्मं गोयोनिस्पर्शनेन ॥ १७ ॥

अर्थ– जो लोग जल स्नान से आत्माकी शुद्धि मानते हैं, मांस भक्षण से पितृवर्ग की तृप्ति मानते है, पशुओं का वध करने वा पशुओं का होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति मानते हैं और गाय की योनि का स्पर्श करने से धर्म की प्राप्ति मानते हैं, इन सब में धर्म की विपरीतता किस प्रकार है वह सब आगे दिखलावेंगे ॥ १७ ॥

आगे जल से आत्मा की शुद्धि मानने वालों के लिये कहते हैं

जइ जलण्हाणपउत्ता जीवा मुच्चेइ णिययपावेण ।
तो तत्थ वसिय जलयरा सव्वे पावंति दिवलोयं ॥ १८ ॥

यदि जलस्थानप्रवृत्ता जीवा मुच्यन्ते निजपापेन ।
तर्हि तत्र वसन्तो जलचराः सर्वे प्राप्नुवन्ति द्यिलोकम् । १८ ।

अर्थ– यदि जल स्नान करने से ही वे जीव अपने पापोंसे छूट जाते हों तो जल में ही निवास करने वाले समस्त जलचर जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य हो जानी चाहिये । भावार्थ- स्वर्ग की प्राप्ति पापों के नाश हो जाने से होती है । तीर्थ स्नान करने से पापों का नाश नहीं होता, पापों का नाश तो जप तप ध्यान से होता है । जिस तीर्थ स्नान से लोग स्वर्गप्राप्ति मानते हैं उसी तीर्थ में अरबों खरबों मत्स्य

आचार्यश्री — आचार्य श्री पुष्पदंतसागर जी महाराज

मछली, मगर, कच्छप, आदि जलचर जीव रहते हैं और वे सब एक दूसरे का भक्षण करते रहते है और इस प्रकार वे महा पाप उपार्जन करते रहते है। यदि तीर्थ स्नान से ही पापों को निवृत्ति मानी जाय तो प्रतिक्षण महापाप उपार्जन करने वाले उन समस्त जलचरों को स्वर्ग की प्राप्ति हो जानी चाहिये परंतु यह असंभव बात है। इसलिये जल स्नान से पापों की शुद्धि मानना विपरीत श्रद्धान है। हमने फर्रुखाबाद में स्वयं देखा है कि कितने ही लोग गंगा स्नान कर उसी गंगा के किनारे गोमुखी में माला डालकर जप करते हैं और मछली मारने के लिये एक एक वंशी भी डालदेते हैं। इस प्रकार तीर्थ स्नान और जप करते हुए भी मछली मारने का महापाप उत्पन्न करते रहते हैं। यह सब उनका विपरीत धर्म है।

आगे–तीर्थ स्नान से पाप नष्ट क्यों नहीं होते यही बात दिखलाते हैं।

जं कम्मं दिढवद्धं जीव पएसेहि तिविहजोएण।
तं जलफासणिमित्ते कह फहहि तिथण्हाणेण ॥ १९ ॥

यत्कर्म दृढबद्धं जीवप्रदेशैस्त्रिविधयोगेन।
तज्जलस्पर्शनिमित्ते कथं स्फुटति तीर्थस्नानेन ॥ १९ ॥

अर्थ– जो कर्म मन वचन काय के योग से जीव के प्रदेशों के साथ दृढतासे बंधे हुए है वे कर्म तीर्थ-स्नान करने मात्र से केवल जल का स्पर्श करने से कैसे छूट सकते हैं ?

भावार्थ– कर्मों का बंध योग और कषायों के निमित्त से होता है। इसलिये वह योगों का निग्रह करने से ओर कषायों का त्याग करने से ही छूट सकता है केवल जल के स्पर्श करने मात्र से वे कर्म कभी नहीं छूट सकते। कर्म के प्रदेश और कर्म सहित आत्मा के प्रदेश अत्यंत सूक्ष्म है। इससिये जल का स्पर्श वहांतक पहुंच ही नहीं सहता। फिर भला उस जल से आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकती है ? कभी नही हो सकती।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

मलिणो देहो णिच्चं देही पुण णिम्मलो सया रूवी ।
को इह जलेण सुज्झइ तम्हा ण्हाणेण णहि सुद्धी ॥ २० ॥

मलिनं देहं नित्यं देही पुनः निर्मलः सदाऽरूपी ।
क इह जलेन शुद्धयति तस्मात् स्नानेन न हि शुद्धिः ॥ २० ॥

अर्थ– यह शरीर मल मूत्र से भरा हुआ है, रजोवीर्य से उत्पन्न हुआ है और रुधिर मांस आदि घृणित वस्तुमय है। इसलिये वह सदा मलिन ही रहता है। तथा इस शरीर में रहने वाला आत्मा सदा निर्मल रहता है और वह सदा अरूपी ही रहता है। ऐसी अवस्था में विचार करना चाहिये कि इस तीर्थ जल से किसकी शुद्धि होती है। आत्मा अरूपी है, इसलिये उसकी शुद्धि तो हो नहीं सकती तथा रुधिर मांस मय यह सरीर सदा अशुद्ध ही रहता है इसलिये वह भी शुद्धि नहीं हो सकता। इस प्रकार जल से × आत्मा की शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

× गीता में लिखा है।

अत्यंत मलिनो देहो देही चात्यंतनिर्मलः ।
उभयोरंतर दृष्ट्वा कस्य शौचं विधीयते ॥

अर्थ– शरीर अत्यंत मलिन है और आत्मा अत्यंत निर्मल है। आत्मा और शरीर इन दोनों में महान् अंतर है। फिर भला तीर्थ स्नान से किसकी शुद्धि हो सकती है अर्थात् किसी की नहीं।

और भी लिखा है-

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्धयति ।
शतशोपि जलैर्धौत मद्यभांडमिवाशुचि ॥

अर्थ– यह चित्त अंतरंग में अत्यंत दुष्ट है इसलिये वह तीर्थ स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकता जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घडा सदा अशुद्ध ही रहता है यदि उसे सौ सौ बार जलसें धोया जायतो भी वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह मलिन हृदय तीर्थ स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सका।

अरण्ये निर्जले देशेऽशुचित्वाद् ब्राह्मणो मृतः ।
वेदवेदांगतत्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति ॥

यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।
अथस्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकम् ॥

आगे आत्मा की शुद्धि किस प्रकार होती है यही बात दिखलाते हैं ।

मुज्झइ जीवो तवसा इंदियखल णिग्गहेण परमेण ।
रयणतयसंजुत्तो जह कणयं अग्गिजोएण ॥ २१ ॥

शुद्धयति जीवस्तपसा इन्द्रियखल निग्रहेन परमेण ।
रत्नत्रय संयुक्तो यथा कनकं अग्नियोगेन ॥ २१ ॥

अर्थ– वेद वेदांग को जानेवाला कोई एक ब्राह्मण किसी जल रहित वन में अथवा जल रहित किसी देश में पहुँच गया और वहां पर वह विना जल शुद्धि किये ही मरगया । अब बतलाइये वह किस गति को प्राप्त होगा । यदि वह विना शुद्धि के कारण नरक गति को प्राप्त होगा तो उसके सब वेद निरर्थक हो जाते हैं । उसने जो समस्त वेद वेदांग पढे हैं उनका पढना जानना सब निष्फल हो जाता है । यदि वह वेद वेदांग पढने के कारण स्वर्ग को जाता है तो फिर जल शुद्धि व्यर्थ हो जाती है । इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की शुद्धि जल से कभी नहीं हो सकती ।

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पांडुपुत्र न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

अर्थ– हे अर्जुन यह शुद्ध आत्मा एक नदी है जो संयम रूपी जल से भरी हुई है, सत्य वचन ही इसके प्रवाह हैं, शील पालन करना ही इसके किनारे हैं और दया करना ही इसकी लहरें हैं । हे अर्जुन तू ऐसी शुद्ध आत्मा में लीन हो तभी इस आत्मा की पूर्ण शुद्धि हो सकती है ।

अर्थ– जिस प्रकार अग्नि के संयोग से सोना शुद्ध हो जाता है

उसी प्रकार यह रत्नत्रय से सुशोभित होने वाला आत्मा तपश्चरण से तथा इन दृष्ट इंद्रियों का परम निग्रह करने से ही शुद्ध होता है।

यह अंतरात्मा जल से कभी शुद्ध नही हो सकता।

चित्तं समाधिभिः शुद्धं वदनं सत्यभाषणैः।
ब्रम्हचर्यादिभिः कायाः शुद्धो गंगा विनापि सः॥

समाधि वा ध्यान धारणा करनें से चित्त शुद्ध होता है, सत्य भाषण से मुख शुद्ध होता है और ब्रम्हचर्य आदि से शरीर शुद्ध होता है। इस प्रकार वे सब बिना गंगा स्नान के ही शुद्ध हो जाता है।

कामरागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते जलेन शुद्धयन्ति स्नात्वा तीर्थशतेरपि॥

अर्थ– जो पुरुष कामके रागसे मदोन्मत्त है और जो स्त्रियों के वशीभूत है ऐसे पुरुष सैकडों तीर्थों में स्नान करनें पर भी उस जल से कभी शुद्ध नही हो सकते।

गंगातोयेन सर्वेण मृद्भारैः पर्वतोपमैः।
आम्लैरप्याचरन् शौचं भावदुष्टो न शुद्धयति॥

भावार्थ– इस आत्मा की शुद्धि रत्नत्रय से होती है इन्द्रियों का निग्रह करनें से होती है और तपश्चरणा से होती है। तीर्थस्नानसे आत्मा की शुद्धि कभी नही हो सकती।

अर्थ– जिन जीवों के भाव दुष्ट है वे पुरुष यदि समस्त गङ्गाके जलसे शुद्धि करे तथा अनेक पर्वतोंके समान मिट्टी के ढेरसे शुद्धि करें, उस मिट्टी को रगड रगडकर गङ्गाजलसे शुद्धि करें तथापि वे दुष्ट परिणामो को धारण करनेंवाले पुरुष कभी शुद्ध नही हो सकते।

मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं वाचां यमश्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
एतानि तीर्थानी शरीरजानि, मोक्षस्य मार्गं परि दर्शयन्ति॥

अर्थ– पुरुषके लिये मनका विशुद्ध होना तीर्थ है वचनों का संयम धारण करना वा मौन धारण करना तीर्थ है, इन्द्रियों का निग्रह करना

तीर्थ है और तपश्चरणा करना तीर्थ है। ये सब शरीर जन्य तीर्थ है जो जो मोक्षमार्ग की ओर संकेत करते है, मोक्षमार्ग को दिखलाते है।

चित्तं रागादिभिर्दुष्टमलीकवचननैर्मुखम्।
जीवघातादिभिः कायस्तस्य गङ्गा पराङ्मुखी॥

अर्थ– जिनका चित्त रागद्वेषसे दुष्ट है, जिनका मुख मिथ्या वचनों से दुष्ट है और जिनका शरीर जीवों का वध वा हिंसा करनें के कारण दुष्ट है ऐसे जीवों से गङ्गा भी प्रतिकूल रहती है।

आगे तीर्थस्नान से आत्मा को शुद्धि मानने वालों को कैसा फल मिलता है यही बात दिखलाते हैं।

ण्हाणाओ चिय सुद्धिं जीवा इच्छंति जड़त्तेण।
भमिहिंति ते वराया चउरासी जोणि लक्खाइ॥ २२॥
स्नानादेव शुद्धिं जीवा इच्छन्ति ये जडत्वेन।
भ्रमिष्यन्ति ते वराकाश्चतुरशीतियोनिलक्षाणि॥ २२॥

अर्थ– जो जीव अपनी जड बुद्धिके कारण स्नान करनेमात्र से ही आत्मा की शुद्धि मानते है वे तुच्छ पुरुष × चौरासीलाख योनियों में परिभ्रमण करते रहते है।

आगे कैसे जीव कभी शुद्ध नहीं होते सो दिखलाते है :–

× चौरासीलाख योनियां–

णिच्चदरधादुसत्तय तरुदस विगलिंदियेसु छच्चेवं।
सुरणरयतिरियचउरो चउदस मणुजे सदसहस्सा॥

नित्य निगोदके सात लाख, इतरनिगोदके सात लाख, पृथिवी कायिक के सात लाख, जल कायिक के सात लाख, अग्नि कायिक के सात लाख, वायु कायिक के सात लाख, वनस्पति कायिक के दस लाख दो इन्द्रियके दो लाख, तेइन्द्रियके दो लाख, चौइन्द्रियके दो लाख, देवों के चार लाख, नारकियो के चार लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के चार लाख और मनुष्यों के चौदह लाख। इस प्रकार समस्त संसारी जीवों की चौरासी लाख योनियां है।

जे तियरमणासत्ता विसयपमत्ता कसायरसविसिया ।
एहंता वि ते ण शुद्धा गिहवावारेसु वंदृता ॥ २३ ॥
ये स्त्रीरमणासक्ता विषयप्रमत्ता कषायरसवशिताः ।
स्नान्त अपि ते न शुद्धा गृहव्यापारेषु वर्तमानाः ॥ २३ ॥

अर्थ– जो जीव स्त्रियों के भोगो में सदा आसक्त रहते है, विषय भोगों मे लगे रहते है और जो क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों के वशीभूत रहते है ऐसे घर के व्यापार में लगे रहनेवाले पुरुष स्नान करने मात्रसे कभी शुद्ध नही हो सकते ।

सवस्सेण ण लित्ता मायापउरा य जायणसीला ।
किं कुणइ तेसु ण्हाणां अब्भंतर गहिय पावाणाम् ॥ २४ ॥
सर्ववस्तुना न तृप्ता माया प्रचुराश्च याचनाशीलाः ।
किं करोति तेषां स्नानमभ्यन्तर गृहीत पापानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ– जिनको समस्त पदार्थों का दान दे दिया जाय तो भी जो कभी तृप्त न हो, जो सदा काल अनेक प्रकार की मायाचारी करते रहते हो, जो सदा याचना करते रहते हो और जिन्होंने अपने आत्मामे अनेक पापों का संग्रह कर रक्खा हो ऐसे जीवों की शुद्धि के लिये भला स्नान क्या कर सकता है अर्थात् कुछ भी नही ।

भावार्थ– यद्यपि स्नान करने से अनेक जीवोंका घात होता है जलमें अनेक सूक्ष्म त्रस जीव रहते है विना छने पानीसे स्नान करने से उन समस्त त्रस जीवों का तथा जलमें रहनेवाले जल कायिक जीवों का घात हो जाता है । इसके सिवाय जिस फर्श पर वह जल गिरता है वहां भी मिट्टी जलके संयोग से अनेक जीव उत्पन्न होकर मर जाते है । इस प्रकार स्नान करने से अनेक प्रकार की हिंसा होने पर भी भगवान अरहंत देव की पूजा करने के लिये और सुपात्र वा पात्रों को दान देनेके लिये छने हुए पानी से स्नान करने का विधान है । गृहस्थ लोगों को समस्त कामों मे छना हुआ पानी ही काममें लाना चाहिये । लिखा भी है

" यः कुर्यात् सर्व कर्माणि वस्त्रपूतेन वारिणा ।
स मुनिः स महासाधुः स योगी स महाव्रती ॥

अर्थात्– जो गृहस्थ अपने सब काम छने हुए पानी से करता है वह गृहस्थ मुनी, साधु योगी महाव्रती के समान माना जाता है। इससे यह बात सहज रीति से समझ में आ जाती है कि बिना छने पानी से स्नान करने से अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा होती है और हिंसा होने से महा पापों का संग्रह होता है। इसलिये स्नान करने मात्र से पापों की निवृत्ती कभी नही हो सकती किंतु पापों की वृद्धि होती है। इसलिये स्नान करनें मात्र से आत्मा की शुद्धि मानना तो बहुत दूर की बात है। वह तो कभी कभी नही हो सकती।

आगे शुद्धता के कारण बतलाते है।

वयणियमसीलजुत्ता णिहय कसाया दयावहाजइणो
ण्हाणरहिया वि पुरिसा बभंचारी सया सुद्धा ॥ २५ ॥
व्रतनियमशीलयुक्ता निहतकषाया दयापरा यतयः।
स्नानरहिता अपि पुरुषा ब्रम्हचारिणः सदा शुद्धाः ॥ २५ ॥

अर्थ– जो मुनि पंच महा व्रत धारण करते हैं समिती गुप्ति आदि के समस्त नियम पालन करते हैं पूर्ण शीलव्रतों का पालन करते हैं, जिन्होंनें अपनें समस्त कषाय नष्ट कर दिये हैं जो सदा काल समस्त जीवों की दया पालन करनें मे तत्पर रहते हैं और पूर्ण रीति से बिना किसी प्रकार का दोष लगाये पूर्ण ब्रम्हचर्य का पालन करते है ऐसे पुरुष बिना स्नान किये ही सदा शुद्ध रहते हैं।

भावार्थ– शरीर और आत्मा दोनों की शुद्धि का कारण पूर्ण ब्रम्हचर्य है। यदि उसके साथ व्रत नियम शील पालन किये जाये, आत्मा को अशुद्ध करनेंवाले समस्त कषायोंको नष्ट कर दिया जाय और समस्त जीवों को दया की जाय, कभी किसी जीव की हिंसा न की जाय तो फिर उस जीव के पूर्व संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार उस आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि होती जाती है।

इस प्रकार संक्षेप से स्नान के दोष बतलाये। अब आगे मांस भक्षण के दोष बतलाते है।

मंसेण पियरवग्गो पीणिज्जइ एरिसो सुई जेसिं ।
लेहि मसेसं गोत्रं हणिऊण य भक्खियं णियमा ॥
मांसेन पितृवर्गः तृप्यते ईदृशी श्रुतिर्येषाम् ।
तैरशेषं गोत्र हत्वा च भक्षितं नियमात् ॥ २६ ॥

अर्थ– जिन ब्राह्मणों के वेद और स्मृतियों में मांस भक्षण करने से पितर लोग तृप्त होते हैं ऐसा लिखा है तथा जो लोग

उन वेद और स्मृतियों को मानते है और उसके अनुसार चलते हैं । उनको समझना चाहिये कि वे लोग नियमसे अपने ही घरके वा गोत्रके समस्त जीवों को मारकर खा जाते हैं ।

मनुस्मृतिमें लिखा है–

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हरिणेन तु ।
और भ्रेणथ चतुरः शाकुनेनाथ पंच वै ॥
षण्मांश्च्छागमांसेन पार्षतेण च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शश कूर्मेज मांसेन मासानेकादशैव तु ।
संवत्सर तु गव्येत पयसा पायसेन च ।
वार्धिणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥
काल शाकं महाशल्काः खड्ग लोहामिषं मधु ।
आनन्यायै कल्प्यन्ते मुन्नन्यानि च सर्वशः ॥
याज्ञवल्क्य मृति में भी ऐसा ही लिखा है -- यथा --

हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम् ।
मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥
ऐणरौरवबाराह शाशैर्मासैर्यथाक्रमम् ।
मांसवृद्धचाभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहैः ॥
खड्गामिषं महाशल्कं मधुमुन्यन्नमेव च ।
लोहामिषं महाशाकं मांसं वार्धिणस्य च ॥
यद्दाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।
तथा वर्षा त्रयोदश्यां मघासु च विशेषतः ॥

लगभग इनसे मिलते जुलते श्लोक मत्स्यपुराण अध्याय १में श्लोक संख्या तीस से पैंतीस तक में है ।

संक्षेपसे इन का अभिप्राय यह है कि मत्स्य के मांससे श्राद्ध करना अर्थात् ब्राह्मणों को श्राद्ध में मत्स्य का मांस खिलाने से पितर लोक दो महिने तक तृप्त रहते हैं, हिरण के मांस से तीन महिने तक, मेढाके मांस से चार महिने तक, पक्षियोंके मांस से पांच महिने तक, बकरी के मांस से छः महिने तक, चितेरा मृगके मांस से सात महिने तक, एण जातिके हिरण के मांस से आठ महिने तक, भुंवारके मांस से नौ महिने तक, जंगली सुअर वा भैंसाके मांस से दश महिने तक और खरगोश के मांस से ग्यारह महिने तक पितुर तृप्त होते हैं । गायके दूध की खीर से बारह महिने तक तृप्त होते हैं । वार्धीणासके मांस से बारह वर्ष तक पितर तृप्त होते हैं । गेंडा, महामत्स्य, कालशाक, लाल वर्ण का बकरा आदि से अनन्त तृप्ति होती है ।

इस प्रकार स्मृतियों में मांस खाने खिलाने का बीभत्स वर्णन है । शतपथ ब्राह्मणमें भी लिखा है–

" राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत् "

अर्थात् राजा वा ब्राह्मणके लिए बडा बैल वा बडा बकरा पकाना चाहिये । वशिष्ठस्मृतिमें भी यही बात लिखी है ।

आगे इस बातका समर्थन करते हैं ।

जे कयकम्मपउत्ता सुयण हिंडंती चउगई घोरे ।
संसारे गिण्हंता संबंधा सयल जीयेहिं ॥ २७ ॥
ये कृतकर्मप्रयुक्ताः स्वजना हिण्डन्ते चतुर्गतिघोरे ।
संसारे गृह्यन्तः संबन्धान् सकलजीवैः ॥ २७ ॥
तिरियगई उवण्णा संपत्ता मच्छयाई जे जम्मं ।
हरिऊण अवरपक्खे तेसि मसेहिं विविहेहिं ॥ २८ ॥
तिर्यग्गतावुत्पन्नाः सम्प्राप्ता मत्स्यादि ये जन्म ।
हत्वा अपरपक्षे तेषां मांसैर्विविधैः ॥ २८ ॥
कुणइ सराहं कोई पियरे संसारतारणत्थेण ।

सो तेसि मंसाणि य तेसिं णामेण खावेइ ॥ २९ ॥
करोति श्राद्ध कश्चित्पितुः संसारतारणार्थम् ।
स तेषां मांसानि च तेषां नाम्ना खादयति ॥ २९ ॥

अर्थ– जो अपने माता पिता भाई-बन्धु आदि मरकर अपने कर्मोंके उदय के अनुसार चारों गतियों में परिभ्रमण करते फिरते हैं और इस प्रकार इस संसार मे परिभ्रमण करते हुए समस्त जीवों के साथ यथा योग्य संबंध ग्रहण करते रहते हैं। उनमेसे वे माता-पिता के जीव तिर्यंञ्च गति में भी उत्पन्न होते हैं, हिरण, बकरा, मत्स्य आदि योनि में भी उत्पन्न होते हैं तथा पूर्व जन्म की उन्हीकी संतान श्राद्धपक्षमें उन्ही माता-पिताओं के जीव को इस संसारसे पार करनेके लिए श्राद्ध करते हैं और उस श्रद्धा मे उन्ही के जीवोंको जो मरकर बकरा, मत्स्य, हिरण आदि की योनियोंमें उत्पन्न हुए हैं मारकर खिलाते हैं और स्वय खाते है। इस प्रकार श्राद्ध करनेवाले वे लोग अपने माता-पिताओं को स्वर्ग मे पहुँचाने के लिये वा तारनेंके लिये श्राद्ध करते हैं उस श्राद्धमे वे लोग उन्ही माता-पिताओं के जीवों को मारकर उसका मांस उन्ही के नामसे खाते हैं वह कितने आश्चर्य की बात है ?

आगे इसी बातको उदाहरण देकर बतलाते हैं

बंकेण जह सताओ हरिणो हणिऊण तण्णिमित्तेण ।
पइ ऊण सोत्तियाणं दिण्णो खद्धोसयं चैव ॥ ३० ॥
बकेन तथा स्वतातो हरिणो हत्वा तन्निमित्तेन ।
प्रीणयित्वा श्रोत्रियेभ्यो दत्तः भक्षितः स्वयं चैव ॥ ३० ॥

अर्थ– जिस प्रकार एक बकनें अपने पिता के श्राद्ध मे अपनें ही पिता के जीव हरिण को मारकर श्रोत्रियों को खिलाया था और स्वयं भी खाया था।

भावार्थ– एक बक नामका व्यक्ति था उसका पिता मरकर हरिण हुआ था। जब उस बक नें अपनें पिताका श्राद्ध किया तो उस श्राद्धमें अपनें पिताके जीव हरिण को ही मारकर पकाया और श्रोत्रियों खिलाकर स्वयं भी खाया था। इस प्रकार उसनें अपनें पिता को तृप्त करनें के लिये वा उसे तारनें के लिये अपनें ही पिता के जीव हरिण को मारा था और उसका मांस श्रोत्रियों को खिलाकर स्वयं नें खाया था।

आगे मांस से होने वाले श्राद्ध के दोष बतलाते है।

मांसासिणो ण पत्तं मंसं ण हु होइ उत्तमं दाणं।
कह सो तिप्पइ पियरो परमुहगसियाइं भुंजंतो ॥ ३१ ॥

मांसाशिनो न पात्रं मांसं न हि भवति उत्तमं दानम्।
कथं स तृप्यति पिता परमुखग्रसितानि भुञ्जानः ॥ ३१ ॥

अर्थ— पहली दोष तो यह है कि मांस खाने वाले पुरुष कभी भी दान देने के पात्र नहीं माने जा सकते। दूसरी बात यह है कि मांस का दान देना कभी भी दान नहीं कहला सकता। फिर भला उसको उत्तम दान तो कह ही कैसे सकते है? तीसरी बात यह है कि दूसरे के मुखमें ग्रास देकर भोजन कराने से पितरों की तृप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। आगे भी इसी बात को दिखलाते है—

अण्णम्मि भुंजमाणे अण्णो जइ धाइएत्थ पच्चक्खं।
तो सग्गम्मि वसंता पिवरा तिप्पंति खु पावंति ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् भुंजमाने यदि तृप्यत्यत्र प्रत्यक्षम्।
ततः स्वर्गे वसन्तः पितरस्तृप्यंति खलु प्राप्नुवन्ति ॥ ३२ ॥

अर्थ— इस लोकमें यदि किसी एक को भोजन कराने से दूसरा मनुष्य तृप्त हो जाता हो, तब ही स्वर्ग में रहने वाले पितर लोग भी तृप्त हो सकते है।

भावार्थ— देवदत्तके भोजन करने से यक्षदत्त का पेट कभी नहीं भरता। फिर भला किसी के खालेनेसे स्वर्गमें रहने वाले पित्तर लोग कैसे तृप्त हो सकते है, कभी नहीं हो सकते। इसलिये श्राद्धमें पितरों को तृप्त करने के लिये किसी को खिलाना विडम्बना मात्र है, इसके सिवाय और कुछ नहीं।

आगे और भी इस के दोष दिखलाते है—

जइ दुत्तदिण्णदाणे पियरा तिप्पंति चउगइ गया वि।
तो जण्णहोमण्हाणं जव तव वेयाइं अकियत्था ॥ ३३ ॥

यदि पुत्रदत्तदानेन पितरः तृप्यन्ति चतुर्गति गता अपि ।
तर्हि यज्ञहोमस्नानं जपः तपो वेदादय अकृतार्थाः ॥ ३३ ॥

अर्थ– जो पितर लोग मरकर अपने २ कर्मके अनुसार चारों गतियों में से किसी एक गति में प्राप्त हो चुके है वे यदि पुत्रके द्वारा दिये हुए दानसे ही तृप्त हो जायं तो फिर यज्ञ, होम, स्नान जप-तप वेद आदि सब व्यर्थ हो जाते है ।

भावार्थ– स्वर्ग नरक आदि की प्राप्ति अपने आप किये हुए पुण्य पापसे होता है । जो स्वयं जप तप करता है, दान देता है इसे स्वर्ग की प्राप्ति होता है और हिंसा झूठ चोरी आदिके कयने से नरकादिक की प्राप्ति होती है । माता पिता भाई बन्धु आदि जीवों ने जैसा कर्म किया होगा उनको वैसे ही नरक स्वर्ग आदि की गति प्राप्ति हुई होगी । फिर भला पुत्र के द्वारा दिये हुए दान से उन पितरों का उद्धार कैसे हो सकता है ? यदि फिरभी थोडी देरके लिये मान लिया जाय कि पुत्र के दानसे ही पितरों का उद्धार हो जाता है तो फिर जो लोग जप करते है, तपश्चरण करते है स्वयं दान देते है वा और भी अनेक प्रकारके पुण्य कर्म करते है उनका वह जप तप दान आदि सब व्यर्थ हो जाता है । फिर तो स्वर्ग की प्राप्ति पुत्र के द्वारा दिये हुये दान पर ही निर्भर रही । परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है ।

कयपावो णरय गओ णिज्जय पुत्तेण पियरु सग्गम्मि ।
पिंडं दाऊण फुडं ण्हाइ य तित्थाइं भणिऊण ॥ ३४ ॥

कृतपापी नरके गतो नीयते पुत्रेण पिता स्वर्गं ।
पिंडं दत्वा स्फुटं स्नाति च तीर्थानि भणित्वा ॥ ३४ ॥

जइ एवं तो पियरो सग्गं पत्तो वि जाइ णरयम्भि ।
पुत्तेण कए दोसे बंभं हच्चाइगरुएण ॥ ३५ ॥

यद्येवं तर्हि पिता स्वर्गं प्राप्तोपि जायते नरके ।
पुत्रेण कृतेन दोषेण ब्रह्महत्यादि गुरुकेन ॥ ३५ ॥

अर्थ– जो माता पिता अपने अनेक पाप करने के कारण नरक

योनि में उत्पन्न हुए थे वे माता पिता के जीव यदि पुत्र के द्वारा पिण्ड-दान देने से वा तीर्थस्नान करने से स्वर्गमें जा सकते है तो फिर जो माता पिता पुण्य कर्म करने के कारण स्वर्गमें उत्पन्न हुए थे वे माता पिताके जीव यदि उसके पुत्रके द्वारा कोई ब्रह्महत्या आदि महा पाप किये जाते है तो उस पुत्रके उस दोष से उस पापसे वे स्वर्गमें उत्पन्न हुए माता पिताके जीव नरक में भी जा सकते है।

भावार्थ– यदि पुत्रके दान आदि से माना पिताके जीव नर्क मे से स्वर्ग भी जा सकते है तो फिर स्वर्ग में भी उत्पन्न हुए माता पिता के जीव भी पुत्रके पापसे नरक में भी जा सकते है। परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है।

आगे इसी विषय को फिर दिखलाते है।

अण्णकए गुण दोसे अण्णो जइ जाइ सग्ग णरयम्मि ।
जो कणइ पुण्ण पावं तस्सफलं सो ण वेएइ ॥ ३६ ॥

अन्यकृताभ्यां गुणदोषाभ्यामन्यो यदि याति स्वर्गनरकेषु ।
यः करोति पुण्यपापं तस्य फलं स न वेदयति ॥ ३६ ॥

अर्थ– यदि किसी एक पुरुषके गुण वा दोष से कोई दूसरा जीव स्वर्ग नरक जाता है तो फिर कहना चाहिये कि जो पुरुष स्वयं पुण्य वा पाप करता है उसका फल उसको नहीं मिल सकता। वह भी किसी दूसरे को मिल सकता है।

णहु वेयइ तस्य फलं कत्ता पुरेसो हु पुण्ण पावस्स।
जइ तो कह ते सिद्धा भूयग्गामा हु चत्तारि ॥ ३७ ॥

न हि वेदयति तस्य फलं कर्ता पुरुषः हि पुण्यपापयोः ।
यदि तर्हि कथं ते सिद्धा भूतग्रामा हि चत्वारः ॥ ३७ ॥

अर्थ– जो पुरुष पुण्य करता है वा पाप करता है यदि उसका फल उसको नहीं मिलता तो फिर मनुष्य तिर्यञ्च देव नारकी इन चार प्रकार के जीवों की सिद्धि कैसे हो सकगी ?

भावार्थ– जो पुरुष पुण्य करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है,

जो पाप करता है उसको नरक की प्राप्ति होती है। जो पुण्य अधिक करता है साथ में थोडा पाप भी करता है उसको मनुष्य गति की प्राप्ति होती है और पाप अधिक करता है और साथमें थोडा पुण्य भी करता है उसको तिर्यञ्च गति का प्राप्ति होती है। यह सब तभी सिद्ध हो सकता है जब कि यह जीव स्वयं किये हुए पुण्य-पाप का फल स्वयं भोगता है। यदि पुत्र के किये हुए पुण्य पाप से माता-पिताओं को सुख दुःख भोगना माना जाय तो इन चारों गतियों की सिद्धी कभी नही हो सकती। तथा विना पुत्र वालों की फिर क्या गति होगी ? इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि पुत्रके किये दानसे माता-पिताओंका उद्धार कभी नही हो सकता न पुत्रके पापसे माता-पिता नरक मे जा सकते हैं। जो जीव स्वयं जैसा पुण्य या पाप करता है उसका फल उसी को मिलता है। एक के द्वारा किये हुए पुण्य पापका फल दूसरे को कभी नहीं मिल सकता।

आगे निश्चित सिद्धान्त बतलाते हैं।

जो कुणइ पुण्णपावं सो चिय भुंजेइणत्थि संदेहो।
सग्गं वा णरयं वा अप्पाणो णेइ अप्पाणं ॥ ३८ ॥
यः करोति पुण्यपापं स एव भुनक्ती नास्ति संदेहः।
स्वर्गं वा नरकं वा आत्मना नयति आत्मानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ– जो जीव जैसा पुण्य वा पाप करता है उसका फल वही भोगता है इसमे किसी प्रकार का संदेह नही है। इस प्रकार यह आत्मा अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मा को स्वर्ग वा नरक मे ले जाता है।

भावार्थ– यह आत्मा पुण्य वा पाप अपने ही आत्मा के द्वारा वा अपने ही आत्मा के भावों से उपार्जन करता है और फिर उसी पुण्य से वह अपनें आत्मा को स्वर्ग में पहुँचाता है। और अपनें किये हुए पाप से नरक मे पहुँचाता है। किसी अन्य के द्वारा किये हुए दान पुण्य से दूसरा आत्मा न तो स्वर्ग जा सकता है और न किसी दूसरे के द्वारा किये पाप से किसी अन्य जीव का आत्मा नरक मे जा सकता है। इसलिये पितरों के उद्धार के लिये श्राद्ध करना व्यर्थ है।

एवं भणंति केई जल थल गिरीसिहर अग्गिकुहरेसु ।
चहुविह भूयग्गामे वसइ हरी णत्थि संदेहो ॥ ३९ ॥
एवं भणन्ति केचिज्जलस्थलगिरिशिखराग्निकुहरेषु ।
चतुर्विधभूतग्रामेषु वसति हरिर्नास्ति सन्देहः ॥ ३९ ॥

अर्थ– कोई कोई मतवाले ऐसा कहते हैं कि जलमे स्थलमे पर्वतों के शिखरपर अग्नि मे गुफा वा छिद्रों में तथा सब प्रकार के जीवों में भगवान हरि रहते हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नही है। लिखा भी है :-

ज लेविष्णुः स्थले विष्णुविष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्व विष्णु मयंजगच् ॥

अर्थात्– जल मे भी विष्णु है स्थल मे भी विष्णु है है पर्वत के मस्तक पर भी विष्णु है अग्नि जल आदि सब मे विष्णु है। कहां तक कहा जाय यह समस्त संसार और समस्त जीव विष्णुमय है। ऐसा कोई कोई मानते हैं।

आगे ऐसा मानने वालों के लिये कहते है।

सव्वगओ जइ विण्हू णिवसइ देहम्मि सव्व देहिणं ।
तो रुक्खाइहण्ण सो णिहओ होइ णियमेण ॥ ४० ॥
सर्वगतो यदि विष्णुः निवसति देहे सर्वदेहेनाम् ।
तर्हि वृक्षादि घातेन स निहतों भवति नियमेन ॥ ४० ॥

अर्थ– यदि विष्णु समस्त संसार मे व्याप्त है तो विष्णु समस्त संसारी जीवों में भी रहता हैं, और यदि वह विष्णु समस्त संसारी जीवों मे रहता है तो फिर किसी वृक्ष को काटनेंसे वह विष्णु भी काटा गया ऐसा समझना चाहिये। लिखा भी है।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्व नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्व बुद्धः कलकीच ते दश ॥
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च विष्णुः संपूज्य भक्तितः ।
मत्स्यादीनां कथं मासं भक्षितुं कल्प्यते बुधैः ॥

अर्थात्– मत्स्य, कूर्म वा कच्छप, कृष्ण, बुद्ध, कल्की, नरसिंह

वामन, राम, परशुराम वराह वा शूकर ये सब दश विष्णु के अवतार माने हैं। इनमें से सबकी मूर्ती बनाकर भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं फिर भला बुद्धिमान पंडीत लोग इन्हीं मत्स्य आदि के मांस खानेका विधान क्यों करते हैं।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

किडिकुम्म मच्छरूवं पडिमं काऊण विण्हु भणिऊण।
अच्चेयणम्मि पुज्जइ गंधक्खयधूवदिवेहिं ॥ ४१ ॥

किटिकूर्ममत्स्यरूपां प्रतिमां कृत्वा विष्णु मणित्वा।
अचेतनां पूजयंति गंधाक्षतधूपदीपैः ॥ ४१ ॥

जो पुण चेयणवंतो विण्हू पच्चक्ख मच्छ किडिरुवो।
सो हणिऊण य खद्धो दिण्णो पियण्णा पावेहिं ॥ ४२ ॥

यः पुनः चैतन्यवान् विष्णुः प्रत्यक्षं मत्स्यकिटिरूपः।
स हत्वा च भक्षितो दत्तः पितृभ्यः पापैः ॥ ४२ ॥

अर्थ– सूअर कच्छप मत्स्य इन सबकी प्रतिमा बनाकर और विष्णु मानकर गंध, अक्षय, दीप, धूप आदी से उस अचेतन प्रतिमा की पूजा करते हैं। फिर भला मत्स्य, कच्छप, सूअर आदि चैतन्य जीवोंमें प्रत्यक्ष विष्णु विद्यमान है फिर भी उन मत्स्यादिक को और उनमें रहनेवाले भगवान विष्णु को मारकर वे पापी अपने पितरों को खाने के लिये देते हैं। यह कैसी विपरित और आश्चर्य की बात है।

आगे भी यही बात दिखलाते हैं।

जइ देवो हणिऊणं मंसं गणिऊण गम्मए सग्गं।
तो णरयं गंतव्वं अवरेणिह केण पावेण ॥ ४३ ॥

यदि देवं हत्वा मासं ग्रसित्वा गम्यते स्वर्गम्।
तर्हि नरकं गन्तव्यं अपरेणेह केन पापेन ॥ ४३ ॥

अर्थ– यदि अपने देवको ही मारकर और उसका मांस खाकर यह जीव स्वर्ग में जाता है तो फिर अन्य ऐसे कौन से पाप हैं जिनसे यह जीव नरक जायगा।

भावार्थ– अपने साक्षात् देव को मारकर उसका मांस खा जाना सब से बडा पाप है इससे बढकर और कोई पाप नहीं हो सकता। यदि ऐसे महा पाप से भी यह जीव स्वर्ग में चला जाता है तो फिर नरक में जाने योग्य संसार भर में कोई महा पाप नही है। इससे सिद्ध होता है कि जीवों कों मारने और मांस खाने से स्वर्ग की प्राप्ति कभी नही हो सकती। ये दोनों ही काम नरक के कारण हैं। लिखा भी है–

अल्पायुषो दरिद्राश्च नीचकर्मोपजीविनः।
दुष्कुलेषु प्रसूयन्ते ये नराः मांस भोजिनः॥
येत्ति मनुष्यो मांसं निर्दयचेताः स्वदेहपुष्टयर्थम्।
याति स नरकं सततं हिंसापरिवृत्तचित्तत्वात्॥

अर्थात्– जो पुरुष मांस भक्षण करते हैं वे मनुष्य मरकर नीच कुल में उत्पन्न होते हैं। नीच कर्म करने वाले होते हैं दरिद्री होते हैं और अल्प आयु वाले होते है। जो निर्दय अनुष्य अपने शरीर को पुष्ट करने के लिये मांस भक्षण करता है उसका चित्त सदाकाल हिंसा करने मे ही लगा रहता है और इसलिये वह जीव बार बार नरक में ही उत्पन्न होता है।

आगे फिर भी यही बात दिखलाते है–

हणिऊण पोढछेलं गम्मइ सग्गस्स एस वेयत्थो।
तो सूणारा सव्वे सग्गं णियमेण गच्छंति॥ ४४॥

हत्वा प्रौढच्छागं गच्छति स्वर्गं एष वेदार्थः।
तर्हि सूनकाराः सर्वे स्वर्गं नियमेन गच्छन्ति॥ ४४॥

अर्थ– यदि वेदका अर्थ यही है कि मोटाताजी बकरा मारकर खा जाने से यह जीव स्वर्ग में चला जाता है तो फिर संसार में जितने पाप कर्म करने वाले है वे अवश्य ही स्वर्ग में चले जायेंगे।

सव्वगओ जइ विण्हु छागसरीरम्मि किं ण सो अत्थि।
जं णिताणो वहियो चडप्फडंतो णिरूस्सासो॥ ४५॥

सर्वगतो यदि विष्णुः छागादि शरीरे किं न सोस्ति।
यद् निस्त्राणः हतः संतप्यमानो निःश्वासः॥ ४५॥

अर्थ– यदि विष्णु सर्व व्यापक है तो क्या वह उस मोटे ताजे बकरे के शरीर में नहीं है ? अवश्य है। फिर भी श्रोत्रिय लोग जिस बकरे का कोई रक्षक नहीं है, जो तडफ रहा है और श्वासें छोड रहा है ऐसे उस बकरे को मार ही डालते है। यह कितनीं विपरीत बात है। लिखा भी है–

अन्ये चैवं वदन्त्येके यज्ञार्थं यो निहन्यते ।
तस्य मांसाशिनः सोपि सर्वेयान्ति सुरालयम् ॥

तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रज्ञैस्तस्य निश्चयात् ।
पुत्रवंध्वादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥

अर्थात्– कोई कोई लोग ऐसा कहते है कि यज्ञ में जो पशु मारा जाता है और जो लोग उसका मास खाते है वे सब और वह पशु सब स्वर्ग मे जाकर उत्पन्न होते है। परंतु ऐसा कहने वालों को समझना चाहिये कि यदि उनका ऐसा निश्चय है तो फिर वे लोग अपने पुत्र भाई आदि का होम क्यों नहीं करते जिससे वे सब लोग अनायास ही स्वर्ग मे जा पहुंचें। और भी लिखा है–

नाहं स्वर्गफलोपभोग तृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतुं न युक्तं तव,

स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बांधवैः ॥

अर्थात्– जिस पशु को यज्ञ मे मारना चाहते है वह पशु उन श्रेत्रियों से कहता है कि हे भाई ! तू जो मुझे मार कर स्वर्ग पहुंचना चाहता है सो भाई मुझे तो स्वर्ग के फल भोगने की लालसा नहीं है, न मैं आप लोगों से स्वर्ग पहुंचाने की प्रार्थना करता हूं मैं तो सदा काल तृण भक्षण करने मे ही संतुष्ट रहता हूं इसलिये मुझे मारना सर्वथा अनुचित है। यदि यह बात निश्चित है कि इस यज्ञ मे मारे हुये प्राणी सब स्वर्ग मे चले जायंगे तो फिर आप लोग अपने माता पिता पुत्र भाई आदि कुटुंबियों का ही इस यज्ञ मे होम क्यों नहीं करते ? जो वे सब अनायास ही स्वर्ग मे पहुंच जायं ?

आगे अन्य प्रकार से भी ऐसी हिंसा का निषेध करते है।

अण्णं इयणि सुणिज्जइ सत्थे हरिबंभरुद्दभत्ताणं।
सव्वेसु जीवरासिसु अंगे वेवा हु णिवसंति ॥ ४६ ॥

अन्यदितिश्रूयते शास्त्रे हरिब्रम्हरुद्रभक्तानाम्।
सर्वेषां जीव राशीनां अंगे सुवा हि निवसन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ– इन के मत में यह भी लिखा है कि ब्रह्मा विष्णु महादेव समस्त जीवों के अंगों में निवास करते है यथा–

नाभिस्थाने वसेद् ब्रम्हा विष्णुः कंठे समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥

नासाग्रे च शिवं विद्यात्तस्यान्ते च परोपरः।
परात्परतरं नास्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

अर्थात्– समस्त जीव राशियों की नाभि में ब्रह्मा निवास करते है, विष्णु कंठ में निवास करते है, तालु के मध्य भाग में रुद्र निवास करते है, ललाट पर महेश्वर रहते है, नाक के अग्र भाग पर शिव रहते है तथा नासिका के अंत में अन्य देवता रहते है।

आगे किसी भी जीव के मारने से इन ब्रह्मा विष्णु महादेव की भी हिंसा होती है, ऐसा दिखलाते है।

सव्वेसु जीवरासिसु ए ए णिवसंति पंच ठाणेसु।
जइ तो किं पसु वहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥ ४७ ॥

सर्वेषु जीवराशिषु एते निवसन्ति पंचस्थानेषु।
यदि तर्हि किं पशुवधेन न मारिता भवन्ति ते सर्वे ॥ ४७ ॥

अर्थ– इस संसार मे रहनेवाले समस्त ससारी जीवों के नाभि कंठ तालु ललाट और नासिका इन पांचो स्थानो में ब्रह्मा विष्णू महेश्वर रहते हैं फिर भला किसी भी प्राणी से मारने से उनकी मान्यतानुसार इन ब्रह्मा विष्णु महेश का भी घात अवश्य हो जाता है। इस प्रकार किसी भी जीव की हिंसा करने से इन देवों की भी हिंसा अवश्य होती है।

आगे इसी बात को स्पष्ट कहते हैं –

देवे वहिऊण गुण लब्भइ जइइत्थ उत्तमा केई ।
तो रुक्ख वंदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥ ४८ ॥

देवान् बुद्धध्वा गुणान् लभन्ते यद्यत्रोत्तमाः केचित
तर्हि वृक्षवन्दनया अपरे पारधिका सर्वे ॥ ४८ ॥

अर्थ– इस संसार में यदि उत्तम पुरुष देवों को मारकर ही गुण प्राप्त करना चाहते हैं, स्वर्गादिक की प्राप्ति करना चाहते हैं तो वे सब लोग हत्यारे पारधी हैं जो लोग वृक्षों की वंदना करके भी प्रसन्न होते हैं अर्थात् वृक्ष वा पोधों तक को नही तोडते ऐसे लोगों को छोडकर शेष जीवों को मारनेंवाले सब पारधी हैं । लिखा भी है–

नहिं हिंसाकृते धर्मः सारंभे नास्ति मोक्षता ।
स्त्री संपर्के कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया ॥

अर्थात्– हिंसा करने पर कभी धर्म नहीं हो सकता, घर के वा व्यापार आदि के आरंभ कार्य करते हुए कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, स्त्री समागम करनें पर कभी पवित्रता नहीं हो सकती और मांस भक्षण करनेंपर कभी दया नही हो सकती ।

तिलसर्षपमात्रं वा यो मांसं भक्षयेतद्विजः ।
स नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवांकरौ ॥

अर्थात्– जो ब्राह्मण तिल वा सरसों के समान भी मांस भक्षण करता है वह जीव जबतक सुर्य चन्द्रमा विद्यमान रहेंगे तब तक कभी नरक से नहीं निकल सकता ।

आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्टवा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

अर्थात्– ब्राह्मण लोग पहले आकाश गामी थे परंतु मांस भक्षण करनें से वे पतित हो गये और पृथ्वी पर चलने लगे । इस प्रकार उक के पतन को देखकर कभी भी मांस भक्षण नही करना चाहिये ।

आगोपालं कियत्सिद्धं धान्यं मांसं पृथक् पृथक् ।
मांसमानय इत्युक्तेन कश्चिद्धान्यमानयेत् ॥

अर्थात्– धान्य वा अन्न अलग पदार्थ है और मांस अलग पदार्थ है। इस बात को बालक वृद्ध आदि सब जानते हैं। क्योंकि मांस लाओ ऐसा कहने पर कोई भी बालक वा वृद्ध अन्न वा धान्य नही लाता।

स्थावरा जंगमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिता ।
जंगमेषु भवेन्मासं फलं तु स्थावरेषु च ॥

अर्थात्– संसार मे दो प्रकार के जीव है। एक स्थावर और जंगम वा त्रस। इनमे से त्रस जीवोंसे मांस उत्पन्न होता है तथा स्थावर वृक्षादिकों पर फल लगते है।

मासं तु इन्द्रियं पूर्णं सप्तधातुसमन्वितम् ।
यो नरो भक्षते मांसं स भ्रमेत्सागरान्तकम् ॥

अर्थात्– मांस समस्त इन्द्रियों से पूर्ण होता है और रुधिर मज्जा आदि सातों धातुओं से मिला रहता है। इसलिये जो मनुष्य मांस भक्षण करता है वह अनंत सागरों तक इस संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चैव घातकः ॥
उपदेष्टानुमंता ज षडेते समभागिनः ॥

मांस को लाने वाला, पकाने वाला, खाने वाला जीव को मारने वाला और उसकी अनुमोदना करने वाला इन छहों जीवों को समान पाप लगता है।

मांसाशनातिसक्के क्रूरनरे नसं निष्ठते सुदया ।
निर्दयमनसि न धर्मो धर्मविहीने च नैव सुखिता स्यात् ॥

जो क्रूर मनुष्य मांस भक्षण करने में अत्यंत आसक्त रहता है उसके हृदय में कभी कभी उत्तम दया नही हो सकती तथा जिसका हृदय अत्यंत निर्दय है उस हृदय में कभी कभी धर्म नही ठहर सकता और धर्म रहित मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता।

न कर्दमे भवेन्मांसं न काष्ठेषु तृणेषु च ।
जीवशरीराद् भवेन्मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

न तो कीचड में मांस है न काठ वा लकडीं में मांस है और न तृणो मे घास फूंस में मांस है । मांस सदा जीवों के शरीर से ही उत्पन्न होता है । इसलिये मांस भक्षण कभी नहीं करना चाहिये ।

सर्वं शुक्रं भवेद् ब्रम्हा विष्णुर्मांसं प्रवर्तते ।
ईश्वरोप्यस्ति संघाते तस्मान्मांस न भक्षयेत् ॥

संसार में शुक्र वा वीर्य सब उत्पत्ति के कारण होनें से ब्रह्मा कहलाते है । तथा पुष्टी वा पालन करने के कारण मांस की विष्णु संज्ञा है इस प्रकार इन जीवों का घान करने से ईश्वर का भी घात होता है । इसलिये मांस भक्षण नहीं करना चाहिये ।

मासं जीवं शरीरं भवेन्नवा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्नवा निम्बः ॥

मांस जितना है वह सब जीवों के शरीर से ही उत्पन्न होता है परन्तु जितमे जीवों के शरीर हैं वे सब मांस नहीं होते उनमें से कुछ जीवों के शरीर मांस रूप होते है और कुछ जीवों के शरीर मांस रूप नही होते । जैसे चलने फिरने वाले मत्स्य आदि के शरीर मांस रूप होते है और वृक्षादिक के शरीर मांस रूप नही होते । जैसे नीमका वृक्ष वृक्ष ही होता है परन्तु जितने वृक्ष है वे सब नीम के वृक्ष नही होते क्योंकि कोई वृक्ष आमके होते है कोई नीबूके होते है । इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

कश्चिदाहेति यत्सर्वं धान्यपुष्पफलादिकम् ।
मांसात्मकं न तत्किं स्याज्जीवांगत्वप्रसंगतः ॥

कोई कोई यह कहते है कि संसार में जितने धान्य फल-फुल आदि है वे सब जीवके शरीर के ही अङ्ग है इसलिये वे मांस रूप ही क्यों नही कहला सकते । परन्तु उनका यह कहना सर्वथा अनुचित है । क्योंकि–

जीवत्वेन हि तुल्या वे यद्यप्येते भवन्तु ते ।
स्त्रीत्वे सत्ति यथा माता अभक्ष्यं जंगमं तथा ॥

यद्यपि जीव होने के कारण जंगम और स्थावर दोनों प्रकार के जीव समान है परन्तु मांस उत्पन्न होने के लिये समान नही है । स्थावर जीवों के शरीर मे कभी मांस उत्पन्न नही हो सकता है । जिस प्रकार स्त्री पना हो परने भी माता माता है वह स्त्री नहीं हो सकती इसी प्रकार जंगम जीवो का शरीर कभी भी भक्षण करने योग्य नही हो सकता ।

यद्वद्गरुडः पक्षी पक्षी न तु एव सर्वं गरुडोस्ति ।
रामैव चास्ति माता माता न तु सार्विका रामा ॥

जिस प्रकार गरुड तो पक्षी होता है परन्तु जितने पक्षी हैं वे सब गरुड नही हो सकते । इसी प्रकार स्त्री ही माता है परन्तु माता सब रूप से स्त्री नही हो सकती ।

शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् ।
विषघ्नं रत्नमादेयं विषं च विपदे मम: ॥

जिस प्रकार रत्न और विष दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न होते है तथापि रत्न विषको दूर करनेवाला है इसलिये उपादेय है और विष विपत्तिका कारण है इसलिये तज्य है । इसी प्रकार दूध भी गायसे उत्पन्न होता है और मांस भी गायसे उत्पन्न होता है परन्तु दूध शुद्ध है और मांस शुद्ध नही है । यह केवल वस्तु की विचित्रता है ।

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये स्मृतम् ॥

यद्यपि दूध और मांस दोनों की उत्पत्ति का समान कारण है गायसे ही दोनों उत्पन्न होते है तथापि मांस त्याज्य है और दूध पीने योग्य है । देखो विष वृक्षके पत्ते आयु बढाते है और उसकी जड मृत्युका कारण है ।

पंचगव्यं तु तैरिष्टं गोमांसे कापथः कृतः ।
तत्पित्तसंभवः पीतो देवा प्रतिष्ठादिषु रोचना ॥

ब्राह्मण लोग पंचगव्य मानते है परन्तु गोमांस उसमें भी वर्जित है तथा उसी गायके पित्त से उत्पन्न हुआ गोरोचन वे लोग अपने प्रतिष्ठादिक के काम में ले आते है ।

इति हेतोर्न वक्तव्यं सादृश्यं मांसधान्ययोः ।
मांसं निन्द्यं न धान्यं स्यात् प्रसिद्धेयं श्रुतिर्जनैः ॥

इन सब कारणों को समझ कर यह कभी नही कहना चाहिये कि मांस और दोनों समान है । मांस और धान्य कभी समान नहीं हो सकते । मांस महा निंध है और धान्य नहीं है । यह बात सब लोग जानते है । इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।

इस प्रकार संक्षेप से मांस के दोष बतलाये है ।

आगे गोयोनि वन्दना के दोष दिखलाते है ।

वंदइ गोजोणि सया तुण्डं परिहरइ भणिवि अपवित्तं ।
विवरीयाभिणिवेसो एसो फुडु होई मिच्छोवि ॥ ४९ ॥

वन्दते गोयोनिं सदा तुण्डं परिहरति भणित्वाऽपवित्रम् ।
विपुरीताभिनिवेश एष स्फुटं भवति मिथ्यात्वमपि ॥ ४९ ॥

अर्थ– जो लोग गायके मुखको अपवित्र कहकर छोड देते है और उनकी योनि की वंदना करते है यह उनका विपरीत श्रद्धान है इसीको प्रगट वा साक्षात् मिथ्यात्व कहते है ।

आगे योनि वन्दना के दोष दिखलाते है ।

पावेण तिरियजम्मे उव्वण्णा तिणयरी पसू गावी ।
अविवेया विट्ठासी सा कह देवत्तणं पत्ता ॥ ५० ॥

पापेन तिर्यग्जन्मनि उत्पन्ना तृणचारिणी पशुः गौ; ।
अविवेकिनी विष्ठाशिनी सा कथं देवत्वं प्राप्ता ॥ ५० ॥

अर्थ– जो गाय अपने पाप कर्मके उदयसे तिर्यञ्च योनि मे पशु-

पर्याय में उत्पन्न हुई है जो पशु कहलाती है, घास मुस खाती है जो विवेक रहित है, हित-अहित का कुछ विचार नहीं कर सकती और विष्टा भी भक्षण करती है ऐसी गाय भला देवता कैसे हो सकती है अर्थात् कभी नहीं हो सकती।

अहवा एसो धम्मो विट्ठं भक्खंतया वि णमणीया।
तो किं वज्झइ दुज्झइ ताडिज्जय दीहदंडेन ॥ ५१ ॥

अथवैष धर्मो विष्ठां भक्षयन्त्यपि नमनीया।
तर्हि किं बध्यते दुह्यति ताड्यते दीर्घदण्डेन ॥ ५१ ॥

अर्थ– यदि आप लोगों ने यही मान लिया है कि गाय चाहे विष्टाभक्षण करती रहे तथापि वह वन्दनीय है तो फिर उसे क्यों बांधते हो, क्यों दुहते हो और बडी लकडी लेकर क्यों उसे मारते हो।

भावार्थ– जो देवताके समान वन्दनीय है तो फिर उसे कभी नहीं बांधना चाहिये, कभी नहीं मारना चाहिये और कभी नहीं दुहना चाहिये।

आगे और भी दिखलाते है।

सुरही लोयस्सागे वक्खाणय एस देवि पत्र्चक्खा।
सव्वे देवा अंगे इमिए णिवसंति णियमेण ॥ ५२ ॥

सुरभिः लोकस्याग्रे कथ्यते एषा देवी प्रत्यक्षा।
सर्वे देवा अंगे अस्या निवसन्ति नियमेन ॥ ५२ ॥

पुण रवि गोसवजण्णे मंसं भक्खंति सा वि मारित्ता।
तस्सेव वहेण फुडं ण मारिया होंति ते देवा ॥ ५३ ॥

पुनरपि गवोत्सवयज्ञे मांसं भक्षयन्ति तामपि मारयित्वा।
तस्या एव वधेन स्फुटं न मारिता भवन्ति ते देवाः ॥ ५३ ॥

अर्थ– जो लोग सब लोगों के सामने यह कहते है कि यह गाय प्रत्यक्ष देवता है इसके शरीर में नियम रूपसे सब देवता निवास करते है। ऐसा कहते हुए भी वे लोग गवोत्सव यज्ञ में वा गो यज्ञमें उसी गाय को मारकर उसका मांस खा जाते है। क्या उस गायके मारने से समस्त देवों का वध नहीं हो जाता! अवश्य हो जाता है।

भावार्थ– गवालभन (गो वध का विषय वेदादि शास्त्रों में प्राय अनेक स्थलमें आता है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण अष्टक ३ अध्याय ९ अनुवाक नवम में लिखा है कि " अज जातीय अविजातीय और आरण्य ये पशु मुख्य नहीं है किन्तु गो जातीय पशुको ही सर्व पशु-के स्नान में प्रयोग करना। इसलिये उत्तम दिन में गो जातीय पशुका आलंभन करना। तथा च तत्पाठः तदाहुः–अपशवो वा एते यदजावय-श्चारण्याश्च एते वै सर्वे पशवः यद्गव्या इति। गव्यान्पशूनुत्तमेऽहन्याल भते। तेनैवा भयान् पशूनवरुन्धे इति।

इसी का अर्थ सायण भाष्य में इस प्रकार लिखा है–

तत्र पशु विषये रहस्याभिज्ञा एवमाहुः। अजजातीय। अविजाती-या आरण्याश्च ये सन्ति ते मुख्याः पशवो न भवन्ति। किन्तु गो जातीया एत एव सर्वे पशवः सर्वपशुस्थाने प्रयोक्तव्या इति। तस्मादुत्तमेऽहनि गो जातीयान् पशूनालभेत। तेनैव गवालंभनेन ग्राम्यानारण्यांश्चोभयान् प्राप्नोति॥

खदिर गृह्यसूत्र पटल ३ खण्ड ४ में भी गाय का हवन करना लिखा है।

आगे श्रोत्रिय लोगों के लिए कहते है।

सोत्ति य गव्वुब्बुढा मंसं भक्खंति रमिहि महिलाओ।
अपवित्ताइं अशुद्धादेहच्छिद्दाइ वंदंति॥ ५४॥

श्रोत्रिया गर्वोत्कटा मांसं भक्षयन्ति रमन्ते महिलाः।
अपवित्राणि अशुद्धानि देहच्छिद्राणि वन्दन्ते॥ ५४॥

अर्थ– अपने अभिमानसे मदोन्मत्त हुए ये श्रोत्रिय लोग मांस भक्षण करते है, स्त्रियोंके साथ संभोग करते है तथा गोयोनि ऐसे अपवित्र और अशुद्ध ऐसे शरीर के छिद्रों की वदना करते है।

आगे श्रेत्रियका यथार्थ लक्षण कहते है।

हो सोत्तियो भणिज्जइ णारीकडिसोत्त वज्जिओ जेण।
जो तु रमणासत्तो ण सोत्तिओ सो जडो होई॥ ५५॥

स श्रोत्रियो भण्यते नारीकटिस्रोतो वर्जितं येण ।
यस्तु रमणासक्को न श्रोत्रियः स जडो भवति ॥ ५५ ॥

अर्थ– जिस महापुरुषने स्त्री के कटिभाग के स्रोतका सर्वथा त्याग कर दिया है अर्थात् जो कभी स्त्री सेवन नहीं करता, सदाकाल ब्रह्मचारी रहता है उसको श्रोत्रिय कहते है। जो पुरुष स्त्री सेवन करने में आसक्त रहता है वह कभी श्रोत्रिय नहीं हो सकता उसे जड कहना चाहिए।

श्रोत्रिय का आजकाल क्या अर्थ करते हैं – यह दिखाते है।

अहवा पसिद्धिवयणं सोत्त सेवए जेण ।
मुत्तप्पवहणदारं सोत्तियओ तेण सो उत्तो ॥ ५६ ॥

अथवा प्रसिद्ध वचनं स्रोतो नारिणां सेव्यते येन ।
मूत्रप्रवाहद्वारं श्रोत्रियः तेन स उक्कः ॥ ५६ ॥

अर्थ– आज कल श्रोत्रियों के लिये प्रसिद्ध बात यह देखी जा रही हैं कि जो पुरुष स्त्रियों के स्त्रोतका सेवन करता है वही श्रोत्रिय माना जाता है।

भावार्थ- वास्तविक श्रोत्रिय का लक्षण तो ऊपर लिखा है। श्रोत्रिय सर्वथा ब्रह्मचारी होता है। मद्य मांस आदि निद्य पदार्थोंका सेवन कभी नहीं करता और न कभी किसी जीव की हिंसा करता है। परन्तु जो लोभी है, लालची है ठग है, मद्य मांस भक्षण का अभिलाषी है और स्त्री सेवन में आसक्त है वही पुरुष बनावटी श्रोत्रिय है तथा मांस भक्षण के लिये पशुयज्ञ का विधान करना है अथवा श्राद्ध आदि में पशु हत्या का विधान करता है। इस प्रकार वह स्वयं भी नरक जाता है और अन्य यजमानों को भी ले जाता है।

आगे ऐसे विपरीत मिथ्यात्व का फल दिखलाते हैं।

इय विवरीयं उत्तं मिच्छतं पावकारणं विसमं ।
तेण पउत्तो जीवो णरय गई जाइ णियमेण ॥ ५७ ॥

इति विपरितं उक्तं मिथ्यात्वं पापकारणमं विषमम् ।
तेन प्रयुक्तो जीवो नरकगतिं याति नियमेन ॥ ५७ ॥

अर्थ– इस प्रकार जो मिथ्यात्व महा पापका कारण है और अत्यन्त विषम है ऐसे विपरित मिथ्यात्वका स्वरूप कहा । जो पुरुष इस विपरित मिथ्यात्वमें प्रवृत्त होता है वह नियमसे मरकर नरक में जाता है ।

अवि सहइ तत्थ दुक्खं सक्करपमुहणयविवरेसु ।
कह सो सग्गं पावइ णिहय पसू खद्धपलगासो ॥ ५८ ॥

अपि सहते तत्र दुःखं शर्कराप्रमुखनरकविवरेषु ।
कथं स स्वर्गं प्राप्नोति निहत्य पशून् खादितपलग्रासः ॥

अर्थ– नरक में जाकर वह प्राणी रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा आदि सातों नरकों की भूमियों मे वा किसी एक भूमि अत्यन्त महा दुःख सहन करता है सो ठीक ही है । क्योंकि जो पशुओं को मारता है और उनका मांस भक्षण करता है उसको स्वर्ग की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नही हो सकती । उसको तो नियमसे नरक की प्राप्ति होगी ।

जइ कहव तत्थ णिग्गइ उप्पज्जइ पुणु वि तिरियजोणिसु ।
मारियइ सोत्तिएहिं णित्ताणो पुण वि जण्णम्मि ॥ ५९ ॥

यदि कथमपि ततो निर्गच्छति उत्पद्यते पुनरपि तिर्यग्योनिषु
मार्यते श्रोत्रियैः निस्त्राणः पुनरपि यज्ञे ॥ ३९ ॥

अर्थ– यदि किसी प्रकार वहां से निकलता भी है तो फिर उसी तिर्यञ्चच योनि मे उत्पन्न होता है और अन्य श्रोत्रियों के द्वारा यज्ञ में मारा जाता है वहां पर उसकी कोई रक्षा नही कर सकता ।

णियभासाए जंपइ में मंतो कहइ आसि मे रइयं ।
एवं वेयबिहाणे संपत्ता दुग्गई तेण ॥ ६० ॥
निज भाषायां जल्पति मे मे कथयति आसीत् मया रचितम् ।
एवं वेदविधानेन सम्प्राप्ता दुर्गतिः तेन ॥ ६० ॥

अर्थ जब वह श्रोत्रियों के द्वारा मारा जाता है तब वह अपनी भाषा मे शब्द कहता है अर्थात वह कहता है कि यह सब मेरा ही बनाया हुआ है मैंने ही पहले किसी यज्ञ में पशुओं को मारा था इसलिये ऐसे ही यज्ञ में अब मैं मारा जाता हूँ। इस प्रकार वेद के कहे अनुसार वह जीव अनेक प्रकार की दुर्गतियों मे प्राप्त होता है और फिर फिर मर कर नरक जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रकार वह इस संसार मे महा दुःख भोगता रहता है।

इय विलवंतो हण्णइ गलयं मुहनासरंध रुंधिता।
भक्खियइ सोत्तिएहिं विहिण बहुवेय वंतेहिं ॥ ६१ ॥

इति विलपन् हन्यते गलितं मुखनासिकारन्ध्रं रुद्ध्वा।
भक्ष्यते श्रोत्रियैः विधिना बहुवेदविद्भिः ॥ ६१ ॥

अर्थ– इस प्रकार अनेक वेदों को जाननेवाले श्रोत्रिय लोग उस पशु के नाक और मुख के छिद्रों को बंद कर देते हैं और फिर जो पशु विलाप करता है और उसके मुख नाक के छिद्रों से रुधिर निकलता है ऐसे उस पशु को वे लोग कथित की विधि के अनुसार मार कर खा जाते हैं।

अस विवरीयं कहियं मिच्छत पावनारणं विसमं।
जो परिहरइ मणुस्सो सो पावइ उत्तमं ठाण ॥ ६२ ॥

इति विपरितं कथितं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमम्।
यः परिहरति मनुष्यः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥ ६२ ॥

अर्थ– इस प्रकार जो यह विपरित मिथ्यात्व महा पाप का कारण है और अत्यन्त विषम है उसका स्वरूप कहा। जो मनुष्य इस विपरित मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग कर देता है वही जीव स्वर्गादिक के उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार विपरित मिथ्यात्व का स्वरूप कहा।

एयंतमिच्छदिट्ठि बुद्धो एयंत णय समालंवो।
एयंते खणियत्तं मण्णइ जं लोय मज्झम्मि ॥ ६३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बुद्धः एकान्तनयसमालम्बि ।
एकांतेन क्षणिकत्वम् मन्यते यल्लोकमध्ये ॥ ६३ ॥

अर्थ– एकान्त वादी बुद्धो है वह केवल एकांत नयको मानता है तथा संसार में जितनें पदार्थ है उन सबको एकांत नयसे क्षणिक मानता है। भावार्थ :– समस्त पदार्थ क्षणिक है जो उत्पन्न होकर एक क्षण ठहरते है दूसरे क्षण मे नष्ट हो जाते है। इस प्रकार बौद्ध मानते है।

आगे ऐसा माननें मे अनेक दोष दिखलाते है।

जइ खणियत्तो जीवो तरिहि भवे कस्य कम्मसंबन्धो ।
सम्बन्ध विण ण घडई देहग्गहणम् पुणे तस्स ॥ ६४ ॥

यदि क्षणिको जीवस्तर्हि भवेत्कस्य कर्मसम्बन्धः ।
सम्बन्धम् विना न घटते देहग्रहणम् पुनः तस्य ॥ ६४ ॥

अर्थ– यदि यह जीव क्षणिक है एक ही क्षण रहकर नष्ट हो जाता है तो फिर कर्म का संबंध किसको होगा और कौन उसका फल भोगेगा। तथा विना कर्मों के संबंध के यह जीव आगे के शरीर को किस प्रकार धारण कर सकेगा।

भावार्थ– यह जीव जैसा कर्म बंध करता है वैसा ही फल भोगता है, कर्म बंध के अनुसार ही नया शरीर धारण करता है। कर्म बंध के

सुव्वयतित्थे उज्झो खीर कदंवुत्ति सद्ध सम्मत्तो ।
सीसो तस्स य दुट्टो पुत्तोविय पव्वओ वक्को ।
विणरीयमयं किच्चा विणसियं सव्व संजयं लोए ।
तत्तो पत्ता सव्वे सत्तम णरयं महाघोरं ॥ दर्शनसार ॥

भगवान् मुनिसुव्रत नाथ के समय मे एक क्षीर कदंव नाम के उपाध्याय शुद्ध सम्यक्त्वी थे। उसका पुत्र पर्वत और उनका शिष्य वसु दोनों ही कुटील परिणामी थे। इन दोनो ने विपरीत मिथ्यात्व की कल्पना की थी तथा लोगों के समस्त संयय का नाश किया था। इस लिये वे दोनों मरकर महाघोर सातवें नरक मे उत्पन्न हुए थे।

अनुसार ही नरक स्वर्ग मे जाता है तथा कर्म बंध के अनुसार ही अनेक प्रकार के सुख दुख भोगता है। यदि जीव को क्षणिक माना जायगा तो फिर वह किस प्रकार कर्म बंध कर सकेगा और किस प्रकार उसका फल भोग सकेगा। बिना कर्मबंध और उसका फल भोगे नया शरीर भी वह धारण नहीं कर सकता। ऐसी अवस्थामे वह कोई पदार्थ ही ठहर सकता है।

आगे इस जीव को क्षणिक मानने मे और भी दोष बतलाते हैं।

तवचरणं वयधरणं चीवरगहणं च सीसमुंडलयं।
सत्तहडियासु भिक्खा खणियत्ते णेव सभवई ॥ ६५ ॥

तपश्चरणं व्रतधारण चीवरग्रहणं च शिरोण्डनम्।
सप्तहटिकासु भिक्षा क्षणिकत्वे नैव सम्भवति ॥ ६५ ॥

अर्थ– यदि जीव को क्षणिक माना जायगा तो फिर तपश्चरण करना कभी संभव नहीं हो सकता है, न व्रत धारण करना संभव हो सकता है, न वस्त्र धारण करना संभव हो सकता है, न मस्तक मुंडाना संभव हो सकता है और न सात घरोंमें भिक्षा मांगना संभव हो सकता है।

भावार्थ– जीव को क्षणिक मानने से संसार के कोई भी काम संभव नहीं हो सकते। जब यह जीव दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो वह कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

आगे ज्ञानको क्षणिक मानने में दोष दिखलाते हैं।

णाणं जइ खणभंसी कह सो बालतववसियं मुणइ।
तह बहिरगआ संतो कह आवइ पुणवि णियगेहं ॥ ६६ ॥

ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि कथं तत् बालत्वलसितं जानाति।
तथा बहिर्गतः सन् कथमागच्छति पुनरपि निजगृहम् ॥ ६६ ॥

अर्थ– यदि ज्ञानको क्षणिक माना जाय, ज्ञान भी दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है ऐसा माना जाय तो वह अपने बालकपने में किये हुए कामों को कैसे जान सकेगा, और यदि उसका ज्ञान दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो फिर घर से निकल कर बाहर गया हुआ जीव

फिर लौटकर अपने घर कैसे आ सकेगा ? भावार्थः- स्मरण ज्ञान बना रहने से ही बालकपने की बातें स्मरण रहती है और स्मरण ज्ञानसे ही बाहर गया हुआ जीव घर लौट आता है।

आगे चेतना शक्ति को क्षणिक मानने से उत्पन्न हुए दोष दिखलाते है ।

जइ चेयणा अणिच्चा तो किं चिरजाय वाहि समराई ।
वहराइ वि मिचाइ वि कह जाणइ दिट्ठमित्ताइं ॥ ६७ ॥

यदि चेतना अनित्या तर्हि कथं चिरजातव्याधिं स्मरति ।
वैरिणं अपि मित्राण्यपि कथं जानाति दृष्टिमात्रेण ॥ ६७ ॥

अर्थ- यदि आत्मा की चैतन्य शक्ति भी अनित्य वा क्षणिक है तो यह जीव अपने शरीर में उत्पन्न हुई चिरकाल की व्याधि का स्मरण कैसे करलेता है तथा देखने मात्रसे ही अपने शत्रु वा मित्रों को कैसे पहिचान लेता है ।

भावार्थ– जीवादिक समस्त पदार्थ कभी किसी कालमें भी क्षणिक सिद्ध नहीं हो सकते । यह जीव चिरकालकी व्याधिको भी स्मरण कर-लेता है और देखते ही शत्रु वा मित्रको पहचान लेता है । उस जीवको चेतना में बिना नित्यता माने ये दोनों ही काम कभी नहीं हो सकते ।

आगे सर्वथा क्षणिक मानने वाले में और भी दोष दिखलाते है ।

पत्त पडियं ण दूसइ खाइ पलं पियइ मज्जु णिल्लज्जो ।
इच्छइ सग्गग्गमणं मोक्खग्गमणं च पावेण ॥ ६८ ॥

पात्रे पतितं न दूषयति खादति पलं पिबति मद्यं निर्लज्जः ।
इच्छति स्वर्गगमनं मोक्षगमनं च पापेन ॥ ६८ ॥

अर्थ- क्षणिकवादी लोग अपने पात्र में (बर्तन में) आये हुए भक्ष्य अभक्ष्य आदि पदार्थों में कोई दोष नहीं मानते । वे लोग निर्लज्ज होकर मांस भी खाते हैं और मद्य भी पीते है । तथा इस प्रकार महा पाप करते हुए भी उस पापके फलसे स्वर्ग प्राप्त होजाने की वा मोक्ष

प्राप्त हो जाने की इच्छा करते है। परन्तु ऐसे पापों से स्वर्ग वा मोक्षकी प्राप्ति होना सर्वथा असंभव है।

आगे इसी बातको दिखलाते है।

असिऊण मंसगासं मज्जं पविऊणगम्मए सग्गं।
जइ एवं तो सुंडय पारद्धिय चेव गच्छन्ति ॥ ६९ ॥

अशित्वा मांसग्रासं मद्यं पीत्वा गम्यते स्वर्गम्।
यद्येवं तर्हि शौण्डाः पारद्धिकाश्चैव गच्छन्ति ॥ ६९ ॥

अर्थ– यदि मांस भक्षण करने से वा मद्य पीनेसे ही वे जीव स्वर्ग चले जाते हों तो संसार मे मद्य पीने वाले और मांस भक्षण करने वाले हत्यारे पारधी आदि सबको स्वर्ग की प्राप्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होना सर्वथा असंभव है। मांस और मद्य दोनों ही अत्यन्त निन्द्य और घृणति पदार्थ है तथा इनका सेवन करने वाले निन्द्य कहे जाते हैं; फिर भला उनको स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती।

इम एयंतविणडिओ वुद्धो ण मुणेइ वत्थुसब्भावं।
अण्णाणी कयपावो सो दुग्गइ जाय णियमेण ॥ ७० ॥

इति एकान्तविनटितो बुद्धो न मनुते वस्तुस्वभावम्।
अज्ञानी कृतपापः स दुर्गतिं याति नियमेन ॥ ७० ॥

अर्थ– इस प्रकार एकान्त मिथ्यात्व को मानता हुआ जीव वस्तु-का स्वभाव नही समझता। वह अत्यन्त अज्ञानी है और इसी लिये अपने किये हुए पापों के कारण नियमसे दुर्गति की प्राप्त होता है।

आगे पदार्थों का यथार्थ स्वभाव दिखलाते है।

णिच्चाणिच्चं दव्वं सव्वं इह अत्थि लोयमज्झम्मि।
पज्जाएण अणिच्चं णिच्चं फुडु होइ दव्वेण ॥ ७१ ॥

नित्यमनित्यं द्रव्यं सर्वमिहास्ति लोकमध्ये।
पर्यायेणानित्यं नित्यं स्फुटं भवति द्रव्येण ॥ ७१ ॥

अर्थ– इस लोकाकंश में जितने द्रव्य भरे हुए है वे सब नित्य भी है और अनित्य भी है। पर्यायार्थिक नयसे वे सब द्रव्य अनित्य है अर्थात् उनकी पर्यायें सदा बदलती रहती है इसलिये अनित्य है और द्रव्यार्थिक नयसे वे सब द्रव्य नित्य है।

भावार्थ– एक बालक वा एक पौधा प्रतिक्षण बढता रहता है। यह उसका बढना ही पर्यायका बदलना है। इस प्रकार उस बालक को वा पौधा अनित्य भी कह सकते है परन्तु उस बालक के माता पिता वा उस पोधा को लगानेवाला कोई पुरुष बडा होने पर भी उसको "यह वही बालक है जो पन्द्रह वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था" ऐसा समझता है तथा पौधा लगानेवाला भी "यह वही वृक्ष है जो मैंनें दश वर्ष पहले लगाया था" ऐसा समझता है और ऐसा ही कहता है। इसलिये वह बालक वा पौधा नित्य भी माना जाता है। इस प्रकार वस्तुका स्वभाव नित्य अनित्य उभय स्वरुप है। वह सर्वथा क्षणिक वा सर्वथा नित्य कभी नही हो सकता।

आगे इसका उपसंहार कहते है।

इय एयंतं कहियं मिच्छतं गुरुयपापसंजणयं।
एत्तो उड्ढं वोच्छं वेणइयं णाम मिच्छत्तं॥ ७२॥

इति एकान्तं कथितं मिथ्यात्वं गुरुकपापसञ्जनकम्।
इत उर्ध्वं वक्ष्ये वैनयिकं नाम मिथ्यात्वम्॥ ७२॥

अर्थ- इस प्रकार महापाप उत्पन्न करनेवाले एकान्त मिथ्यात्वका स्वरुप कहा × । अब आगे वैनयिक नामके मिथ्यात्व का स्वरुप कहते हैं।

इस प्रकार दूसरे एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप जानना।

× सिरि पासणहतित्थे सरयू तीरे पलासयरत्थे।
पिहियासवस्स सीसो महासुओ बुद्धकित्ति मुणि॥
तिमिफरणासणोण हि अगहिय पव्वज्जओ परिब्भट्ठो।
रत्तंवरं धरित्ता पवड्ढियं तेण एयतं॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आगे वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरुप कहते हैं।

वेणइयमिच्छादिट्ठी हवइ फुडं तापसो हु अण्णाणी।
णिग्गुणजणम्मि विणओ पउं जमाणो हु गयविवेओ ॥ ७३ ॥

वैनयिकमिथ्यादृष्टिः भवति स्फुटं तापसो ह्यज्ञानी।
निर्गुणजने विनयं प्रयुञ्जमानो हि गतविवेकः ॥ ७३ ॥

अर्थ– नैनयिक मिथ्यादृष्टी तापसी होते हैं वे अज्ञानी होते हैं और रहित होते हैं तथा निर्गुण लोगों को भी विनय किया करते हैं।

मंसस्य णत्थि जीवो जह फले दुद्ध दहियसक्करए।
तस्हा तं वंच्छित्तो तं भक्खंतो ण पाविट्ठी ॥
मज्जं ण वज्जिणिज्जं दव दव्वं जह जलं तदा एदं।
इय लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्व सावज्जं ॥
अण्णो करेइ कम्मं अण्णो तं भुजईह सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चाणिरय मुववण्णो ॥

(दर्शनसार)

–अर्थ श्री पार्श्वनाथके तीर्थ के समय सरयू नदीके किनारे एक पलाश नामका नगर था। उसमें पिहिताश्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति नामका मुनि अनेक शास्त्रों का जानकार था। वह विना दीक्षा लिये ही मुनि हो गया था और मत्स्य का मांस खा खा कर भ्रष्ट हो गया था। भ्रष्ट होकर उसने लाल वस्त्र पहन लिए थे तथा रक्तम्बर नामसे उसने इस एकान्त मत की वृद्धी की थी। उसने इस संसार में घोषणा की थी कि जिस प्रकार फल दूध दही शक्कर आदि में जीव नही है उसी प्रकार मांस में भी जीव नहीं है। इसलिये जो लोग मांस खाने की इच्छा करते है वा मांस भक्षण करते है वे पापी नही कहला सकते। इसी प्रकार मद्य का भी त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य है, पतला पदार्थ है। उसी प्रकार मद्य भी द्रव द्रव्य है, एक पतला पदार्थ है। इस प्रकार घोषणा कर उसने समस्तपाप कर्मों को प्रवृत्ती की थी। इसके सिवाय उसने यह भी घोषणा की थी कि

विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं ।
अमुणिय गुणगुणेण य विणयं मिच्छत्तं णडियेण ॥ ७४ ॥

विनयतः इह मोक्षः क्रियते पुनस्तेन गर्दभादिनाम् ।
अज्ञानतगुणागुणेन च विनयः मिथ्यात्वनटेन ॥ ७४ ॥

अर्थ– जो लोग गुण अवगुण को नहीं जानते ऐसे मिथ्यादृष्टी नटों को समझना चाहिये कि यदि विनय करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तो उनको गधा चांडाल आदि सबका विनय करनी चाहिये। परन्तु वे लोग उनका विनय नहीं करते।

यह जीव क्षणिक है उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता है इसलिये जो जीव पाप करता है वा पुण्य करता है उसका फल वह नही भोगता वह तो दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता है इसलिये उस पाप वा पुण्य का फल कोई दूसरा ही जीव भोगता है। यही रक्तांबर वा एकान्त मत वा सिद्धांत है। इस प्रकार कल्पना कर उसने बहुतसे लोगों को वश कर लिया था और फिर अन्तमें मरकर वह नरक में उत्पन्न हुआ था।

जक्खय णायाईणं दुग्गाखंधाइ अण्णदेवाणं ।
जो णवइ धम्महेउं जो विय हेडू च सो मिच्चो ॥ ७५ ॥

यक्षनागादीन् दुर्गास्कन्धाद्यन्यदेवान् ।
यो नमति धर्महेतोः योपि च हेतुश्च स मिथ्यात्वम् ॥ ७५ ॥

अर्थ– जो लोग धर्म समझकर यक्ष नाग आदि अन्य देवों को नमस्कार करते हैं उसका कारण भी मिथ्यात्व ही सयझना चाहिये।

भावार्थ– मिथ्यात्व कर्म के उदयसे ही इनकी देव समझकर पूजा करते है।

पुत्तत्थ माउसत्थं कुणइ जणो देवि चण्डियाविणयं ।
मारइ छेलयसत्थं पुज्जइ कुलाइं मज्जेण ॥ ७६ ॥

पुत्रार्थमायुष्यार्थं करोति जनो देवीचण्डिकाविनयम् ।
मारयति छागसार्थं पूजयति कुलानि मद्येन ॥ ७६ ॥

अर्थ– बहुतसे लोग पुत्र उत्पन्न होनेके लिये वा अपना आयु बढाने के लिये चण्डी मुण्डी आदी देवी देवताओं की विनय करते है, उनके सामनें बकरे आदि का वध करते है तथा मद्य से अपने कुलकी पूजा करते है।

णवि हाइ तत्थ पुण्णं किज्जंति णिकिट्ठरुद्द सब्भावा ।
णय पुत्ताइं दाउं सक्का ते सत्तिहिणा जे ॥ ७७ ॥

नापि भवति तत्र पुण्यं कुर्वन्ति निकृष्टरुद्रस्वभावान् ।
न च पुत्रादिं दातुं शत्कास्ते शक्तिहीना ये ॥ ७७ ॥

अर्थ– चण्डी मुण्डी आदि देवता आदर्श देवता नहीं हैं और उनके स्वभाव क्रूर है इसलिये उनकी विनय करने से वा उनकी पूजा करने से पुण्य की प्राप्ति कभी नही हो सकती। इसके सिवाय वे सब चण्डी मुण्डी आदि देवता पुत्र देनें के लिए वा आयु बढाने के लिये कभी समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि वे सब शक्ती से हीन है।

जइ ते होंती समत्था कत्थ गया पंडवाइया पुरिसा ।
कत्थगया चक्केसा हलहरणारायणा कत्थ ॥ ७८ ॥

यदि ते भवन्ति समर्थाः कुत्र गताः पाण्डवाद्याः पुरुषाः ।
कुत्र गताश्चक्रेशा हलधरनारायणाः कुत्र ॥ ७८ ॥

अर्थ– यदि वे चण्डी मुण्डी आदी देवता पुत्र देने वा आयु बढाने के लिये समर्थ होते तो फिर पाण्डव आदि महा पुरुष कहां चले गये, चक्रवर्ती कहां चले गये तथा नारायण प्रति नारायण हलधर आदि सब कहां चले गये।

भावार्थ– चक्रवर्ती नारायण, हलधर आदि महापुरुष होते है, अनेक देव इनके आधीन और सेवक होते हैं। फिर भी वे देवता अपनें स्वामी की आयु न बढा सके और आयु समाप्त होने पर वे लोग स्वर्ग मोक्ष वा नरक में चले ही गये। इससे सिद्ध होता है कि उन देवों मे कोई इस प्रकार की शक्ती नहीं है। वे इन बातों के लिये सर्वथा असमर्थ है। इसलिये इस निमित्त उनकी पूजा वा विनय करना सर्वथा व्यर्थ है।

जइ देवयं देइ सुयं तो किं रुद्देण सेविया गउरी ।
दिव्वं वरिस सहस्सं पुत्तत्थं तारय भएण ॥ ७९ ॥

यदि देवो ददाति सुतं तर्हि किं रुद्रेण सेविता गौरी ।
दिव्यं वर्षसहस्त्रं पुत्रार्थं तारकभयेन ॥ ७९ ॥

अर्थ– यदि देव लोग किसी को पुत्र दे सकते होते तो फिर महादेवजी तारक के भयसे पुत्र उत्पन्न करने के लिये दिव्य सहस्त्र वर्ष तक पार्वती सम्पर्क क्यों करते रहते ।

भावार्थ– पुत्र उत्पन्न करने के लिये ही महादेव ने पार्वती के साथ समागम किया था और देवताओं के हजार वर्ष तक किसी एकांत वनमें जाकर समागम करते रहते ।

तम्हा सयमेव सुओ हवेइ मिठणण रइपउत्ताणं ।
अण्णाण मूढलोओ वाहिज्जइ धुत्तमणुएहिं ॥ ८० ॥

तस्म त्स्वयमेव सुतो भयेत् मिथुनानां रतिप्रवृत्तानाम् ।
अज्ञानो मूढलोको वाध्यते धूर्तमनुष्यैः ॥ ८० ॥

अर्थ– इससे सिद्ध होता है रति कर्म में प्रवृत्त होनेवाले स्त्री पुरुषों के अपने आप पुत्र उत्पन्न हो जाता है । तथापि धूर्त लोग अज्ञानी मूर्ख लोकों को चंडी मुंडी आदि देवताओं का विनय करने के लिये वाधित करते रहते है ।

संते आउसि जीवइ मरणं गलयम्मि ण त्थ संदेहो ।
णव रक्खइ कोवि तहिं संतं सोसेइ ण हु कोई ॥ ८१ ॥

सति आयुषि जीवति मरणं गलिते नास्ति सन्देहः ॥
न च रक्षति कोपि तस्मात् सत् शोषयति नहि कश्चित् ॥

अर्थ– जब तक आयु कर्म बना रहता है तबतक यह जीव जीवित रहता है तथा आयु कर्म पूर्ण हो जाता है, खिर जाता वा नष्ट हो जाता है तब यह जीव मर जाता है । इसमे किसी प्रकार का संदेह नहीं है । जिस समय आयु कर्म पूर्ण हो जाता है उस समय कोई भी देव उस जीव की रक्षा नहीं कर सकता । इसीं प्रकार जब तक आयु कर्म रहता है तबतक उस आयु कर्म को कोई भी देह नष्ट नहीं कर सकता ।

भावार्थ– कोई भी देव आयु पूर्ण होने पर किसी की भी रक्षा नहीं कर सकता तथा आयु रहते हुए किसी को मार नहीं सकता। यह निश्चित सिद्धांत है।

इसी बात को उदाहरण देकर बतलाते है।

जइ सव्व देवयाओ मणुयं रक्खंति पुज्जियाओ य।
तो किं सो दहवयणो ण रक्खिओ विज्जसहस्सेण ॥ ८२ ॥

यदि सर्वदेवता मनुजं रक्षयन्ति पूजिताश्च।
तर्हि किं स दशवदनो न रक्षतो विद्यासहस्रेण ॥ ८२ ॥

अर्थ– यदि पूजा वा वंदना किये हुए समस्त देवता मनुष्यों की रक्षा कर सकते है तो फिर रावण के पास हजारों विद्याएँ थीं, फिर उन विद्याके अधिपति देवताओं ने उस रावण की रक्षा क्यों नहीं की? रावण के पास जो चक्र था उसकी भी एक हजार देवता रक्षा करते थे, परंतु आयु पूर्ण होने पर उसी चक्र से वह रावण मारा गया। इससे सिद्ध होता है कि कोई देव न किसी की रक्षा कर सकता है और न किसी को मार सकता है।

आगे किनकी पूजा विनय करनी चाहिये, सो कहते है।

इय णाउं परमप्पा अट्ठारसदोसवज्जिओ देवो।
पणविज्जइ भत्तीए जइ लब्भइ च इच्छियं वत्थुं ॥ ८३॥

इति ज्ञात्वा परमात्मानं अष्टादशदोषवर्जितो देवः।
प्रणम्यते भक्त्या येन लभ्यते इच्छितं वस्तु ॥ ८३ ॥

अर्थ– यही समझकर अठारह दोषों से रहित जो अरहंत परमात्मा है उन्हीं को भक्ति पूर्वक नमस्कार करना चाहिये। भगवान अरहंत देवको नमस्कार करने से समस्त इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ– भगवान अरहंत देव वीतराग है। अठारह दोषों से रहित है और सर्वज्ञ है। इसलिये वे ही नमस्कार करने से कुछ देते नहीं है क्योंकि वे तो वीतराग है फिर भी उनका आत्मा समस्त दोषों से

रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध और निर्मल है। इसलिये उनकी भक्ति करने से, पूजा नमस्कार करने से विशेष पुण्य की प्राप्ति होती है। तथा उस विशेष पुण्य से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय शुद्ध निर्मल आत्मा की भक्ति पूजा करने से अपने आत्माको शुद्ध और निर्मल करने की भावना उत्पन्न होती है तथा उस भावना के अनुसार वह जीव अपने आत्माको वैसा ही बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने आत्मा का कल्याण करता हुआ स्वयं अरहंत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

वेणइयं मिच्छत्तं कहियं भव्वाण वज्जणट्ठं तु।
एत्तो उड्ढं वोच्छं मिच्छत्तं संसयं णाम ॥ ८४ ॥

वैनयिकं मिथ्यात्वं कथितं भव्यानां वर्जनार्थं तु।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये मिथ्यात्वं संशयं नाम ॥ ८४ ॥

अर्थ– इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप कहा। इन सब मिथ्यात्वों का स्वरूप भव्य जीवों को त्याग करने के लिये कहा है। भव्य जीवों को इन समस्त मिथ्यात्वों का त्याग कर देना

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णग्गाय केई य ॥

दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्तीय सव्वदेवाणं।
णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहिं मूढेहिं ॥

अर्थ– वैनयिक मिथ्यात्व की उत्पत्ति समस्त तीर्थंकरों के समय मे होती है। इन वैनयिक मिथ्यादृष्टी लोगों में कोई जटा धारी होते है कोई अपने मस्तक को मुंडा लेते है, कोई चोटी रख लेते है और कोई नग्न होते है। उन लोगों ने यह कल्पना कर रक्खी है कि चाहे दुष्ट हो चाहे गुणी हो सबकी पूजा भक्ति करनी चाहिये। सब देवों को नमस्कार वा दंडवत करना चाहिये, सब की पूजा भक्ति करनी चाहिये।

चाहिये। अब आगे सशय मिथ्यात्व का स्वरूप कहते है।

इस प्रकार तीसरे वैनायिक मिथ्यात्व का स्वरूप कहा। अब संशय मिथ्यात्व का स्वरूप कहते है।

संसय मिच्छादिट्ठी णियमा सो होई जत्थ सग्गंथो।
णिग्गंथो वा सिज्झइ कंबलगहणेण सेवडओ ॥ ८५ ॥

संशयमिथ्यादृष्टिर्नियमात्स भवति यत्र सग्रन्थः।
निर्ग्रन्थो या सिद्धयति कंबलग्रहणेन श्वेतपटः ॥ ८५ ॥

अर्थ– संशय मिथ्यादृष्टी श्वेतपट होते है जिन के मन में यह संशय नियम से बना ही रहता है कि मोक्षकी प्राप्ति निर्ग्रंथ लिंग से दिगम्बर अवस्था से) होती है अथवा सग्रंथलिंग से (परिग्रह सहित अवस्था से) इसीलीये ये लोग वस्त्र कंबल आदि बहुत सा परिग्रह रखते है।

आगे यही बात दिखलाते हैं।

दंडं दुद्धिय चेलं अण्णं सव्वं पि धम्म उवयरणं।
मण्णइ मोक्खणिमित्तं गंथे लुद्धो समायरइ ॥ ८६ ॥

दण्डं दुग्धिकं चेलं अन्यत्सर्वं हि धर्मोपकरणम्।
मन्यते मोक्षनिमित्तं ग्रन्थे लुब्धः समाचरति ॥ ८६ ॥

इत्थी गिहत्थवग्गे तम्हि भवे चेव अत्थि णिव्वाणं।
कवलाहारं च जिणे णिद्दा तण्हा य संसइओ ॥ ८७ ॥

स्त्रीगृहस्थवर्गे तस्मिन् भवे चैव अस्ति निर्वाणम्।
कवलाहारं च जिने निद्रा तृष्णा च संशयितम् ॥ ८७ ॥

अर्थ- वे जो लोग परिग्रह में बहुत ममत्व रखते है, दंड कुंडी वस्त्र आदि अपने काम आने वाले समस्त पदार्थों को मोक्ष के कारण भूत धर्मोपकरण मानते है, इसके सिवाय अपने गृहस्थ धर्म में रहती हुई स्त्री मोक्ष प्राप्त कर लेती है अरहंत भगवान् के निद्रा तंद्रा भी होती है। इस प्रकार की मान्यता वास्तविक धर्म के विरुद्ध है।

आगे अनुक्रमसे इन सबमें दोष दिखलाते हैं।

जइ सग्गन्थो मुक्खं तित्थयरो किं मुंचहि णियरज्जे।
रयण णिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जरे रण्णो ॥ ८८ ॥

यदि सग्रन्थो मोक्षः तीर्थकरः किं मुञ्चति निजराज्यम्।
रत्ननिधानैः सह किं निवसति निर्जनेऽरण्ये ॥ ८८ ॥

अर्थ यदि परिग्रहों के रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थङ्करों को अपना राज्य छोडने की क्या आवश्यकता थी, अनेक प्रकार रत्न तथा निधियों के छोडने की भी क्या आवश्यकता थी और फिर सबको छोडकर निर्जन वनमें जाने की क्या आवश्यकता थी।

और भी देखो -

रयण णिहाणं छंडइ सो किं गिण्हेहि कंवली खण्डं।
दुद्धिय दंडंच पडं गिहत्थजोग्गं पि जं किं पि ॥ ८९ ॥

रत्ननिधानं त्यजति स किं गृह्ण ति कम्वलखण्डम्।
दुग्धिकं दण्डं च पटं गृहस्थयोग्यमपि यत् किमपि ॥ ८९ ॥

अर्थ - यदि परिग्रह रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती तो तीर्थंकर रत्न और निधियों को छोडकर अन्य परिग्रह क्यों ग्रहण करते है ?

वस्तु स्थिति यह है कि समस्त पदार्थों का त्यागकर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सग्रन्थ अवस्थासे मोक्ष की प्राप्ति कभी नही हो सकती।

और भी–

गेहे गेहे भिक्खं पतं गहिऊण जाइए किं सो।
किं तस्स रयणविट्ठी घरे घरे णिवडिया तत्थ ॥ ९० ॥

गृहे गृहे भिक्षां पात्रं गृहीत्वा याचते किं सः।
किं तस्य रत्नवृष्टिः गृहे गृहे निपतिता तत्र ॥ ९० ॥

अर्थ– जिन तीर्थंकरों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये समस्त राज्य का त्याग कर मुनि अवस्था धारण की वे ही तीर्थङ्कर मुनि होकर भी फिर हाथ में पात्र लेकर घर घर भोजन मांगने के लिये क्यों जाते हैं? क्या रत्नवृष्टि भी घर घर बरसी थी।

भावार्थ– जब गृहस्थ अवस्था से ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर राज्य और समस्त परिग्रह के त्याग करने की क्या आवश्यकता थी और यदि त्याग ही किया तो फिर वस्त्र दण्ड आदि क्यों धारण किये और हाथमें पात्र लेकर घर घर भिक्षा क्यों मांगी। इसलिये त्याग कर फिर ग्रहण करना सर्वथा मिथ्यावाद है।

आगे इस सबका सारांश दिखलाते हैं।

ण हु एवं जं उत्तं संसयमिच्छत्तरसियचित्तेण।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो किंचण वहिरंतण चएण ॥ ९१ ॥

न हि एवं यदुक्तं संशयमिथ्यात्वरसिकचित्तेन।
निर्ग्रंथमोक्षमार्गः किंचन बाह्यान्तरत्यागेन ॥ ९१ ॥

अर्थ– जिसका हृदय संशय मिथ्यात्व के रस से रसिक हो रहा है उसका यह सब ऊपर कहा हुआ मत ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षका मार्ग निर्ग्रन्थ अवस्था ही है। जिसमें वस्त्र दंड आदि समस्त बाह्य परिग्रहों का भी त्याग हो जाता है। ऐसी वीतराग निर्ग्रन्थ अवस्था ही मोक्ष का मार्ग है। सग्रन्थ अवस्था मोक्ष का मार्ग कभी नहीं है।

आगे स्त्री मुक्ति का निषेध करते हैं।

जइ तप्पइ उग्गतवं मासे मासे य पारणं कुणइ।
तइ वि ण सिज्झइ इत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ॥ ९२ ॥

यदि तप्यते उग्रतपः मासे मासे च पारणं करोति।
तथापि न सिद्धति स्त्री कुत्सितलिंगस्य दोषेण ॥ ९२ ॥

अर्थ– स्त्री लिंग कुत्सित लिंग है अर्थात् स्त्री का शरीर वा स्त्री की पर्याय निन्द्य है। इसलिये चाहे कोई स्त्री उग्रसे उग्र तपश्चरण करती रहे और चाहे प्रत्येक महीनेका उपवास कर प्रत्येक महीने के

अन्त में पारणा करती रहे तथापि स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

आगे इसका कारण बतलाते हैं –

मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं।
णिच्चं जो णस्साओ पुण दाढ्ढंणत्थि चित्तस्स ॥ ९३ ॥

मायाप्रमादप्रचुराः प्रतिमासं तासु भवति प्रस्खलनम्।
नित्यं योनिस्रावः पुनःदाढर्यं नास्ति चित्तस्य ॥ ९३ ॥

अर्थ– स्त्री को मोक्षकी प्राप्ति क्यों नहीं होती इसका कारण यह है कि स्त्रियों मे मायाचार की मात्रा अधिक होती है तथा प्रमाद भी अधिक होता है। इसके सिवाय प्रत्येक महीनेमें उनके रजका स्खलन होता रहता है, योनिसे रजःस्राव होता रहता है और इसलिये उनका चित्त कभी भी स्थिर नही रह सकता।

भावार्थ– चित्तके स्थिर न रहने से उनसे कभी ध्यान नहीं हो सकता। बिना ध्यानके कर्मों का नाश नहीं हो सकता और बिना कर्मों के नाश किये मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

आगे स्त्रियों के शरीर के दोष बतलाते हैं।

सुहमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणा हि कक्खेसु।
उपत्ती होइ सआ अण्णो सु य तणुपएसेसु ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मापर्याप्तानां मनुष्याणां योनिनाभिकक्षेषु।
उत्पत्तिर्भवति सदा अन्येषु च तनुप्रदेशेषु ॥ ९४ ॥

अर्थ– स्त्रियों की योनि में, नाभि में, कांख में तथा और भी कितने ही शरीर के प्रदेशों मे सदा काल सूक्ष्म अपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति होती रहती है।

भावार्थ– स्त्रियों की योनि, नाभि, कांख में सम्मूर्छन मनुष्य उत्पन्न होते रहते है। वे जीव मनुष्य के आकारके पंचेन्द्रिय होते है अत्यन्त सूक्ष्म

होते है और अपर्याप्तक होते है। यही कारण है कि स्त्रियों मे जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वे जीव उत्पन्न होते रहते है और मरते रहते है। इसलिये स्त्रियां केवल संकल्पी आरम्भी, उद्यमी आदि हिंसा का त्याग कर सकती है। मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे समस्त जीवों की सर्वथा हिंसा का त्याग उनसे नहीं हो सकता। इसलिये वे पूर्ण संयम धारण नहीं कर सकती।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थिणं दुविह संजमोद्धरणं।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥ ९५ ॥

न ह्यस्ति तेन तासां स्त्रीणां द्विविधसंयमधारणम्।
संयमधारणेन विना नही मोक्षस्तेन जन्मना ॥ ९५ ॥

अर्थ– संयम दो प्रकारका होता है एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रिय सयम। त्रसत स्थावर समस्त जीवों की रक्षा करना किसी भी जीव का घात न करना प्राणिसंयम है और समस्त इन्द्रियों को वशमें

चक्रिसुहलभृत् कृष्णप्रभृत्कटभूभृताम्।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चार भूमिषु ॥
शुक्रसंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च।
अत्यन्ताशुचि देहेषु सद्यः सम्मूर्च्छयन्ति ये ॥
भूत्वा घनांगुलासंख्यभागमात्रशरीरकाः।
आशु सञ्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छिमा नराः ॥

अर्थ– चक्रवर्ती, हलधर नारायण आदि बडे २ राजाओं के स्कन्धावार में मलमूत्रके स्थानों में शुक्र (वीर्य) कफ, नाकका मल, कर्ण दन्त आदिके मलमे तथा अत्यन्त अपवित्र शरीर में शीघ्र ही सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते है। उन जीवों का शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। वे अप्राप्तिक होते है तथा सम्मूर्च्छन मनुष्य होते है वे उत्पन्न होकर शीघ्र ही मर जाते है।

रखना इन्द्रिय संयम है। ये दोनों प्रकार के संयम पूर्ण रूप से स्त्रियों के नहीं पल सकते। क्योंकि मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से समस्त प्राणियों की हिंसा का त्याग होना चाहिये परंतु उसके शरीर से सम्मूर्च्छन मनुष्यों की हिंसा होती है इसलिये पूर्ण संयम उनसे कभी नहीं हो पल सकता है। तथा बिना संयम के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये स्त्रियों को उसी जन्म में उसी स्त्री पर्याय मे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। स्त्रियां अपने योग्य आर्यिका के व्रत धारण कर स्त्री लिंग को छेद कर देव हो सकती है और फिर वहां से आकर मनुष्य पर्याय में उत्तम मनुष्य हो सकती है और फिर तपश्चरण कर उस मनुष्य पर्याय से मोक्ष जा सकती है। सीता का जीव वा अन्य कितनी ही स्त्रियों के जीव इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करेंगे।

आगे इस शंकाकार इस विषय मे प्रश्न करते है –

अहवा एयं वयणं तेसिं जीवो ण होइ किं जीवो।
किं णत्थि णाणदंसण ववओगो चेयणा तस्स ॥ ९६ ॥

अथवा एतद् बचनं तासां जीवो न भवति किं जीवः।
किं नास्ति ज्ञानदर्शनं उपयोगः चेतना तस्य ॥ ९६ ॥

अर्थ– कदाचित् कोई यह प्रश्न करते हो कि क्या स्त्रियों का जीव जीव नहीं है? क्या उन स्त्रियों को ज्ञान दर्शन नहीं है? अथवा उनके क्या उपयोग नहीं है अथवा चेतना नहीं है? स्त्रियों के क्या नहीं है जिससे कि वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती।

भावार्थ– मनुष्यों के समान ही उन स्त्रियों के भी जीव है उनके भी ज्ञान दर्शन है उपयोग है चेतना है। इसलिये वे भी मनुष्यों के समान ही मोक्ष जा सकती है।

आगे इसी का उत्तर देते है।

जइ एवं तो इत्थि धीवरि कल्लालि वेसअईणं।
सव्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तरिहि सिज्झति ॥ ९७ ॥

यद्येवं तर्हि स्त्री धीवरी कल्लारिका वेश्यादीनाम्।
सर्वासामस्ति जीवो सकलास्तर्हि सिद्धचन्ति ॥ ९७ ॥

अर्थ– यदि शंकाकार इस प्रकार कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि यदि मनुष्यों के समान ही स्त्रियोंका जीव है तो धीवरी वेश्याएं आदि महा हिंसा करने वाली स्त्रियों के भी जीव है इसलिये वे समस्त स्त्रियां भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगी।

भावार्थ– यदि जीव होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा मानते हो तो फिर महा पाप करने वाले जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगे तथा स्त्रियों को भी जीव होने से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हो तो धीवरी वेश्याएँ आदि दिन रात महा पाप उत्पन्न करने वाली स्त्रियां भी मोक्ष प्राप्त करलेंगी परंतु ऐसा होना असंभव है।

आगे यही बात दिखलाते हैं।

तम्हा इत्थी पज्जय पडुच्च जीवस्स पयडि दोसेण।
जाओ अभव्व कालो तम्हा तेसिं ण णिव्वाणं ॥ ९८ ॥

तस्मात्स्त्रीपर्यायं प्रतीत्य जीवस्य प्रकृतिदोषेण।
जातः अभव्यकालः तस्मात्तासां न निर्वाणम् ॥ ९८ ॥

अर्थ– अतएव स्त्री पर्याय को लेकर प्रकृति के दोषसे जीवका अभव्यकाल प्राप्त हो जाता है इसलिये स्त्री को मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ– रत्नत्रय के व्यक्त होने की योग्यता को भव्यकाल कहते हैं। स्त्रियों के शरीर में अनेक समूच्छेन मनुष्य प्रति समय उत्पन्न होते और मरते हैं इसीलिये स्त्रियों के पूर्ण संयम की प्राप्ति नहीं होती और इसलिये उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

आगे मोक्ष की प्राप्ति किन्हें होती है सो दिखलाते हैं।

अइ उच्चमसंहणणो उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो।
मोक्खस्स होइ जुग्गो णिग्गंथो धरिय जिणलिंगो ॥ ९९ ॥

अत्युत्तमसंहननः उत्तम पुरुषः कुलागतः सन्।
मोक्षस्य भवति योग्यो निर्ग्रन्थो धृतजिनलिंगः ॥ ९९ ॥

अर्थ– जिस पुरुष का उत्तम संहनन हो, जो उत्तम पुरु हो सत्कुलमें उत्पन्न हुआ हो, वह पुरुष जिन लिंग निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ– विना उत्तम संहनन के मोक्ष की प्राप्ति नहीं, स्त्रियों का उत्तम संहनन नहीं होता इसलिये उनको मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। इसके सिवाय स्त्रियों का पर्याय निंद्य पयर्या है उत्तम पर्याय नहीं है। स्त्रियों के शरीर में अनेक सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते और मरते रहते है, प्रतिमास रजःस्राव होता रहता है, इसलिये भी उनको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके सिवाय जिन लिंग निर्ग्रन्थ अवस्था धारण नहीं कर सकती इसलिये भी वे मोक्ष प्राप्त करने योग्य नहीं है। स्त्रियों को ऋद्धियां भी प्राप्त नहीं हो सकती तो फिर भला मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति सज्जाति उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए चरम शरीरी महा पुरुषों को ही होती है। वह भी निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने, उत्तम ध्यान धारण करनेवाले पुरुषों को ही होती हैं।

आगे गृहस्थ अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा दिखलाते हैं।

गिहलिंगे वट्टं तो गिहत्थवावार गहियतियजोओ।
अत्तरउद्दारूढो मोक्खं ण लहेहि कुलजो वि॥ १००॥
गृहस्थलिंगे वर्तमानः गृहस्थव्यापारगृहीतत्रियोगः।
आर्तरौद्रारूढः मोक्षं न लभते कुलजोपि॥ १००॥

अर्थ– जो मनुष्य उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है वह भीजव तक गृहस्थ लिंग में रहता है, अर्थात् गृहस्थी मे रहना है। गृहस्थी के व्यापार में मन वचन काय तीनों योगों को लगता रहता है तथा अर्तध्यान और रौद्रध्यान में लगा रहता है तबतक वह उत्तम पुरुष भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ- ग्रहस्थावस्था में ध्यान वा रौद्र ध्यान इन दोनों में से कोई न कोई ध्यान लगा ही रहता है और गृहस्थी के व्यापार मे आरंभी उद्योगी आदि हिंसा होती ही रहती है, परिग्रह रहता है। ऐसी अवस्था मे भला कर्मोंका नाश कैसे हो सकता है। ऐसी

अवस्था में तो कर्मों आस्रव ही होता है और वह भी अधिकतर अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। इसलिये यह निश्चित सिद्धांत है कि गृहस्थ लिंग से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

आगे फिर भी यही बात दिखलाते है।

वज्झब्भंतरगंथे वट्टंतो इंदियत्थपरिकलिओ।
जइवि हु दंसणवंतो तहा वि ण सिज्झेइ तम्हि भवे ॥१०१॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थे वर्तमानः इन्द्रियार्थपरिकलितः।
यद्यपि हि दर्शनवान् तथापि न सिद्धचति तस्मिन् भवे॥१०१॥

अर्थ– जो सद्गृहस्थ उत्तम पुरुष शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित हो तथापि वह यदि बाह्य आभ्यंतर परिग्रहों को धारण करता है और इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है तो वह उस भव में उस अवस्था से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता।

भावार्थ– मिथ्यात्व कषाय आदि अंतरंग परिग्रहों के धारण करने से चित्त की शुद्धता नहीं हो सकती तथा बिना मन के शुद्ध हुए धर्म्य-ध्यान की प्राप्ति नही हो सकती। फिर भला शुक्लध्यान की बात तो बहुत दूर हो जाती है। ऐसी अवस्थामें भला मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसी प्रकार वस्त्र आदि बाह्यपरिग्रह रखने से अनेक प्रकार के दोष आते है। वस्त्र मैले होनेपर धोनें पडते है, वस्त्र धोनेमें अनेक जीवों की हिंसा होती है, न धोनेपर उन में अनेक जीव उत्पन्न हो जाते है। यदि वस्त्र फट जाय वा उनको कोई ले जाय तो आर्त्तध्यान होता है तथा याचना करनी पडती है। इस प्रकार केवल वस्त्र रखने में ही महा पाप होता है फिर भला समस्त परिग्रहों के रखने में तो अनेक महा पाप होते ही है। इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों को सेवन मे अनेक महा पाप होते ही है। इसके सिवाय इन्द्रियों की लंपटता बढती है और इस प्रकार उसके इंद्रिय संयम कभी नहीं हो सकता। इसलिये गृहस्थ अवस्था में वा परिग्रह सहित अवस्था मे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

आगे और भी दिखलाते है।

जइ गिहवंतो सिज्झइ अगहिय णिग्गंथलिंग सग्गंथो ।
तो किं सो तित्थयरो णिस्संगो तवइ एगागी ॥ १०२ ॥

यदि गृहवान् सिध्यति अगृहीतनिर्ग्रन्थलिंगः सग्रन्थः ।
तर्हि किं स तीर्थंकरो निःसंगस्तपति एकाकी ॥ १०२ ॥

अर्थ– यदि गृहस्थ अवस्था में ही विना निर्ग्रंथ लिंग धारण किये सग्रंथ अवस्था मे ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थंकर देव समस्त परिग्रहों का त्याग कर अकेले एकांत स्थान में जाकर तपश्चरण क्यों करते है ।

भावार्थ– भगवान ऋषभदेव ने भी समस्त परिग्रहों का त्याग कर निर्जन वनमें जाकर तपश्चरण किया था । इससे सिद्ध होता है कि सग्रंथ अवस्था मे कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ।

आगे कवलाहार का निषेध करते है ।

केवलभुत्ती अरुहे कहिया जा सेवडेण तंहि तेण ।
सा णत्थि तस्स णूणं णिहयमणो परमजोईणं ॥ १०३ ॥

कवलभुक्तीः अर्हति कथिता या श्वेतपटेन तस्मिन् तेन ।
सा नास्ति तस्य नूनं निहतमनः परमयोगिनः ॥ १०३ ॥

अर्थ– श्वेतपट लोग कहते है कि भगवान अरहंत देव समवशरण में विराजमान होते हुए भी कवलाहार करते है अर्थात् आहार को हाथसे उठाकर मुंहमें देकर भोजन करते है । परन्तु ऐसी मान्यता तर्क-संगत नहीं है । क्योंकि भगवान अरहत्तदेव परम योगी है । उनका मन भी नष्ट हो गया है, केवल द्रव्य मन है जो विना भाव मनके कुछ काम नही करता । इसके सिवाय यह भी समझने की बात है कि अरहन्त भगवानके मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो गया है तथा विना मोह-नीय कर्म के उदय के वेदनीय कर्म कुछ काम नहीं कर सकता । इसलिये भगवान अरहन्त देव के न क्षुधा पिपासा आदि दोष है और न वे कवला हार करते है ।

आगे अरहन्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त होती है यही दिखलाते है ।

गुत्तित्तजुत्तस्स य इन्दियवावाररहियचित्तस्स ।
भाविंदियमुक्खस्स × य जीवस्स य णिक्कलं झाणं ॥ १०४ ॥

गुप्तित्रययुक्तस्य च इन्द्रियव्यापाररहितचित्तस्य ।
भावेन्द्रियमुख्यस्य च जीवस्य निश्चलं ध्यानम् ॥ १०४ ॥

अर्थ– जो निर्ग्रन्थ मुनि मन, वच, काय के समस्त व्यापारों को रोककर मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियों का पालन करते है तथा जिनका चित्त इन्द्रियों के व्यापार से सर्वथा रहित होता है और जिनके भावेन्द्रिय की मुख्यता रहती है ऐसे योगी पुरुषों के निश्चल ध्यान होता है ।

झाणेण तेण तस्स हु जीव मणस्साण लमरसीयरणं ।
समरसभावेण पुणो संवित्ती होइ णियमेण ॥ १०५ ॥

ध्यानेन तेन तस्य हि जीव मनआणसमरसीकरणम् ।
समरसभावेन पुनः संवित्ति भवति नियमेन ॥ १०५ ॥

अर्थ– उस ध्यान के द्वारा उन योगि का आत्मा और मन दोनों एक रुप हो जाते है, दोनों समान रसरुप परिणत हो जाते है तथा उस समरसी भावसे उन योगी के नियमसे संवित्ती हो जाती है ।

भावार्थ– अपने आत्माका अपने ही आत्मामें लीन हो जाना संवित्ती कहलाती है । वह संवित्ती निश्चल ध्यान से ही होती है ।

आगे फिर भी यही दिखलाते है ।

संवित्तीए वि तहा तण्हा णिद्दा य छुहा य तस्स णस्संति ।
णट्ठेसु तेसु पुरिसो खवयस्सेणिं समारुहइ ॥ १०६ ॥

संवित्तावपि तथा तृष्णा निद्राक्षुधा च तस्य नश्यति ।
नष्टेषु तेषु पुरुषः क्षपकश्रेणिं समारोहति ॥ १०६ ॥

× भावेंन्द्रिय का अर्थ चेतना है । यह केवल ध्यान का लक्षण है । केवल ज्ञानके पहली अवस्था का है ।

अर्थ– जब यह आत्मा निश्चल ध्यानके द्वारा अपने आत्मा में लीन हो जाता है उस समय उस योगी के तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा पिपासा आदि सब नष्ट हो जाते है तथा तन्द्रा,निद्रा, क्षुधा आदि के नष्ट होने से फिर वह योगी क्षपक श्रेणी में आरुढ हो जाता है।

भावार्थ– श्रेणी दो प्रकार की है एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी चढनेवाला योगी अपने चारित्र मोहनीय कर्मों का उपशम करता जाता है परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान मे जाकर उन कर्मों का उदय होने से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है। क्षपक श्रेणी चढनेवाला योगी अपने चारित्र मोहनीय कर्मों का क्षय करता जाता है और फिर दशवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान मे पहुँच जाता है तथा बारहवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरण दर्शनाकरण अन्तराय कर्मोंका नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त करलेता है और इस प्रकार वह तेरहवें गुण स्थान में पहुंच कर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

खवएसु य आरुढो णिद्दाईकारणं तु जो मोहो।
जाइ खयं णिस्सेसो तक्खीणं केवलं णाणं ॥ १०७ ॥

क्षपकेषु च आरुढो निद्रादिकारणं तु यो मोहः।
याति क्षयं निःशेषः तत्क्षये केवलं ज्ञानम् ॥ १०७ ॥

अर्थ– जब वह योगी अपने निश्चल ध्यान के द्वारा क्षपक श्रेणीमें आरूढ हो जाता हैं तब उसका निद्रा तन्द्रा क्षुधा आदिका कारण मोहनीय कर्म सर्वथा पूर्ण रुपसे नष्ट हो जाता है। और उस मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट होने से उस महा योगी के केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है।

तं पुण केवल णाणं बसट्ठदोसाण हवइ णासम्मि।
ते दोसा पुण तस्सहु छुहाइया णत्थि केवलिणो ॥ १०८ ॥

तत्पुनः केवलज्ञानं दशाष्टदोषाणां भवति नाशे।
ते दोषाः पुनस्तस्य हि क्षुधादिका न सन्ति केवलिनः ॥ १०८ ॥

अर्थ– यह केवल ज्ञान क्षुधा पिपासा आदि अठारह दोषोंके नाश होने पर ही होता है। इसलिये उन केवली भगवान के वे क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कभी नहीं होते।

भावार्थ– क्षुधा, तृषा, बुढापा, भय, जन्म, मरण, रोग, शोक, रति, अरति विस्मय, स्वेद (पसीना) खेद, मद, निद्रा, राग, द्वेष, मोह ये अठारह दोष कहलाते हैं। जब इनका सर्वथा नाश होजाता है तभी केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। बिना इनका नाश हुए केवल ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि केवली भगवानके क्षुधा तृषा कोई रोग नहीं है और इसीलिये उन्हें कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। यदि केवली भगवान के भी आहार की आवश्यकता मानी जायगी तो फिर उनके अनन्त शक्ति का भी सर्वथा अभाव मानना पडेगा।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

जइ संति तस्स दोसा केत्तियमित्ता छुहाइ जे भणिया।
ण हवइ सो परमप्पा अणंतविरिओ हु सो अहवा ॥ १०९ ॥
यदि सन्ति तस्य दोषाः कियन्मात्राः क्षुधादिका ये भणिताः।
न भवति स परमात्मा अनन्तवीर्यो हि सोऽथवा ॥ १०९ ॥

अर्थ– यदि उन केवली भगवान के क्षुधा तृषा आदि दोष थोडे से भी माने जायेंगे तो फिर वे भगवान न तो परमात्मा हो सकते हैं और न वे अनन्तवीर्य को धारण करनेवाले कहे जा सकते हैं।

भावार्थ– जो लोग क्षुधा-तृषासे पीडित रहते है वे हम आप लोगों के समान न तो परमात्मा हो सकते है और न अनन्तवीर्य वा अनन्त शक्ति धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार केवली भगवान भी यदि क्षुधा से पीडित होते हैं तो वे भी परमात्मा नहीं हो सकते और क्षुधा से पीडित होने के कारण अनन्त सुखी वा अनन्त वीर्यवान भी नहीं हो सकते। इसलिये केवली भगवान के क्षुधा, तृषा आदि दोष मानना सर्वथा मिथ्या है। परमात्मा होने पर भी यदि उन्हें भूख प्यास लगती है तो फिर उनमें और हममें कोई अन्तर ही नहीं रहता है। इसके सिवाय यह भी समझना चाहिये कि जो मनुष्य आहार लेते है

उनको नींद भी आती है तथा और आकुलताएँ प्रकट होती है। इसलिये परमात्मा भगवान अरहन्त देवके क्षुधादिक दोष मानना और कवलाहार मानना तर्क संगत प्रतीत नहीं है।

आगे भगवान अरहन्त देव के शरीर की स्थिति बिना आहार के किस प्रकार रहती है सो दिखलाते हैं।

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य।
उज्जमणो विय कमसो आहारो छव्विहो णेओ॥ ११०॥

नोकर्मकर्माहारौ कवलाहारश्च लेपाहारश्च।
ओजो मनोपि च क्रमशः आहारः षड्विधो ज्ञेयः॥ ११०॥

अर्थ– नोकर्म अहार, कर्माहार, कवलाहार लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार इस प्रकार अहारके छह भेद हैं।

णोकम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं।
कवलाहारो णरयसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो॥ १११॥

नोकर्मकर्माहारौ जीवानां भवतः चतुर्गति गतानाम्।
कवलाहारो नरपशूनां वृक्षेषु च लेपाहारः॥ १११॥

अर्थ– इन छह प्रकारके अहारो में से नोकर्माहार और कर्माहार चारों गतियों मे परिभ्रमण करनेवाले समस्त जीवों के होते है, कवलाहार मनुष्य तथा पशुओं के होता है और वृक्षों के लेपाहार होता है।

पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो॥ ११२॥

पक्षिणामोज आहारः अण्डमध्येषु वर्तमानानाम्।
देवेषु मन आहारः चतुर्विधो नास्ति केवलिनः॥ ११२॥

अर्थ– अंडे के भीतर रहने वाले पक्षियों के ओजाहार होता है और देवों के मानसिक अहार होता है। इस प्रकार छहों प्रकार के आहार की व्यवस्था है। इनमे से चार प्रकार का अहार केवली भगवानके नहीं होता।

भावार्थ– प्रत्येक जीवके जो तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गल वर्गणा आती रहती है उनको नो कर्माहार कहते हैं। ज्ञानवरण आदि आठों कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणा आती है उनको कर्माहार कहते है। मुंहमें रखकर जो खाया जाता है उसको कवलाहार कहते है, लेप कर देना लेपाहार है, अंडों के ऊपर बैठकर जो मुर्गी आदि पक्षी अंडों के भीतर गर्मी पहुंचाती है वह ओजाहार है तथा देवों के जो नियत समय पर क्षुधा लगने पर मनसे अमृत झरता है उसको मानसिक आहार कहते है। इनमें से कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार भगवान केवली के कभी नहीं होते।

णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्य आयमे भणिओ।
ण हु णिच्छयेण सो विहु स वीयराओ परो जम्हा ॥ ११३ ॥

नोकर्मकर्माहारौ उपचारेण तस्य आगमे भणितौ।
न हि निश्चयेन सोपि हि स वीतरागः परो यस्मात् ॥ ११३ ॥

अर्थ- यद्यपि केवली भगवान् के नो कर्म आहार और कर्म आहार आगम मे बतलाया है परंतु वह भी उपचार से बतलाया है। निश्चय नय से देखा जाय तो वह भी नहीं है। इसका भी कारण यह है कि केवली भगवान् परम वीतरागी है। इसलिये उनके आहार की कल्पना हो ही नहीं सकती है।

भावार्थ– यद्यपि केवली भगवान् के प्रत्येक समय में कर्म वर्गणा आती है तथापि वे ठहरती नहीं है, उसी समय खिर जाती है। इसलिये भगवान के उपचार से ही नोकर्म वा कर्म आहार माना है तथा उपचार से ही आस्रव माना है। इसलिये वास्तव में वह नहीं के समान है। भगवान के कषायों का सर्वथा अभाव है और विना कषायों के कर्म ठहर नहीं सकते। इसलिये भगवान के कर्म बंध का भी सर्वथा अभाव माना है। घातिया कर्मों के नष्ट होने से भगवान के अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते है, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य प्रगट हो जाते है। ऐसी अवस्था में क्षुधा लगने और कवलाहार लेने की कल्पना करना सर्वथा व्यर्थ है और असत् है।

आगे कवलाहार के दोष बतलाते है।

जो जेमइ सो सोवइ सुत्तो अण्णे विविसयमणुहवइ।
विसए अणुहवमाणो स वीयराओ कहं णाणी ॥ ११४ ॥

यो जेमति स स्वपिनि सुप्तो अन्यानपि विषयानुभवति।
विषयाननुभवमानः स वीतरागः कथं ज्ञानी ॥ ११४ ॥

अर्थ– जो पुरुष कवलाहार करता है वह सोता भी है, जो सोता है वह पुरुष अन्य अनेक इन्द्रियोंके विषयों का अनुभव करता है तथा जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह वीतराग और सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?

भावार्थ– इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करना और वीतराग होना दोनों परस्पर विरोधी है। जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह कभी वीतराग नहीं हो सकता, क्योंकि विषयों का अनुभव राग से ही होता है, बिना राग के विषयों का अनुभव कभी नहीं हो सकता। यदि केवली भगवान कवलाहार लेकर सोते है और विषयों का अनुभव करते है तो वे कभी वीतराग नहीं हो सकते और जो वीतराग नहीं है वे कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकते।

इसलिये मानना चाहिये कि–

तम्हा कवलाहारो केवलिणो णत्थि दोहिं वि णएहिं।
मण्णंति य आहारं जेते मिच्छाय अण्णाणी ॥ ११५ ॥

तस्मात्कवलाहारः केवलिनो नास्ति द्वाभ्यामपि नयाभ्यां।
मन्यन्ते चाहारं ये ते मिथ्याज्ञानिनः ॥ ११५ ॥

अर्थ– इसलिये यह सिद्धात निश्चित रुप से सिद्ध है कि केवली भगवान के निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों नयों से कवलाहार नहीं है। फिर भी केवली भगवान के कवलाहार मानना अज्ञानता ही है।

आगे और कहते है –

अण्णं जं इय उत्तं संसयमिच्छत्तकलियभावेण ।
अम्हं चि थविरकप्पो कंवलगहणेण ण हु दोसो ॥ ११६ ॥

अन्यद्यदित्युक्तं संशयमिथ्यात्वकलितभावेन ।
अस्माकं स्थविरकल्पः कम्बलग्रहणेन न हि दोषः ॥ ११६ ॥

अर्थ– जिन के परिणाम संशय मिथ्यात्व से भरे हुए है वे कहते है कि हम तो स्थविर कल्पी है, इसलिये हमको कंवल ग्रहण करने में कोई दोष नहीं लगता ।

कंवली वत्थं दुद्धिय दंडं कणयं च रयणभंडाइं ।
सग्गग्गमणणिमित्तं मोक्खस्स य होइ णिब्भंत्तं ॥ ११७ ॥

कम्बलं वस्त्रं पुग्धिकं दण्डं कनकं च रत्नभाण्डादीनि ।
स्वर्ग गमननिमित्तं मोक्षस्य च भवति निभ्रान्तम् ॥ ११७ ॥

अर्थ– ऐसा कहा जाता है कि कंवल, वस्त्र, कुंडी, दंड सोना रत्नों के वर्तन ये सब स्वर्ग मोक्ष के कारण है इसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है ।

पर ऐसी मान्यता उचित नहीं है क्योंकि–

ण उ होइ थविरकप्पो गिहत्थकप्पो हवेइ फुडु ऐसो ।
इय सो धुत्तेहिं कओ थविरवकप्पस्स भग्गेहिं ॥ ११८ ॥

न हि भवति थविर कल्पो गृहस्थकल्पो भवति स्फुटमेषः ॥
इति धूर्तैः कृतः स्थविरकल्पस्य भग्नैः ॥ ११८ ॥

अर्थ– आचार्य कहते है कि कंवल दंड वस्त्र कुंडी सोना रत्नों के वर्तन रखना आदि स्थविर कल्प नहीं है किंतु यह तो गृहस्थ कल्प है । इस गृहस्थकल्प को स्थविर कल्प मानने की कल्पना स्थविर कल्प से च्युत लोगों ने की है ।

भावार्थ– वस्त्र, कंवल, दंड सोना आदि रखना गृहस्थों का काम है । मुनियों के लिये तो इन सबका त्याग बतलाया है । फिर जो लोग मुनि होकर भी वस्त्र दण्ड आदि रखते है और उनको मोक्ष का साधन

बतलाते है यह कैसे ? यह परिग्रह तो सर्व पापों का कारण है, स्वर्ग मोक्ष का कारण कभी नहीं हो सकता ।

आगे जिन कल्प और स्थविर कल्पका वास्तविक स्वरूप कहते हैं ।

दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविर कप्पो य ।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥ ११९ ॥

द्विविधो जिनैः कथितो जिनकल्पस्तथा च स्थविरकल्पश्च ।
स जिन कल्प उक्त उत्तमसंहननधारिणः ॥ ११९ ॥

अर्थ– भगवान जिनेन्द्रदेवने जिन कल्प और स्थविर कल्प ऐसे दोनों प्रकार के मार्ग दिखलाये है । इनमें से जो उत्तम संहनन को धारण करनेवाले महा मुनि है वे जिन कल्पी मुनि कहलाते है ।

आगे जिनकल्पी का और भी स्वरूप कहते हैं ।

जत्थ ण कटयभग्गो पाए णयणम्मि रय पविट्ठम्मि ।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥ १२० ॥

यत्र न कंटकलग्नं पादे नयनयो रजः प्रविष्टे ।
स्फोटयन्ति स्वयं मुनयः परापहारे च तूष्णीकाः ॥ १२० ॥

अर्थ– यदि जिनकल्पी महा मुनियों के पैर में कांटा लग जाता है अथवा नेत्रों मे धूलि पड जाती है तो वे महा मुनि अपने हाथ से न कांटा निकालते है और न अपने हाथ से नेत्रों से धुलि निकालते है । यदि अन्य कोई दूसरा मनुष्य उस कांटे को वा धुलि को निकालता है तो वे चुप रहते है ।

भावार्थ– वे महा मुनि अपने पैर के कांटे को वा नेत्रों की धूलि को न तो स्वयं निकालते है और न निकालने के लिये किसी अन्य से कहते है । यदि जान लेंने पर कोई पुरुष उनको निकालता है तो भी चुप ही रहते है । कांटा लगने पर विषाद नहीं करते और निकल जाने पर हर्ष नहीं करते । वे दोनों अवस्थाओं में समान वीतराग रहते है ।

आगे और भी कहते हैं ।

जल वरिसणवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं ।
अच्छंति णिराहारा काओस्सग्गेण छम्मासं ॥ १२१ ॥

जलवर्षायां जातायां गमने भग्ने च यावत् षण्मासम् ।
तिष्ठन्ति निराहाराः कार्योत्सर्गेण षण्मासम् ॥ १२१ ॥

अर्थ– जब वर्षा ऋतु आ जाती है और मुनियों का गमन करना बंद हो जाता है उस समय वे जिन कल्पी महा मुनि छह महीने तक निराहार रहते है और छह महीनें तक कार्योत्सर्ग धारण कर किसी एक हीं स्थानपर खडे रहते है ।

भावार्थ– उनका उत्तम संहनन होता है । अस्थि आदि सब वज्र-मय होती है । इसलिये उनमे इतनी शक्ती होती है ।

एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य ।
चत्तासेस कसाया मोण वई कंदरावासी ॥ १२२ ॥

एकादशांगधारिणः एते धर्म शुक्ल ध्यानिनश्च ।
त्यक्ताशेषकषायाः मौनव्रताः कन्दरावासिनः ॥ १२२ ॥

अर्थ– वे जिन कल्पी महामुनि ग्यारह अंग के पाठी होते है, धर्म-ध्यान वा शुक्लध्यान मे लीन रहते है, समस्त कषायों के त्यागी होते है मौनव्रत को धारण करनेवाले होते है और पर्वतों की गुफा कंदराओ में रहते है ।

बहिरंतरगंथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो ।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥ १२३ ॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थच्युता निःस्नेहा निस्पृहाश्च यतिपतयः ।
जिना इव विहरन्ति सदा ते जिनकल्पे स्थिताः श्रमणाः ॥ १२३ ॥

अर्थ– वे जिन कल्पी महा मुनि बाह्य आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के त्यागी होते है, स्नेह रहित परम वीतराग होते है और समस्त इच्छाओं से सर्वथा रहित होते है । ऐसे वे यतीश्वर महामुनि भगवान जिनेन्द्र देव के समान सदा काल विहार करते रहते है । इसलिये वे जिन कल्पी मुनि कहलाते है ।

आगे स्थविर कल्पी मुनियों का स्वरूप कहते है ।

थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलेहणं ॥ १२४ ॥

स्थविरकल्पोपि कथितः अनगाराणां जिनेन स एषः ।
पंचचेलत्यागोऽकिंचनत्वं च प्रतिलेखनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ– भगवान जिनेंद्र देव ने मुनियों के लिये स्थविर कल्पी मुनियों का भी स्वरूप कहा है। जो मुनि पांचो प्रकार के वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देते है अकिंचन व्रत धारण करते है और पीछी रखते हैं ऐसे मुनि स्थविर कल्पी कहलाते हैं। ☼

आगे स्थविर कल्पी मुनियों का स्वरूप और भी कहते हैं।

पंचमहव्वयधरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो ।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्ख ॥ १२५ ॥

दुविहतवे उज्जमणं छव्विह आवासएहिं अणवरयं ।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवर पडिरूव पडिगहणं ॥ १२५ ॥

पंचमहाव्रतधारणं स्थितिभोजनं एकभक्तं करपात्रम् ।
भक्ति भरेण च दत्तं काले च अयाचना भिक्षा ॥ १२६ ॥

☼ अंडजवुंडजरोमज चर्मज वल्कज पंच चेलानि ।
परिहृत्य तृणजचेलं यो गृह्णीयान्न भवेत्स यतिः ।

रजसेदाण मगहणं मद्दव सुकुयालदा लहुत्त ज ।
जत्थे दे पंच गुणा ते पडिलिहणं पसेसेति ॥

अर्थ– सूत के वस्त्र, रेशम के वस्त्र, ऊन के वस्त्र चर्म के वस्त्र और वृक्षों की छाल के बने वस्त्र ये पांच प्रकार के वस्त्र कहलाते है। इन सब प्रकारके वस्त्रों का जो त्याग कर देता है तथा तृण से बने वस्त्रो को भी जो ग्रहण नहीं करता वही मुनि कहलाता है। जो पींछी मृदु हो कोमल हो, छोटी हो, धूलि मिट्टी को ग्रहण न कर सकती हो ऐसी ही पीछी प्रशंसा करने योग्य है।

द्विविधतपसि उद्यमन षड्विधावश्यकः अनवरतम् ।
क्षितिशयनं शिरोलोचः जिनवर प्रतिरूप प्रतिग्रहणम् ।। १२६ ।।

अर्थ– वे स्थविर कल्पी मुनि पांचों महाव्रतों को धारण करते है, खडे होकर आहार लेते है, दिन में एक ही वार आहार लेते है, कर पात्र में ही आहार लेते है, तथा विना याचना किये भक्ति पूर्वक जो कोई समय पर दे देता है वही भिक्षा भोजन कर लेते है। वे मुनि वाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकारके तपश्चरण करने मे सदा उद्यमी रहते है, छह आवश्यकों प्रतिदन निरंतर पालन करते है, पृथ्वीपर शयन करते है मस्तक दाढी मूछ के वालों का लोंच करते है और जिनेंद्रदेव के समान ही माने जाते है।

भावार्थ– स्थविर कल्पी मुनि भी अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते है, पांच महाव्रत, पांच समिति, छह आवश्यक, पंचेन्द्रियोंका दमन खडे होकर आहार लेना, दिनमें एक ही बार करपात्र में आहार लेना, भूमिशयन, केशलोच, दन्तधावन, स्नान, त्याग और समस्त वस्त्रों का वा समस्त परिग्रहों का त्याग कर नग्नरूप धारण करना इस प्रकार ये अट्ठाईस मूल गुण है। स्थविर कल्पी मुनी इनका पूर्ण रूपसे पालन करते है तथा यथासंभव उत्तर गुणों का पालन करते है। वे स्थविर कल्पी मुनि वारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करते है, दश धर्मों का पालन करते है, परिषहों को सहन करते है, चरित्र का पालन करते है तथा तपश्चरण धारण करते है। इस प्रकार वे स्थविर कल्पी मुनि पूर्ण-रूपसे जिनदेवके समान ही मुनि होते हैं।

आगे स्थविर कल्पियों के लिये और भी कहते है।

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण ।
पुर णयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया ।। १२७ ।।

संहननस्य गुणेन च दुःखमकालस्य तपः प्रभावेन ।
पुरनगरग्रामवासिनः स्थविरे कल्पे स्थिता जाताः ।। १२७ ।।

अर्थ– इस दुषम कालमे शरीर के संहनन बलवान नहीं होते,

इसलिये वे मुनि किसी नगर गांव वा किसी पुर में रहते हैं और अपने तपश्चरण के प्रभावसे स्थविर कल्पी कहलाते हैं।

उवयरण तं गहियं जेण ण भंगो हवे चरियस्य।
गहियं पुत्थयदाणम् जोग्गं जस्स सं तेण ॥ १२८ ॥

उपकरणम् तद्गृहीतं येन न भंगो भवहि चर्यायाः।
गृहीतं पुस्तकदानं योग्यं यस्य तत्तेन ॥ १२८ ॥

अर्थ– वे मुनि अपने उपकरण भी ऐसे रखते है जिनसे किसी प्रकार के चारित्र का भग न होता हो। तथा वे मुनि अपनी २ योग्यता के अनुसार किसी के द्वारा दिये हुए शास्त्र वा पुस्तक भी ग्रहण कर लेते है।

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।
भवियाणं धम्मसवणं सिस्साणं य पालणं गहणं ॥ १२९ ॥

समुदायेन विहारो धर्मस्य प्रभावनं स्वशक्त्या।
भव्यातां धर्मश्रवणं शिष्यानां च पालनं ग्रहणम् ॥ १२९ ॥

अर्थ - इस पंचम काल में वे स्थविर कल्पी मुनि समुदाय रूप से विहार करते है, अपनी शक्ती के अनुसार धर्म की प्रभावना करते है, भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते है तथा शिष्यों को ग्रहण करते है और उनका पालन करते है।

भावार्थ– जो भव्य जिस दीक्षा के योग्य है उसको वैसी ही दीक्षा देते है, किसी को श्रावकों के योग्य ग्यारह स्थानों में से किसी भी स्थान की (ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी प्रतिमा की) दीक्षा देते है और किसी परम विरक्त भव्य जीव को मुनि की दीक्षा भी देते है। जिन को दीक्षा दी है उनसे यथायोग्य अपने अपने पद के अनुसार चारित्र का पालन कराते है, धर्म श्रवण कराते है, धर्म की प्रभावना करते है और सबको धर्म मे दृढ कराते रहते है।

आगे ऐसे स्थविर कल्पी मुनियों की प्रशंसा करते है।

संहणणं अइण्णिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण-उच्छहिया ॥ १३० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संहननमतिनीचं कालः स दुःषमो मनश्चपलम् ।
तथापि हि धीराः पुरुषः महाव्रतभारधारणोत्साहाः ॥ १३० ॥

अर्थ– यह काल दुःषम है इस काल में शरीर के संहनन अत्यन्त नीच होते है और मन अत्यन्त चंचल रहता है तथापि धीर वीर पुरुष महाव्रतों का भार धारण करनें में अत्यन्त उत्साहित रहते है, यह भी एक आश्चर्य की बात है ।

वरिससहस्सेण हु पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
ते संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणो ॥ १३१ ॥

वर्षसहस्रेण पुरा यत्कर्म हन्यते तेन कायेन ।
सत्संप्रति वर्षेण हि निर्जरयति हीनसंहननेन ॥ १३१ ॥

अर्थ– पहले समय में जिन कर्मों को मुनिलोग अपने शरीर से हजार वर्ष मे नष्ट करते थे उन्ही कर्मों को आज कल के स्थविर कल्पी मुनि अपने हीन सहनन से ही एक वर्ष में हीं क्षय कर डाल सकते है ।

एव पुविहो कप्पो परम जिणदेहिं अक्खियो णूणं ।
अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरि कलिओ ॥१३२॥

एवं द्विविधः कल्पः परमजिनैः कथितो नूनम् ।
अन्यः पाषण्डिकृतो गृहस्थकल्पो ग्रंथपरिकलितः ॥ १३२ ॥

अर्थ– इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देव ने जिन कल्प और स्थविर कल्प ऐसे दो प्रकार के मुनि बतलाये है । इन दो प्रकार के मुनियों के सिवाय जो वस्त्र आदि परिग्रहों से परिपूर्ण गृहस्थ कल्पकी कल्पना की है वह पाखंडियों ने की है, ऐसे गृहस्थ कल्प की कल्पना भगवान जिनेंद्र देव ने नहीं बतलाई है ।

दुद्धरतवस्स भग्गा परिसह विसएहिं पीडिया जे य ।
यो गिहकप्पो लोए स थविरकप्पो कओ तेहिं ॥ १३३ ॥

दुर्धरतपसः भग्नाः परीषविषयैः पीडिता ये च ।
यो गृहकल्पो लोके स स्थविरकल्पः कृतः तैः ॥ १३३ ॥

अर्थ– जो मुनि मुनि होंकर भी दुर्धर तपश्चरण धारण करने में

असमर्थ हो गये थे और इसलिये जो तपश्चरण से भ्रष्ट हो गये थे तथा जो परिषह सहन करने मे दुःखका अनुभव करते थे, दुखी होते थे ऐसे उन लोगोंने गृहस्थ कल्पको ही स्थविरकल्प मान लिया है।

णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण ।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥ १३४ ॥

निर्ग्रन्थो जिनवृषभो निर्ग्रंथं प्रवचनं कृतं तेन ।
तस्यानुमार्गलग्नाः सर्वे निर्ग्रन्थमहर्षयः ॥ १३४ ॥

अर्थ– भगवान ऋषभ देव दीक्षा धारण कर निर्ग्रंथ मुनि हुए थे तथा केवल केवल ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर उन्होंने मुनियों का स्वरुप निर्ग्रन्थ ही बतलाया था। अपनी दिव्यध्वनी में मुनियों की निर्ग्रन्थ अवस्था ही बतलाई थी जो शास्त्रों मे आज तक विद्यमान है। उन्ही शास्त्रों के अनुसार वर्तमानके निर्ग्रन्थ मुनि भी उसी मार्ग के अनुसार निर्ग्रन्थ होते चले आ रहे है।

जे पुण भूसिय गंथादूसियणिग्गंथलिंगवयभट्ठा ।
तेहि सगंथं लिंगं पायडियं तित्थणाहस्स ॥ १३५ ॥

ये पुनर्भूषितग्रन्था दूषितनिर्ग्रन्थलिंग-व्रतभ्रष्टाः ।
तैः सग्रन्थं लिंगं प्रकटितं तीर्थनाथस्य ॥ १३५ ॥

अर्थ– जो लोग मुनि होकर भी परिग्रहसे सुशोभित रहते है, जिन्होंने पवित्र निर्गन्थ लिंगको दूषित कर रक्खा है तथा जो निर्ग्रंथ लिंगसे और अपने मुनिव्रत से भ्रष्ट हो गये है ऐसे लोगों ने तीर्थंकर पर देव के इस निर्ग्रंथ लिंग को भी सग्रन्थ लिंग प्रगट कर रक्खा है।

भावार्थ– तीर्थंकर परमदेव मार्ग तो निर्ग्रंथ ही है। परन्तु जो लोग अपने व्रतोंसे भ्रष्ट हो गये है कोई प्रकार का कष्ट सहन न करते हुए सब प्रकार से सुखी रहकर ही स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करना चाहते है ऐसे लोग तीर्थंकर के निर्ग्रन्थ मार्ग को सग्रन्थ बतलाते है।

जं जं सयमादरियं तं तं णिरुयायमेण अलिएण ।
लोए वक्खणित्ता अण्णाणी वन्चिआ तेहिं ॥ १३६ ॥

यत् यत् स्वयमाचरितम् तत्तत् निरागमेनालोकेन ।
लोके व्याख्याय अज्ञानिनो वञ्चितास्तैः ॥ १३६ ॥

अर्थ– ऐसे लोग जिन २ आचरणों को स्वयं पालन करते है उन्ही आचरणों को अपने बताये हुए मिथ्या आगमों से निरूपण करते हैं तथा संसार में वे लोग उसी प्रकार व्याख्यान कर अज्ञानी लोगों को ठगते है। यह एक दुःख की बात है।

आगे श्वेतपट मत कब, कहां और किस प्रकार उत्पन्न हुआ, यही बात दिखलाते है।

छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसन्घो हु वलहीए ॥ १३७ ॥

षट्त्रिंशतिवर्षशते विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य ।
सौराष्ट्रे उत्पन्नः श्वेतपटसंघो हि वल्लभीके ॥ १३७ ॥

अर्थ– राजा विक्रम के मरने के एकसौ छत्तीस वर्ष बाद सोरठदेश के वलभी नगर में श्वेतपट संघ की उत्पत्ति हुई थी। उसकी कथा इस प्रकार है।

असि उज्जेणिणवरे आइरिओ भद्दवाहुणामेण ।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघोणिओ तेण ॥ १३८ ॥

आसिदुज्जयिनीनगरे आचार्यः भद्रबाहुः नाम्ना ।
ज्ञात्वा सुनिमित्तरधरः भणितः संघो निजस्तेन ॥ १३८ ॥

अर्थ– उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामके आचार्य थे। वे निमित्तशास्त्रको जानते थे। उन्होंने अपने निमित्त शास्त्रसे जानकर अपने संघ से कहा था कि–

हो हइ इह दुब्भिक्खं बारह वरगाणि जाम पुण्णाणि ।
देसतराइ गच्छइ णियणिय संघेण संजुत्ता ॥ १३९ ॥

भविष्यतीह दुर्भिक्षं द्वादशवर्षाणि यावत्पूर्णानि ।
देशान्तराणि गच्छत निजनिजसंघेन संयुक्ताः ॥ १३९ ॥

अर्थ– इस देशमे बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पडेगा । इसलिये आप लोग अपने दोन संघके साथ दूसरे देशों मे चले जाओ ।

सोऊण इयं वयणम् णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे ।
णिय णिय संघ पउत्ता विहरीआ जत्थ सुब्भिक्खं ॥ १४० ॥

श्रुत्वेदं वचनं नानादेशे गणधराः
निजनिजसंघप्रयुक्ता विहृता यत्र सुभिक्षम् ॥ १४० ॥

अर्थ– आचार्य श्री भद्रबाहु से इन वचनों को सुन कर समस्त गणधर व आचार्य अपने २ संघको लेकर जहां २ सुभिक्ष था सुकाल था उन २ देशों के लिये विहार कर गये ।

एक्कं पुण सन्ति णामो संपत्तो वलहि णाम णएरीए ।
बहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ॥ १४१ ॥

एकः पुनः शान्ति नामा संप्राप्तः वल्लभीनामनगर्याम् ।
बहुशिष्यसंप्रयुक्तः विषये सौराष्ट्रे रम्ये ॥ १४१ ॥

अर्थ– उन आचार्यों में एक शांति चन्द्र नाम के आचार्य थे, वे आचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ मनोहर सोरठ देश के वल्भी नाम के नगर मे विहार करते हुए पहुंचे ।

तत्थ वि गयस्स जायं दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं ।
जत्थ वियारिय उयरं खद्धो रंकेहि कूरत्ति ॥ १४२ ॥

तत्रापि गतस्य जातं दुर्भिक्षं दारुणं महाघोरम् ।
यत्र विदार्योदरं भक्षितः रंकैः क्रूर इति ॥ १४१ ॥

अर्थ– जब वे आचार्य शांति चन्द्र अपने संघ सहित वल्भी नगर मे पहुंचे तब वहां भी महा भयानक महा दुःखदायी दुर्भिक्ष पडा तथा ऐसा दुर्भिक्ष पडा कि क्रूर निर्धन भिक्षुक आदि दूसरों के पेट को विदीर्ण कर उसमे का खाया हुआ अन्न खा जाते थे ।

तं लहिऊण णिमित्तं गृहीयं सव्वेहि कंवली दंडं ।
दुद्धियपन्तं च तहा पावरणं सेयवत्थं च ॥ १४३ ॥

तल्लब्ह्वा निमित्तं गृहितं सर्वैः कंवलं दण्डम् ।
दुग्धिकपात्रं च तथा प्रावरणं श्वेतवस्त्रं च ॥ १४३ ॥

अर्थ– इसी निमित्त को लेकर उन आचार्य शांति चन्द्र के समस्त संघने कंवल दंड कुंडी और ओढने के लिये सफेद वस्त्र धारन कर लिया।

चत्तं रिसि-आयरणं गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए ।
उवविसिय जाइऊणं भुत्त वसहीसु इच्छाए ॥ १४४ ॥
त्यक्तं ऋष्याचरणं गृहीता भिक्षा च दीनवृत्या ।
उपविश्य याचयित्वा भुक्तं वसतिष्वच्छया ॥ १४४ ॥

अर्थ– इस प्रकार उन आचार्य शांति चन्द्रके संघने मुनियों के आचरण सब छोड दिये और वे दीनवृत्तिसे घरघरभिक्षा मांगकर अपनी अपनी वसतिका मे लाने लगे तथा अपनी वसतीका में बैठकर इच्छानुसार भोजन करने लगे।

एवं वट्टंताणं कित्तिय कालम्मि चावि परियलिए ।
संजायं सुब्भिक्खं जंपइ ता संति आइरिओ ॥ १४५ ॥

एवं वर्तमानानां कियत्काले चापि परिचलिते ।
संजात सुभिक्षं जल्पति तान् शान्त्याचार्यः ॥ १४५ ॥

अर्थ– इस प्रकार उन शान्तिचद्र आचार्यके संघने अपना कितना ही समय व्यतीत किया। कुछ समय के अनन्तर वहां पर भी सुभिक्ष हो गया। तब आचार्य शान्तिचन्द्रने अपने संघसे कहा।

आवाहिऊण संघं भणियं छंडेय कुत्थियायरणं ।
णिंदिय गरहिय गिण्हइ पुणरवि चरियं मुणिंदाणं ॥ १४६ ॥

आहूय संघं भणितं त्यजत कुत्सिताचरणम् ।
निन्दत गर्हत गृह्णत पुणरपि चारित्रं मुनिन्द्राणाम् ॥ १४६ ॥

अर्थ– आचार्य शान्तिचन्द्रने अपने समस्त संघ को बुलाकर उनसे कहा कि अब इस देशमें भी सुभिक्ष होगया है। इसलिये अब इन कुत्सित आचरणों को छोडो। अब तक जो ये कुत्सित आचारण किये हैं उनकी निन्दा करो और फिरसे मुनि दीक्षा लेकर मुनियों के शास्त्रोक्त आचरण पालन करो।

तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण ।
को सक्कइ धारेउं एयं अइदुद्धरायरणम् ॥ १४७ ॥

तद्वचनं श्रुत्वा उक्तं शिष्येन तत्र प्रथमेन ।
कः शक्नोति धर्तुं एतदतिदुर्धराचरणम् ॥ १४७ ॥

अर्थ– आचार्य शान्तिचन्द्र के इन वचनों को सुनकर उनके मुख्य शिष्य जिनचन्द्रने कहा कि अब ऐसे इन अत्यन्त कठिन दुर्धर आचरणों को कौन धारण कर सकता है ।

भावार्थ– अब इन दुर्धर आचरणों का पालन करना अत्यन्त कठिन है इसलिये अब इन आचरणों को कोई नहीं पाल सकता ।

उववासो य अलाभे अण्णे दुसहाइं अन्तराइ ।
एयट्ठाणमचेलं अज्जायण बंभचेरं च ॥ १४८ ॥
उपवासं चालाभे अन्यानि दुःसहानि अन्तरायाणि ।
एकस्थानमचेलं अयाचनं ब्रम्हचर्यं च ॥ १४८ ॥

भूमीसयनं लोचो वे वे मासेहिं असहणिज्जो हु ।
वावीस परीसहाइं असहणिज्जाइं णिच्चंपि ॥ १४९ ॥
भूमिशयनं लोचो द्विद्विमासेन असहनीयो हि ।
द्वाविंशतिपरीषहा असहनीया नित्यमपि ॥ १४९ ॥

अर्थ– यदि चर्या मे किसी दिन आहार न मिला तो उस दिन उपवास करना पडेगा, इसकें सिवाय चर्या के अनेक कठिन कठिन अंतराय है । विना मांगे किसी भी एक ही स्थान पर आहार लेना पडेगा । नग्न व्रत धारण करना पडेगा, ब्रह्मचर्य पालन करना पडेगा, भूमिपर शयन करना पडेगा, दों दो महिने बाद केशों का लोच करना पडेगा, यह केशों का लोच अत्यन्त असह्य होता है और अत्यंत असह्य ऐसी बाईस परिषह सहन करनी पडेगी ।

जं पुण संपइ गहियं एय अम्हेहि किंपि आयरणं ।
इह लोए सुक्खयरं ण छंडिमो हु तुस्समे काले ॥ १५० ॥
यत्पुनः सम्प्रति गृहीतं एतत् अस्माभिः किमप्याचरणम् ।
इह लोके सुखकरं न त्यजामो हि दुःषमे काले ॥ १५० ॥

अर्थ– उन जिनचंद्र शिष्यने इतना कहकर फिर उन आचार्य शांतिचन्द्र से कहा कि हम लोगों नें इस समय जो कुछ आचरण ग्रहण कर रक्खा है इस लोक मे वहीं सुखकर है। इसलिये हम सब इस दुःषम काल में इन धारण किये हुए आचरणों को छोड नहीं सकते।

ता संतिणा पउत्तं चरियपभट्ठेहिं जीवियं लोए।
एयं ण हु सुंदरियं दूसणयं जैणमग्गस्स ॥ १५१ ॥

तावत् शान्तिना प्रोक्तं चारित्रभ्रष्टानां जीवितं लोके।
एतन्नहि सुन्दर दूषणकं जैनमार्गस्य ॥ १५१ ॥

अर्थ– अपने मुख्य शिष्य जिनचन्द्र की बात सुन कर आचार्य शांतिचन्द्र नें फिर भी कहा है कि जो लोग अपने चारित्र से भ्रष्ट हो जाते है, इस लोक मे उनका जीवित रहना निंदनीय है, सुंदर वा शोभा युक्त नहीं है। ऐसा आचरण जैन मार्ग को दूषित करने वाला है, निंदनीय है।

णिग्गंत्थं पव्वयणं जिणवरणाहेण अक्खियं परमं।
तं छंडिऊण अण्णं पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ॥ १५२ ॥

निर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनवरनाथेन कथितं परमम्।
तत् त्यक्त्वा अन्यत्प्रवर्तमानेन मिथ्यात्वम् ॥ १५२ ॥

अर्थ– आचार्य शांतिचन्द्र नें उस प्रथम शिष्य जिनचन्द्र से कहा कि भगवान जिनेन्द्र देव ने मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग निर्ग्रंथ मार्ग ही बतलाया है। ऐसे इस निर्ग्रंथ मार्ग को छोडकर जो अन्य किसी भी मार्ग की प्रवृत्ति करता है तो उसका वह मिथ्यात्व कहलाता है।

ता रुसिऊण पहओ सीसे सीसेण दीहदंडेण।
थविरो घाएण मुओ जाओ सो वितरो देवो ॥ ११३ ॥

तावत् रुषित्वा प्रहतः शिरसि शिष्येण दीर्घदण्डेन।
स्थविरो घातेन मृतो जातः स व्यन्तरो देवः ॥ १५३ ॥

अर्थ– आचार्य शांतिचन्द्रकी यह बात सुनकर उनका मुख्य शिष्य जिनचन्द्र बहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधित होकर उसने आचार्य

शांतिचन्द्रके मस्तक पर एक दीर्घ दण्ड मारा। उस दीर्घ दण्ड के घातसे वे आचार्य शांतिचन्द्र मर गये और मरकर व्यंतर देव हुए।

इयरो संघाइवइ पयडिय पासंड सेवडो जाओ।
अक्खइ लोए धम्मं सग्गत्थे अत्थि णिव्वाणं॥ १५४॥

इतरः संघातिपतिः प्रकटच पाखण्डः श्वेतपटो जातः।
कथयति लोके धर्मं सग्रंन्थऽस्ति निर्वाणम्॥ १५४॥

अर्थ– तदन्तर उस जिनचन्द्रनें अपने को संघाधिपति घोषित किया अर्थात् वह स्वयं संघाधिपति बन गया और उसने यह श्वेतांबरों का मत चलाया उसने लोगोंसे कहा कि परिग्रह सहित होनेपर भी मोक्ष मार्गरुप धर्म की सिद्धी होती है तथा परिग्रह सहित होनेपर भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

सत्थाइं विरइयाइं णियणियपासंडगहियसरिसाइं।
वक्खाणि ऊण लोए पवित्तिओ तारिसायरणो॥ १५५॥

शास्त्राणि विरचितानि निजनिजपाखण्डगृहीतसदृशानि।
व्याख्याय लोके प्रवर्तितं तादृशाचरणम्॥ १५५॥

अर्थ– तदनन्तर उस जिनचन्द्रने अपने अपने जो पाखण्ड ग्रहण कर लिये थे तथा जिन जिन आचरणों को उसने धारण कर लिया था उन्ही के समान आचरणों को कहने वाले शास्त्रों की रचना कर ली। तथा वैसे ही आचरण पालन करनेका वह उपदेश देता था।

णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पणां पसंसित्ता।
जीवेइ मूढलोए कयमायं गहिह बहुदव्वं॥ १५६॥

निर्ग्रन्थं दूषयित्वा निंदित्वा आत्मानं प्रशस्य।
जीवति मूढलोके कृतमायं गृहीत्वा बहु द्रव्यम्॥ १५६॥

अर्थ– इस प्रकार उनने निर्ग्रन्थ लिंग को दूषित किया उसकी निन्दा की और अपनी प्रशंसा की। इस प्रकार बहुतसे द्रव्यों को ग्रहण करते हुए जीवित रहते हैं।

इयरावंतर देवो संती लग्गो उपद्दवं काउं ।
जप्पइ मा मिच्छत्तं गच्छह लहिऊण जिणधम्मं ॥ १५७ ॥

इतरो व्यन्तरदेवः शान्तिः लग्नः उपद्रवं कर्तुम ।
जल्पति मा मिथ्यात्वं गच्छत लब्ध्वा जिनधर्मम् ॥ १५७ ॥

अर्थ– इधर आचार्य शांतिचन्द्रका जीव जो व्यंतर देव हुआ था वह अनेक प्रकारके उपद्रव करने लगा और कहने लगा कि तुम लोग जिनधर्मको धारण करके मिथ्यात्व को ग्रहण मत करो ।

भावार्थ– तुम लोग इस मिथ्यात्व को छोडकर फिरसे जैनधर्म धारण करो । इस प्रकार वह व्यन्तर देव कहने लगा ।

भीएहिं तस्स पुआ अट्ठविहा सयलदव्वसंपुण्णा ।
जा जिणचन्दे रइया सा अज्जवि दिण्णिया तस्स ॥ १५८ ॥

भीतैः तस्य पूजा अष्टविधा सकल द्रव्यसम्पूर्णा ।
या जिनचन्द्रेण रचिता सा अद्यापि दीयते तस्मै ॥ १५८ ॥

अर्थ– व्यन्तरदेवकी यह बात सुनकर और उसके किये हुए उपद्रवों को देखकर जिनचन्द्रने समस्त आठों द्रव्यों से उसकी पूजा की । वह पूजा इन श्वेतांबरों में आज तक की जाती है ।

अज्जवि सा वलिपूआ पढमयरं दिंति तस्स णामेण ।
सो कुलदेवो उत्तो सेवउसंघस्स पूज्जो सो ॥ १५९ ॥

अण्णं च एव माई आयम दुट्ठाइ मिच्छ सत्थाइं ।
विरइत्ता अप्पाणां परिणवियं पढमए णरये ॥

इस प्रकार उस जिनचन्द्रने आगम में दुष्ट वा निंद्य कहलाने वाले मिथ्यात्वकी रचना की और उस दुष्टताके कारण वह मरकर पहले नरक गया ।

रूदेण येन शिवमंगिगणः प्रयाति,
तद्रूपमेव मनुजैः परिपूज्यतेऽत्र ।
सिद्धिर्यदि प्रभवतीह नितम्विनीनां,
तद्रूपिणः कथममी न जिना भवन्ति ॥

अद्यापि सा वलिपूजा प्रथमतरं दीयते तस्य नाम्ना ।
त कुलदेव उक्तः श्वेतपटसंघस्य पूज्यः सः ॥ १५९ ॥

अर्थ– जिनचन्द्रने जिस प्रकार उस व्यन्तरदेव की पूजा की थी उसी प्रकार सबसे पहले आज तक उसीके नामसे पूजा की जाती है । श्वेतांवर संघ आज तक उसको कुलदेवता मानकर उसकी पूजा करता है ।

भावार्थ– आठ अंगुल लम्वा चौडा चौकोर काठ का टुकडा वनाकर उसको शान्तिचन्द्र मानते है और उसीके नामसे उसकी पूजा करते है ।

इय उप्पत्ती कहिया सेवउयाणं च मग्गभट्टाणं ।
एतो उड्ढं वोच्छं णिसुय अण्णाणमिच्छतं ॥ १६० ॥

एषा उत्पत्तिः कथिताः श्वेतपटानां च मार्गभ्रष्टानाम् ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये निः शृणुत अज्ञानमिथ्यात्वम् ॥ १६० ॥

अर्थ– इस प्रकार निर्ग्रन्थ मार्ग से च्युत श्वेतपट लोगों की उत्पत्ति वतलाई ।

अव इसके आगे अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरुप कहते है खसे सुनो ।

अर्थ– वे मनुष्य जिस रुपसे मोक्ष जाते है उसके उसी रुपको अन्य मनुष्य पूजा करते है । यदि मोक्ष की प्राप्ति स्त्रियों को होती है तो फिर उस रुपमें (स्त्री रुपमे) जिनेन्द्र देव क्यों नही होते अथवा स्त्री को पर्यायस्वरुप कुच योनि विशिष्ट प्रतिमा क्यों नही होती । इससे सिद्ध है स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति कभी नही होती ।

णग्गो हरु अरहंतो रत्तो बुद्धो पियंवरो कण्हो ।
कच्छोटियाना वंभो को देवो कंवलावरणो ॥

भगवान अरहंत देव नान है, रक्तांवर बौद्ध है, पीतांवर कृष्ण है कच्छ पहने हुए वेदांती है परंतु ये कंवल ओढने वाले कौन से देव हैं सो आजतक किसी के समझ नही आया है भावार्थ ये कंवल वाले देव किसी गिनती में नही है ।

इस प्रकार संशय मिथ्यात्व का स्वरूप निरूपण किया तथा उसका निराकरण किया

अब आगे अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरुप कहते है।

मसय पूरण रिसिणा उप्पणो पासणाह तित्थम्मि।
सिरि वीर समवसरणो अगहिय झुणिणा णियत्तेण ॥ १६१ ॥

मस्करिपूरणऋषिरुत्पन्नः पार्श्वनाथतीर्थे।
श्री वीरसमवसरणे अगृहीतध्वनिना निर्वृत्तेन ॥ १६१ ॥

अर्थ– भगवान पार्श्वनाथ के समय में मस्करीपूरण नाम के एक मुनि थे। वे भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में आये थे परंतु गणधर न होने से दिव्य ध्वनी हो नही रही थी। जब इन्द्र गौतम को ले आया था तथा आते ही गौतम ने दीक्षा धारण कर ली तथा उसे ज्ञान मनःपर्याय अवधि ज्ञान हो गया था उसी समय गणधरके स द्भाव होने से भगवान की दिव्य ध्वनी खिरने लगी थी। यह सब देखकर वह मस्करी पूरण मुनि बाहर निकल आया था। मस्करी पूरण ने भगवान की दिव्य ध्वनी सुनी नहीं थी। वह पहले ही समवसरण से बाहर निकल आया था।

वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसंगधारिस्स।
णिग्गइ झुणी ण अरुहो विणिग्गया सा ससो सस्स ॥ १६२ ॥

वहिर्निगतेन उक्तं महर्द्धं एकादशांग धारिणे।
निर्गच्छति ध्वनि न अर्हन् विनिर्गतः स स्वशिष्याय ॥ १६२ ॥

अर्थ– समवशरण के बाहर आकर उस मस्करी पूरण ने लोगों से कहा कि देखो मैं ग्यारह अंगो का पांठी था, मैं समवशरण में बैठा रहा तथापि भगवान महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनी प्रगट नहीं हुई। जब उनके शिष्य गौतम आगये तब वह दिव्य ध्वनी प्रगट होने लगी।

ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खा य गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १६३ ॥

न जानाति जिनकथितश्रुतं सम्प्रति दीक्षां च गृहीतवान् गौतमः ।
विप्रो वेदाभ्यासी तस्मान्मोक्षो न ज्ञानतः ॥ १६३ ॥

अर्थ- वह गौतम ऋषि भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को नहीं जानता । वह तो वेद शास्त्रों का अभ्यास करने वाला है । उसने आकर दीक्षा लेली थी । इसीलिये भगवान की वाणी खिरने लगी थी । इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से नहीं होती अज्ञान मे ही होती है । यदि ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती तो ग्यारह अंग के जानकर ऐसे मेरे होते हुए दिव्यध्वनि अवश्य प्रकट होनी चाहिये थी । मेरे होते हुए दिव्यध्वनि प्रगट नहीं हुई । इससे जान पडता है कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञान से होती है ज्ञान से नहीं ।

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु ।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १६४ ॥

अज्ञानतो मोक्ष एवं लोकान् प्रकटमानो हि ।
देवो नास्ति कश्चिच्छून्यं ध्यायत इच्छया ॥ १६४ ॥

अर्थ- वह मस्करी पूरण समवशरण के बाहर आकर कहने लगा कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञानता से होती है ज्ञान से नहीं होती । इस संसार में देव कोई नहीं है । प्रत्येक जीवको अपनी इच्छा के अनुसार शून्य का ही ध्यान करना चाहिये इस प्रकार मस्करी पूरण ने प्रकट कर अज्ञान मिथ्यात्व को प्रकट किया ।

आगे ऊपर लिखे पांचों मिथ्यात्वों का त्याग करने के लिये कहते हैं ।

एवं पंचपयारं मिच्छत्तं सुग्गइणिवारणयं ।
दुक्खसहस्सावासं परिहरियव्वं पयत्तेण ॥ १६५ ॥

एवं पंचप्रकारं मिथ्यात्वं सुगतिनिवारणकम् ।
दुःखसहस्रावासं परिहर्तव्य प्रयत्नेन ॥ १६५ ॥

अर्थ- इस प्रकार विपरीत मिथ्यात्व, एकांत मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व ये पांचों मिथ्यात्व शुभ

गति के निवारण करनेवाले तथा हजारों प्रकार के दुःख देनेवाले है । इसलिये भव्य जीवो को प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ।

आगे मिथ्यात्व से होनें वाली हानियां दिखलाते है ।

मिच्छत्तेणाच्छण्णो अणाइ कालं चउग्गईभुवणे ।
भमिओ दुक्खक्कं तो जीवो देयइ गिण्हंतो ॥ १६६ ॥

मिथ्यात्वेनाच्छन्नोऽनादिकालं चतुर्गतिभुवने ।
भ्रमितो दुःखाक्रान्तो जीवो देहान ग्रहणन् ॥ १६६ ॥

अर्थ– मिथ्यात्व से आक्रांत हुआ यह जीव अनादि काल से चारों गतियो में अनेक प्रकार के शरीर धारण करता हुआ और अनेक प्रकार के दुःखो को भोगता हुआ इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है ।

एइंदियाइपहुइ जावय पंचक्खविविहजोणीसु ।
भमिहइ भविस्सयाले पुणरवि मिच्छत्तपच्छइओ ॥ १६७ ॥

एकेन्द्रियप्रभृतिषु यावत्पंचाक्षविविधयोनिषु ।
भ्रमिष्यति भविष्यत्काले पुनरपि मिथ्यात्वप्रच्छादितः ॥ ॥१६७॥

अर्थ– एकेन्द्रिय से लेकर पंचेद्रियतक चौरासी लाख योनियां है । उन सब मे यह जीव मिथ्यात्व के कारण ही परिभ्रमण करता रहता है अनादि काल से आज तक परिभ्रमण करता रहा है और फिर भी मिथ्यात्व का सेवन करता है इसलिये भविष्य काल में अनंत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा ।

अत्तरउद्दारुढो विसमे काऊण विविहपावाइं ।
अवियाणंतो धम्मं उपज्जइ तिरियणरएसु ॥ १६८ ॥

आर्तरौद्रारुढो विषमानि कृत्वा विविधपापानि ।
अज्ञानतः धर्मं उत्पद्यते तिर्यग्–नरकेषु ॥ १६८ ॥

अर्थ– मिथ्यात्व कर्मके उदय होने से ये जीव सदाकाल आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते रहते है और इस प्रकार अनेक प्रकार के महा भयानक पाप उपार्जन करते रहते है । ऐसे लोग धर्म का स्वरुप समझते

नही और इसीलिये वे जीव मरकर नरक गति वा तिर्यंच गति में जाकर जन्म लेते है।

अहवा जह कहव पुणो पावइ मणुयत्तणं च संसारे।
जु असमिला संजोए लहइण देसोकुलं आऊ।

अथवा यथाकथमपि पुनः प्राप्नोति मनुष्यत्वं च संसारे।
..... संयोगे लभते न देशं कुलं आयुः॥ १६९॥

अर्थ– यदि किसी प्रकार इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मनुष्य योनि भी प्राप्त हो जाती है तो अशुभ कर्मों के उदय होने से श्रेष्ठ देश, श्रेष्ठ कुल और उत्तम आयु प्राप्त नहीं होती।

पउरं आरोपत्तं इंदियपुण्णत्तणं जोव्वणियं।
सुन्दररुवं लच्छी अच्छइ दुक्खेण तप्पंतो॥ १७०॥

प्रचुरमारोग्यत्व इन्द्रियपूर्णत्वं च यौवनम्।
सुन्दररुपं लक्ष्मी अर्थ्यते दुःखेन तप्यमानः॥ १७०॥

अर्थ– इस प्रकार क्षुद्र मनुष्य होकर भी वह अनेक प्रकार के दुःखों मे दुःखी होता हुआ अपनी अधिक आरोग्यता की प्रार्थना करता रहता है, इन्द्रियों की पूर्णता की प्रार्थना करता रहता है, यौवन की प्रार्थना करता रहता है और सुन्दर रुप और लक्ष्मी की प्रार्थना करता रहता है।

जइ कह वि हु एयाइं पावइं सव्वाइं तो ण पावेई।
धम्मं जिणेण कहियं कुच्छियगुरुमग्गलग्गाओ॥ १७१॥

यदि कथमपि हि एतानि प्राप्नोति सर्वाणि तर्हि न प्राप्नोति।
धर्मं जिनेन कथितं कुत्सितगुरुमार्गलग्नः॥ १७१॥

अर्थ– यदि किसी प्रकार वह जीव उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम आयु, आरोग्य शरीर इन्द्रियों की पूर्णता, यौवन और सुन्दर रूप भी प्राप्त कर लेता है तो भी कुत्सित वा मिथ्यादृष्टियों के मार्ग में लगा हुआ वह जीव भगवान जिनेन्द्रदेव के कहें हुए धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ– इस संसार मे रूप यौवन धन लक्ष्मी आदि समस्त पदार्थों की प्राप्ति होना सुलभ है परंतु यथार्थ धर्म की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। इसलिये यदि शुभ कर्मों के उदय से भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ धर्म प्राप्त हो जाय तो उसके पालन करने मे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। मन वचन काय से उसका पालन करना चाहिये।

इस प्रकार अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहा तथा उसका निराकरण किया।

अब आगे चार्वाक मत का निराकरण करते हैं।

कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स तं पावं।
पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छइ णरय सग्गं वा ॥ १७२ ॥

कौलाचार्यः कथयति अस्ति न जीवो हि कस्य तत्पापम्।
पुण्यं वा कस्य भवेत् को गच्छति नरकं स्वर्गं वा ॥ १७२ ॥

अर्थ– कौलाचार्य कहते है कि इस संसार में जीव ही कोई नहीं है। जब जीव कोई है ही नहीं तो फिर किसको पाप लगता है, किसको पुण्य लगता है कौन नरक जाता है और कौन स्वर्ग में जाता है।

भावार्थ– जीव कोई है ही नहीं, फिर न किसी को पुण्य लगता है न पाप लगता है, न कोई नरक जाता है और न कोई स्वर्ग में जाता है।

आगे फिर भी चार्वाक कहते हैं।

जइगुडधादइ जोए पिठरे जाएइ मज्जिरा सत्ती।
तह पंच भूय जोए चेयणसत्ती समुब्भवई ॥ १७३ ॥

यथा गुडधातकीयोगे पिठरे जायते मदिरा शक्तिः।
तथा पंचभूतयोगे चेतनाशक्तिः समुद्भवति ॥ १७३ ॥

अर्थ– जिस प्रकार किसी थाली वा पात्र में गुड और धाय के फूल मिलाकर रख देने से उसमें मद्य की शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथ्वी जल तेज वायु आदि पंच भूत मिल जाने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

गब्भाई मरणंतं जीवो अत्थित्ति तं पुणो मरण ।
पंचभूयाण णासे पच्छा जीवत्तणं णत्थि ॥ १७४ ॥

गर्भादिमरणान्तं जीवोऽस्तीति तस्य पुनः मरणम् ।
पंचभूतानां नाशे पश्चाज्जीवत्वं नास्ति ॥ १७४ ॥

अर्थ– इस प्रकार पंच भूतों से मिलकर चैतन्य शक्ति उत्पन्न होनें के कारण गर्भ से मरण तक जीवकी सत्ता रहती है। तदनंतर जब वह जीव मर जाता है तब पंच भूतों का भी नाश हो जाता है इसलिये फिर जीव की सत्ता सर्वथा नष्ट हो जाती है। फिर जीव नहीं रहता।

लिखा भी है।

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः ।
मतत्रयमिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते ॥

अर्थात्– शरीर का स्वरुप, शरीर के कार्य और शरीर के गुण इन तीनों का आश्रय लेकर जीव का अभाव निरूपण किया जाता है।

भावार्थ– शरीर पंच भूत है, शरीर के कार्य का सब पंच भूत रुप है और शरीर के गुण सब पच भूत रुप है। इसलिये यह चैतन्य शक्ती भी पंच भूत रुप है। वास्तव मे चैतन्य शक्ति वा जीव पदार्थ कोई अलग नही है इस प्रकार जीव का अभाव होता है। ऐसा चार्वाक कहता है।

इस सम्बन्ध में और कहा जाता है –

तम्हा इंदिय सुक्खं भुंज्जिइ अप्पणाइं इच्छाए ।
खज्जइ पिच्जइ मज्जं मंसं सेविज्ज परमहिला ॥ १७५ ॥

तस्मादिन्द्रियसौख्यं भुज्यतां आत्मनः इच्छया ।
खाद्यतां पीयतां मद्यं मांसं सेव्यंतां परमहिलाः ॥ १७५ ॥

अर्थ– जब इस संसार मे जीव कोई पदार्थ है ही नही और इस-लिये स्वर्ग नरक भी नहीं है तो फिर अपनी इच्छानुसार खूब इंद्रियों के सुखों को भोगो, खूब मांस खाओ, खूब मद्य पीओ, और खूब स्त्रियोंका

सेवन करो। ऐसा करनें से कोई किसी को पाप नहीं लगता। क्योंकि वह जीव ही कोई पदार्थ नही है।

जो इंदियाइं दंडइ विसया परिहरइ खवइ णियदेहं।
सो अप्पाणं वंचइ गहिओ भूएहिं पुव्वुद्धो ॥ १७६ ॥

यः इन्द्रियाणि दण्डयति विषयान्परिहरति क्षपयति निजदेहम्।
स आत्मानं वंचयति गृहीतो भूतैः दुर्बुद्धीः ॥ १७६ ॥

अर्थ– जीव का अभाव सिद्ध कर वह चार्वाक फिर कहता है कि को पुरुष अपनी इन्द्रियों का निग्रह करता है, इन्द्रियों के विषयों के सेवन का त्याग करता है और अपने शरीर को व्यर्थ कृश करता है वह दुर्बुद्धि मूर्ख पुरुष अपने आत्मा को ठगता है। समझना चाहिये की ऐसा पुरुष अनेक भूतों द्वारा घेर रक्खा है इसलिये वह सुखों का अनुभव नहीं करता। लिखा भी है –

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य कायस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात्– जबतक जीओ तब तक सुख पूर्वक जीओ। ऋण करके भी प्रतिदिन घी दूध पीओ। क्योंकि मरनें पर यह पंच भूत से बना हुआ शरीर भस्म हो जाता है। जीव कोई पदार्थ है नहीं फिर भला आवागमन कैसे हो सकता है, अर्थात् नही। बिना आवागमन के नरक आदिक की प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती। ऐसा चार्वाक मानता है। परंतु उसका यह कहना सर्वथा मिथ्या है। पंचभूत अचेतन है वे जीव के उपादान कारण नही हो सकते। गोबर में बीछू उत्पन्न हो जाते है परंतु गोबर उन जीवोंका उपादान कारण नही है, शरीर का उपादान कारण है। इसके सिवाय मैं सुखी हूँ ऐसा स्वसंवेदन समस्त जीवों को होता है। इससे भी जीव की सिद्धी अवश्य होती है। देखो इस शरीर में जबतक जीव रहता है तबतक ही शरीर की वृद्धी होती रहती है। जीव के निकल जाने पर फिर शरीर कभी नहीं बढता है। इससे भी जीव की सिद्धि माननी पडती है। इस शरीर मे जब तक जीव रहता है तबतक ही वह गमनागमन करता रहता है, जीव के निकल

जानेपर उसका गमनागमन श्वास उच्छ्वास आदि सब बंद हो जाता है। अमुक जीव मरकर व्यंतर हुआ, भाई हुआ, पिता हुआ आदि बातें असत्य नहीं है क्योंकि किसी जीवके जाति स्मरण भी होता है उस जाति स्मरण से पहले जन्मकी भी बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। इसके सिवाय सब जीवों का आकार रूप आदि भिन्न भिन्न है। इससे भी जीव-की सिद्धि अवश्य माननी पड़ती है। इसलिये जीव नहीं है ऐसा जो लोग कहते है वह भी मिथ्यात्व है। भव्य जीवों को उचित है कि उनको अपने सम्यग्दर्शन के बल से ऐसे मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

इस प्रकार अज्ञान मत का निरूपण कर निराकरण किया।

अब आगे सांख्य मत को कह कर उसका निराकरण करते हैं।

संखो पुणु मणइ इयं जीवो अत्थित्ति किरियपरिहीणो।
देहम्मि णिवसमाणो ण लिप्पए पुण्णपावेहिं ॥ १७७ ॥

सांख्यः पुनः भणति एवं जीवोऽस्तीति क्रियापरिहीनः।
देहे निवसमानो न लिप्यते पुण्यपापैः ॥ १७७ ॥

अर्थ– सांख्यमत वाला कहता है कि जीव तो है परंतु वह क्रिया रहित है इसलिये वह शरीर मे निवास करता हुआ भी पुण्य वा पापों से लिप्त नही होता।

आगे फिर वह कहता है–

छिज्जइ भिज्जइ पयडी पयडी परिभमइ दीहसंसारे ॥
पयडी करेइ कम्मं पयडी भुंजेइ सुह दुक्खं ॥ १७८ ॥

छिद्यते भिद्यते प्रकृतिः प्रकृतिः परिभ्रमति दीर्घसंसारे।
प्रकृतिः करोति कर्म प्रकृति भुनक्ति सुखदुःखम् ॥ १७८ ॥

अर्थ– प्रकृति ही छिन्न भिन्न होती रहती है और प्रकृति ही इस संसार समुद्र में परिभ्रमण करती है। प्रकृति ही पुण्य पाप रूप कर्म उपार्जन करती है और प्रकृति ही सुख दुःख का अनुभव करती है।

भावार्थ– सांख्य मत वाले प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ मानते

हैं। पुरुष जीव को कहते है और प्रकृति उससे भिन्न मानते है। पुरुष को वा जीव को वे लोग कर्त्ता भोक्ता नही मानते यही बात आगे दिखलाते है।

जीवो सया अकत्ता मुत्ता ण हु होइ पुण्ण पावस्स ।
इय पयडिऊण लोए गहिया बहिणी सधूया वि ॥ १७९ ॥

जीवः सदा अकर्ता भोक्ता नहि भवति पुण्यपापयोः ।
इति प्रकटय्य लोके गृहीता भगिनी स्वसुतापि ॥ १७९ ॥

अर्थ– यह जीव वा पुरुष सदा काल अकर्ता रहता है न वह पुण्य करता है और न पाप करता है। इसी मान्यतानुसार पाप के फल का भोक्ता भी नहीं है। इस प्रकार प्रगट करता हुआ तो अपनी बहिन और बेटी को भी ग्रहण कर लेता है।

आगे आचार्य सांख्य मान्यता के प्रति कहते है।

एए विसयासत्ता कग्गुम्मुत्ता य जीवदयरहिया ।
परतियधणहरणरया अगहिय धम्मा दुरायारा ॥ १८० ॥

एते विषयासक्ताः कड्गुमत्ताश्च जीवदयारहिताः ।
परस्त्रीधनहरणरता अगृहीतधर्मा दुराचाराः ॥ १८० ॥

अर्थ– आचार्य कहते है कि ऐसे लोग सदा काल विषयों में आसक्त रहते है, काम सेवन के लिये उन्मत्त रहते है, जीवों की दया पालन नहीं करते, परस्त्री और पर धन हरण करने में सदा लगे रहते है, अत्यंत दुराचारी है और यथार्थ धर्म का स्वरूप कभी स्वीकार नहीं करते।

ण मुणंति सयं धम्मं अनुणिय तच्चत्थयार पब्भट्ठा ।
पउरकसाया माई कह अण्णेसिं फुडं वित्ति ॥ १८१ ॥

न जानन्ति स्वयं धर्मं अज्ञाततत्त्वार्थाचार प्रभ्रष्टाः ।
प्रचुरकषाया मायाविनः कथं अन्यान् स्फुटं ब्रुवन्ति ॥ १८१ ॥

अर्थ– आचार्य कहते है जो सांख्य लोग स्वयं धर्म का स्वरूप नहीं जानते न तत्त्वों का अर्थ वा स्वरूप समझते है वे स्वय सदाचार से

भ्रष्ट होते है क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों की तीव्रता को धारण करते है अत्यंत मायाचारी होते है फिर न मालूम वे दूसरों के लिये धर्म का उपदेश कैसे देते है।

भावार्थ– वे दूसरों लिये भी अपने समान ही उपदेश देते है। वे धर्म का उपदेश कभी नहीं दे सकते।

रंडा मुंडा थंडी सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा।
सीसे कंता कामासत्ता कामिया सविधारा॥
मज्जं मसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवसोक्खं च।
कउले धम्मे विसयेमोग्मे तं जिहो सग्गसेक्खं॥ १८२॥

रण्डा मुण्डा स्थंडी शौंडी दीक्षिता धर्मदाराः।
शिष्या कान्ता कामासक्ता कामिता सविकारा।
मद्यं मांसं मिष्टं भक्ष्यं भक्षितं जीवसुखं च।
कपिले धर्मे विषये रम्ये तेनैव भवतः स्वर्गमोक्षौ॥ १८२॥

अर्थ– जो स्त्री विधवा हो, मस्तक मुंडाये हो, चंडी वा मद्य पीने वाली हो, दीक्षित हो, किसी की धर्मपत्नी हो, शिष्या हो, कांता हो, काम सेवन की लालसा रखती हो, कामासक्त हो, अनेक प्रकार के विकार वाली हो, उसे सबको सेवन कर लेना चाहिये, खूब मद्य पीना चाहिये, खूब मांस खाना चाहिये, सब प्रकार से सुख देना चाहिये, ऐसा सांख्य मत वाले कहते है। इस प्रकार सांख्य मत विषयों के सेवन से भरपूर मनोहर है और वे लोग उसीसे स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति मानते है।

रत्ता मत्ता कंत्तासत्ता दूसिया धम्ममग्गा।
हुट्ठा कट्ठाधिट्ठा मुट्ठाणिंदि जो मोक्खमग्गा॥
अक्खे सुक्खे अग्गेदुक्खे णिब्भरं दिण्णचित्ता।
णेरइयाणं दुक्खट्ठाणं तस्स सिस्सा पउत्ता॥ १८३॥

रक्तमत्ताः कान्तासक्ता दूषितधर्ममार्गाः।
दुष्टा कष्टा धृष्टा अनृतवादिनः निन्दिमोक्षमार्गाः॥
आक्षे सुखे अग्रे दुःखे निर्भ्रान्तं दत्तचित्ताः।
नारकाणां दुःखस्थानं तस्य शिष्याः प्रोक्ताः॥ १८३॥

कार्तिकेय — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ– सांख्य मतवाले रक्त पी पी कर उन्मत्त हो जाते है, स्त्रियों में सदा आसक्त रहते है, धर्म के समस्त मार्गों को दूषित करते रहते है, दुष्ट होते है, दुःखदायक होते है, धृष्ट होते है, मिथ्यावादी होते है, मोक्ष मार्ग की निंदा करते रहते है, वे लोग इन्द्रियों को सुखी बनाते रहते है। परंतु आगे के लिये वे लोग बिना किसी संदेह के महा दुःख भोगने के लिये दत्त चित्त रहते है। तथा इसीलिये उस सांख्य मत को मानने वाले उनके समस्त शिष्य नरक के महा दुःख के स्थानों को प्राप्त होते है।

आगे फिर भी कहते है।

मज्जे धम्मो जीव हिंसाइं धम्मो।
राई देवो दोसी देवो माया सुण्णं पि देवो॥
रत्ता मत्ता कंत्तासत्ता जे गुरु तेवि य पुज्जा।
हा हा कट्ठ णट्ठो लोओ अहमहं कुणंतो॥ १८४॥

मद्ये धर्मो मांसे धर्मो जीव हिसायां धर्यः॥
रागीदेवो दोषीदेवो माया शून्यमपि देवः॥
रक्तमत्ताः कान्तासक्ता ये गुरव स्तेति य पूज्याः।
हाहा कष्टं नष्टो लोकः अहमहं कुर्वन्॥ १८४॥

अर्थ– सांख्य लोग कहते है कि मद्य पीने मे भी धर्म है, मांस खाने में भी धर्म है, जीवों की हिंसा करने मे भी धर्म है, राग करनेवाला भी देव है द्वेष करनेवाला भी देव है, माया रहित भी देव है, जो गुरु रक्त मांस आदि के सेवन करने में मदोन्मत्त है और स्त्रियों मे आसक्त है ऐसे गुरु भी पूज्य माने जाते है इस प्रकार सांख्य लोग कहते है। इस पर आचार्य कहते है कि यह बडे दुःख की बात है। इन सांख्य मतवालो ने महा अनर्थ करते हुए समस्त लोक को नष्ट कर दिया।

धुया मायर बहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि
आयतिय वासवयणु पयडे वि विप्पे।
जइ रगिय कामाउरेण वेयगव्वे उप्पण्णदप्पे

वं भणि छिपिणि डोंवि नडिय बरुडि रज्जइ चम्मारि
कबले समइ समागमेइ तह भुत्ति य परणारि ॥ १८५ ॥
दुहिता मातृभगिनी अन्या अपि पुत्रार्थिनी
आयाति च व्यासवचनं प्रकटनीयं विप्रेण ।
यथारभिता कामातुरेण वेदगर्वणोत्पन्नदर्पेण ।
ब्राम्हणी डोम्बी नटी विरुटी रजकी चर्मकारी
कपिले समये समागच्छन्ती तथा भुक्ता च परनारी ॥ १८५ ॥

अर्थ– यदि पुत्र की इच्छा करनेवाली पुत्री माता बहिन आदि कोई भी आवे तो ब्राम्हणों को व्यास के वचन ही प्रगट कर दिखाने चाहिये । जिस प्रकार वेद ज्ञान से उत्पन्न हुए अभिमान से मदोन्मत्त कामसक्त ब्राम्हण ने ब्राम्हणी, भंगिन, नटिनी, रोहित चमारिन, रंजरिन आदि सब के साथ रमण किया था उसी प्रकार सांख्य मत मे अपने पास आई हुई पररत्री का सेवन करना चाहिये । ऐसा सांख्य मत है । इसके सिवाय सांख्य मत में यहां तक लिखा है कि–

स्वयमेवागतां नारीं यो न कामयते नरः ॥
ब्रम्हाहत्या भवेत्तस्य पूर्वब्रम्हाऽब्रवीदिदम् ॥

अर्थात्– जो स्त्री अपने पास स्वयमेव आवे और वह मनुष्य उसके साथ संभोग न करे तो उस मनुष्य को ब्रम्ह हत्या का महान् महादोष लगता है । ऐसा पूर्व ब्रम्हा ने कहा है ।

आगे सांख्य का यह मत महा पाप और महा दुःखो का कारण है ऐसा दिखलाते है ।

अण्णाण धम्मलग्गो जीवो दुक्खाण पूरिओ होइ ।
चउगइ गईहिंणिवडइ संसारे भमिहि हिडंतो ॥ १८६ ॥

अज्ञानधर्मलग्नो जीवो दुःखैः पूरितो भवति ।
चतुर्गती गतिभिः निपतति संसारे भ्रमति हिण्डन् ॥ १८६ ॥

अर्थ– इस प्रकार सांख्य मत को माननेवाले अज्ञान धर्म में लगे हुये जीव अनेक महा दुःखो से पूरित हो जाते है । तथा चारों गतियों मे

परिभ्रमण करते हुए दीर्घ कालतक ससार में पडे हुए महा दुःख भोगा करता है –

जइ पाहाण नरंदे लग्गो पुरिसो हु तरिणी तोये ।
वुड्डइ विगयाधारो णिवडेइ महण्णवावत्ते ॥ १८७ ॥

यथा पाषाणतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तीरिणीतोये ।
व्रुडति विगताधारः निपतति महाणवावर्ते ॥ १८७ ॥

अर्थ– जिस प्रकार पाषाण की नाव में बैठा हुआ पुरुष विना किसी आधार के नदीं के पानी में डूब जाते है उसी प्रकार अज्ञान धर्म में लगे हुए जीव इस संसार रुपी महा समुद्र मे पडकर अनंत कालतक परिभ्रमण करते रहते है ।

गुच्छियगुरुकयसेवा विविहावइपउरदुक्खआवत्ते ।
तह पणिमज्जइ पुरिसो संसार महोवही भीमे ॥ १८८ ॥

कुत्सित गुरुकृतसेवा विविधातिप्रचुर दुःखावर्ते ।
तथा च निमज्जति पुरुषः संसार महोदधौ भीमे ॥ १८८ ॥

अर्थ– जिस प्रकार कुत्सित वा नीचगुरु की सेवा करने से अनेक प्रकार के दुःखरुपी समुद्र में पड जाता है उसी प्रकार कुगुरु की सेवा करने से यह पुरुष भी इस संसार रुपी महा भयानक समुद्र में पडकर अनंत काल के लिये डूब जाता है ।

वयभद्द कुंठ रुद्देहिं णिठ्ठुर णिक्किट्ठदुट्ठचिट्ठेहि ।
अप्पाणं णासिभो अण्णेवि य णासिओ लोओ ॥ १८९ ॥

व्रतभ्रष्टकुण्ठरुद्रैः निष्ठुरनिकृष्टदुष्टचेष्टैः ।
आत्मानं नाशयित्वा अन्योपि च नाशितो लोकः ॥ १८९ ॥

अर्थ– जितने कुगुरु है वे सब व्रतों से भ्रष्ट है अत्यंत क्रूर परिणामों को धारण करनेवाले हैं अत्यंत निष्ठूर है निकृष्ट है, और दुष्ट चेष्टाओं का करने वाले है । इसलिये ऐसे कुगुरु अपने आत्मा का भी नाश करते है और अन्य अनेक जीवों का भी नाश करते है ।

इय अण्णाणी पुरिसा कुच्छियगुरुकहियमग्गसंलग्गा ।
पावंति णरय तिरयं णाणा दुहसंकडं भीमं ॥ १९० ॥

इति अज्ञानिनः पुरुषाः कुत्सितगुरुकथितमार्गसंलग्नाः ।
प्राप्नुवंति नरकं तिर्यंचं नाना दुःखसकटं भीमम् ॥ १९० ॥

अर्थ– इस प्रकार जो पुरुष निकृष्ट कुगुरुओं के द्वारा कहे हुए मिथ्या मार्ग में लगे रहते है वे पुरुष नरक वा तीर्यंच योनि में पडकर अत्यंत भयानक ऐसे अनेक प्रकार के महा दुःख भोगा करते है ।

एवं णाऊण फुडं सेविज्जइ उत्तमो गुरु कोई ।
वहिरंतरगंथचुओ तिरियणवंतो सुणाणी य ॥ १९१ ॥

एवं ज्ञात्वा स्फुटं सेव्यतां उत्तमो गुरुः कश्चित् ।
वाह्याभ्यन्तदग्रथच्युतः तरणवान् सुज्ञानी च ॥ १९१ ॥

अर्थ– आचार्य कहते है कि इस प्रकार कुगुरुओं के कहे अनुसार महा दुःख भोगने पडते है । ऐसा समझ कर ऐसे उत्तम गुरु की सेवा करनी चाहिये जो वाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित हों स्वयं तरनेवाला और भव्य जीवों को तारनेवाला हो, और सम्यग्ज्ञान को धारण करनेवाला हो ।

जइ जाय लिंगधारी विसयविरत्तो य णिहयसकसाओ ।
पालयदिढवंवओ सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥ १९२ ॥

यथाजात लिंगधारी विषयविरक्तश्च निहतस्वकषायः ।
पालितदृढब्रह्मव्रतः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम ॥ १९२ ॥

अर्थ– जो गुरु जात लिंगधारी हो अर्थात् जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार समस्त परिग्रहों से रहित नग्न अवस्था को धारण करनेवाला हो, इन्द्रियों के समस्त विषयों से विरक्त हो, जिसने अपनी समस्त कषायें नष्ट कर दी हों और जो ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण रीति से दृढता के साथ पालन करता हो, ऐसे परमगुरु की सेवा करने से ही यह जीव निराकुल सुख की प्राप्ति कर सकता है ।

ते कहिय धम्म लग्गा पुरिसा डहिऊण सकयपावाइं ।
पावंति मोक्ख सोक्ख केई विलसंति सग्गेसु ॥ १९३ ॥

तेन कथितधर्मे लग्नाः पुरुषा दग्ध्वा स्वकृतपपानि ।
प्राप्नुवन्ति मोक्षसौख्यं केचिद् विलसन्ति स्वर्गेषु ॥ १९३ ॥

अर्थ– जो पुरुष ऐसे निर्ग्रंथ परम गुरु के कहे हुए धर्म का सेवन करते है वे पुरुष अपने समस्त पापों को नाश कर मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त करते है तथा उनमे से कितने पुरुष स्वर्ग के सुख भोगते है ।

एवं मिच्छदिट्ठि ठाणं कहिय मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छ विदियं पुण सासणं णामं ॥ १९४ ॥

एवं मिथ्यादृष्टिस्थानं कथितं मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये द्वितीयं पुनः सासादनं नाम ॥ १९४ ॥

अर्थ– इस प्रकार अत्यंत सक्षेप से मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप कहा । अब आगे दूसरे सासादन नाम के गुणस्थान का स्वरूप कहते है ।

इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप वा मिथ्यात्व गुणस्थान में होनेवाले परिणामों का स्वरूप कहा ।

अब आगे सासादन गुणस्थान का स्वरूप कहते है ।

एयदरस्स उदये अणंतबधिस्स संपरायस्स ।
समयाइ छविलित्ति य एसो कालो समुद्दिट्ठो ॥ १९५ ॥

एकतरस्योदयेऽनन्तानुबन्धिनः साम्परायस्य ।
समयादि षडावलिनि च एषः कालः समुद्दिष्टः ॥ १९५ ॥

अर्थ– किसी भव्य जीव के काल लब्धि के निमित्त से प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्ति होती है । उस उपशम सम्यक्त्व का काल अंत मुहूर्त है । जब उस अतर्मुहूर्त काल के समाप्त होनेमें कम से कम एक समय और अधिक म अधिक छह आवली शेष रह जाती है तब अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ मे से किसी एक प्रकृति का उदय हो जाता है । उस प्रकृति के उदय होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है परन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम होने से मिथ्यात्व गुणस्थान नही होता ।

उपशम सम्यक्त्व की स्थिती में जितना काल शेष रहा है उसके समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय होता है और उस समय वह मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँच जाता है। सम्यग्दर्शन के छूट जाने के अनंतर से लेकर जबतक मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होता है तब तक का इस सासादन गुणस्थान का काल है और वह कम से कम एक समय है और अधिक से अधिक छह आवली है।

एयम्मिगुणट्ठाणे कालो णत्थित्ति तित्तिओ जम्हा।
तम्हा वित्थाणे ण हि संखेओ तेण सो उत्तो ॥ १९६ ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने कालो नास्ति तावन्मात्रः यस्मात्।
तस्माद्विस्तायो नहि संक्षेपेण तेन स उक्तः ॥ १९६ ॥

अर्थ– इस दूसरे सासादन गुणस्थान का कुछ समय वा काल नहीं है। ऊपर जितना बतलाया है केवल उतना ही काल है इसीलिये इस गुणस्थान का स्वरूप विस्तार से नहीं कहा है अत्यंत संक्षेप से ही उसका स्वरूप कहा है।

परिणामिय भावगयं विदियं सासायणं गुणट्ठाणं।
सम्मत्त सिहर पडियं अपत्त मिच्छत भूमितलं ॥ १९७ ॥

पारिणामिक भावगतं द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम्।
सम्यक्त्व शिखरपतितं अप्राप्तमिथ्यात्व भूमितलम् ॥ १९७ ॥

अर्थ– जिस प्रकार कोई पुरुष किसी पर्वत से गिरता है और जब तक पृथ्वीपर नही आजाता तबतक वह न तो पर्वतपर माना जाता है और न पृथ्वी पर किंतु मध्य में माना जाता है। इसी प्रकार जिस जीवके उपशम सम्यग्दर्शन छूट गया है और मिथ्यात्व गुण स्थान प्राप्त नहीं हुआ है तब तक उसके सासादन गुणस्थान कहलाता है। इस दूसरे गुणस्थान मे पारिणामिक भाव माने जाते हैं।

भावार्थ– यद्यपि इस गुणस्थान मे मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम है और अनन्तानुबंधी की किसी एक प्रकृति का उदय है इसलिये इसमें क्षायोपशमिक भाव भी कहे जा सकते है तथापि इसकी मुख्यता न रखते

हुए पारिणामिक भाव बतलाये है। यह सासादन गुणस्थान न तो अपर्याप्तक नारकी जीवों के होता है और न समस्त लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के होता है। सासादन गुणस्थान वाला न तो आहारक प्रकृति का बंध करता है, न आहारक मिश्र प्रकृति का बंध करता है और न तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है इसलिये वह ऊपर लिखी प्रकृतियों का बंध नहीं कर सकता। सासादन गुणस्थान वाले जीवके एक बार सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका है इसलिये वह भव्य अवश्य है और सम्यक्त्व के प्रगट होने से थोड़े ही काल में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। देखो सम्यग्दर्शन का माहात्म्य कैसा है जो थोड़े ही काल के लिये उत्पन्न होकर भी थोड़े ही समय मे मोक्ष पहुंचा देता है। इसलिये आचार्य कहते है कि इस सम्यग्दर्शन के प्रकट होने की भावना भव्य जीवों को हर समय करते रहना चाहिये।

इस प्रकार दूसरे सासादन गुणस्थान का स्वरूप कहा।

अब आगे तीसरे मिश्र गुणस्थान का स्वरूप कहते है।

सम्मामिच्छुदएण य सम्मिस्सं णाम होइ गुणठाणं।
खयउवसमभावगयं अंतरजाई समुद्दिट्ठं ॥ १९८ ॥

सम्यक्त्व मिथ्यात्वोदयेन च संमिश्रं नाम भवति गुणस्थानम्।
क्षयोपशम भावगतं अन्तर्जाति समुद्दिष्टं ॥ १९८ ॥

अर्थ– दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां है:- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। इनमें से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिश्रगुण स्थान होता है। इसमें क्षायोपशमिक भाव होते है। तथा वे परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों से संम्मिलित रूप होते है।

भावार्थ– इस गुणस्थान में रहने वाले जीवों के भाव न तो सम्यक्त्व रूप होते है न मिथ्यात्व रूप होते है किंतु इन दोनों से मिले हुए और इस दोनों से भिन्न तीसरे ही प्रकार के परिणाम होते है।

आगे इसी बात को उदाहरण देकर बतलाते है।

वडवाए उप्पण्णो खेरण जइ हवइ इत्थ वेसरओ।
तह तं सम्मिस्स गुणं अगहिय गिह सयल संजमणं ॥ १९९ ॥

वडवायां उत्पन्तः खरेण यथा भवति अत्र वेसरः ।
तथा च सम्मिश्रगुणः अगृहीतगृहिसकल संयमः ॥ १९९ ॥

अर्थ– जिस प्रकार खच्चर जाति का गधा घोडी से उत्पन्न होता है परंतु गधे से होता है घोडा से नहीं होता । घोडी गधा दोनों से उत्पन्न होने वाला एक तीसरी जाति का जीव है । इसी प्रकार इस तीसरे मिश्रगुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों से मिले हुए एक तीसरी जाति के परिणाम होते है । इस तीसरे गुणस्थान में रहनें वाले जीव न तो गृहस्थों का एक देश संयम धारण कर सकते है और न सकल संयम धारण कर सकते है ।

तत्थ ण वंधइ आउं कुणइ ण कालो हु तेण भावेण ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरइ णियमेण ॥ २०० ॥

तत्र न वध्नाति आयुः करोति न कालो हि तेन भावेन ।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ॥ २०० ॥

अर्थ– इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो आयु का बंध कर सकता है और न मर सकता है । तीसरे गुणस्थान के भावों से ये दोनों बाते नहीं कर सकता । वह जीव या तों सम्यग्दर्शन धारण कर मर सकता है अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान मे जाकर मर सकता है ।

आगे इस गुणस्थान में कैसे परिणाम होते हैं सो दिखलाते है–

अट्टरउद्दं झायइ देवा सव्वे वि हुंति णमणीया ।
धम्मासव्वे पवरा गुणाणं किं पि ण विणिए इ ॥ २०१ ॥

आर्तरौद्रं ध्वायति देवाः सर्वेपि भवन्ति नमनीयाः ।
धर्माः सर्वे प्रवरा गुणागुणौ किमपि न विजनाति ॥ २०१ ॥

अर्थ– इस तीसरे गुणस्थान मे रहनेवाले जीव के आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है अर्थात् वह इन्हीं दोनों का चितवन करता रहता है। इसके सिवाय वह समझता है कि संसार मे जितने देव है वे सब नमस्कार करने योग्य है और जितने धर्म है वे सब उत्तम है । इस प्रकार समझता हुआ वह जीव गुण वा अवगुण किसी को नही जानता, इस देव

में अवगुण है इसमें गुण है इस बात को वह नहीं समझता वह सब को समान समझता है।

आगे उसके भाव और कैसे होते हैं सो दिखलाते हैं।

अत्थि जिणयमि कहियं वेए कहियं च हरिपुराणे य।
सइदागमेण कहित तच्चं कविलेण कहियं च ॥ २०२ ॥

अस्ति जिनागमे कथितं वेदे कथितं च हरिपुराणो वा।
शैवागमेन कथित तत्त्वं कपिलेन कथितं च ॥ २०२ ॥

बंभो करेइ तिजयं किण्हो पालेइ उपरि छुहिऊण।
रुद्दो संहरइ पुणो पलयं काऊण णिस्सेसं ॥ २०३ ॥

ब्रह्मा करोति त्रिजगत् कृष्णः पालयति उपरि स्पृष्ट्वा।
रुद्रः संहरति पुनः प्रलयं कृत्वा निः शवम् ॥ २०३ ॥

अर्थ– वह तीसरे गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्रदेव नें भी कहा है शैवो के आगम में भी कहा है और कपिल ने भी कहा है। इन सबके कहे हुए तत्व ठीक है, ऐसा समझकर वह सबको मानता है। इसके सिवाय वह समझता है कि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करता है, कृष्ण ऊपर से ही स्पर्शकर उन तीनों लोकों का पालन करता है और महादेव उन समस्त तीनों लोकों का प्रलय कर सब का संहार वा नाश कर देता है। इसके सिवाय वह चंडी मुंडी महालक्ष्मी आदि सब देव देवियोंकी पूजा करता है, पितरों को तृप्त करने के लिये श्राद्ध करता है, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये अन्य प्रकार के ढोंग करता है। ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के भाव इस तीसरे गुणस्थान में होते हैं।

आगे ब्रह्मा विष्णु महेश के इन कार्यों का सिराकरण करते है।

जइ बंभो कुणइ जयं तो किं सग्गिंदरज्ज कज्जेण।
चइऊण बंभ लोयं उग्गतवं तवइणरलोए ॥ २०४ ॥

यदि ब्रह्मा करोति जगत्तर्हि किं स्वर्गेन्द्रराज्यकार्येण।
च्युत्वा ब्रह्मलोकं उग्रतपः तप्ते नरलोके ॥ २०४ ॥

अर्थ– यदि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करता है तो फिर वह स्वर्ग के इन्द्रका राज्य लेने के लिये ब्रह्म लोक को छोडकर और मनुष्य लोक मे आकर घोर तपश्चरण क्यों करता है ?

भावार्थ– जब वह तीनों लोकों को उत्पन्न कर सकता है तो वह दूसरा स्वर्ग भी बना सकता है और उसका राज्य स्वयं कर सकता है तो फिर उसे स्वर्ग के राज्य के लिये तपश्चरण करने की क्या आवश्यकता थी ?

आगे और भी कहते है।

जरउद्दसेय अंडय सव्वे एयाइं भूयगामाइं ।
णारय णर तिरिय सुरा णिबंदियं वणिसुद्दपहुईया ॥ २०५ ॥
जरायुजोद्भित्स्वेदाण्डजान् सर्वान् एतान् भूतग्रामान् ।
नारकनरतिर्यक् सुरान् वंदिनः वाणिक्शूद्रप्रभृतीन् ॥ २०५ ॥
चंडाल डूंब धविरा वरुडा कल्लालछिप्पिया चेव ।
हय गय गोमहिसि खरा वग्घ किडी सीह हरिणाइं ॥ २०६ ॥
चाण्डालडोम्ब धीवर वरुट कलवारछिपकांश्चैव ।
हयगजगोमहिषीखरान् व्याघ्रकोटिसिंह हरिणान् ॥ २०६ ॥
णाणा कुलाइं जाई णाणा जोणी य आउ विहवाइं ।
णाणा देह गवाइं वण्णा रूवाइं विविहाइं ॥ २०७ ॥
नाना कुलानी जाती; नाना योनींश्च आयुविभवादीनि ।
नाना देहगतान् वर्णान् रूपाणि विविधानि ॥ २०७ ॥
गिरि सरि सायर दीवो गामा रामाइं धरणि आयासं ।
जो कुणइ खणद्धेणं चिंतियमित्तेण सव्वाइं ॥ २०८ ॥
गिरिसरित्सागरद्वीपान् ग्रामारामान् धरणीमाकाशम् ।
यः करोति क्षणार्धेन चिन्तितमात्रेणसर्वान् ॥ २०८ ॥
किं सो रज्यणिमित्तं तवसा तावेइ णिच्च णियदेहं ।
तिहुवण करण समत्थो किं ण कुणइ अप्पणो रज्जं ॥ २०९ ॥
किं साः ज्यनिमित्तं तपसा तापयति नित्यं निजदेहम् ।
त्रिभुवनकरणसमर्थः किं न करोति आत्मनो राज्यम् । २०९ ।

अर्थ– मनुष्य पशु के शरीर पर जो मांस की जाली आती है उसको जरायु कहते है, ऐसी जरायुसहित जो उत्पन्न होते है उनको जरायुज कहते है । पृथ्वीपर जो घास आदि उत्पन्न होते है उनको उद्भिज्ज कहते है अंडों से उत्पन्न होने वाले अंडज कहलाते है जो ब्रह्मा इन सब जीवों को उत्पन्न करता है, नारकी मनुष्य पशुपक्षी देव ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों को उत्पन्न करता है, चांडाल, डोंब, धीवर, धोबी कलार, छीपी, हाथी, घोडा, गाय, भैंस, गधा, व्याघ्र, सुअर, सिह, हरिण आदि समस्त जीवो को उत्पन्न करता है, अनेक कुलों को उत्पन्न करता है, अनेक जातियों को उत्पन्न करता है, अनेक योनियों को उत्पन्न करता है, समस्त जीवों को आयु वैभव आदि उत्पन्न करता है, अनेक प्रकार के रूप उत्पन्न करता है, पर्वत नदी सागर द्वीप गांव नगर बाग बगीचा पृथ्वी आकाश आदि समस्त पदार्थों को समस्त जीवों को चितवन करने मात्र ही आधे क्षण मे ही सबको उत्पन्न कर लेता है ऐसा वह ब्रह्मा केवल स्वर्ग का राज्य लेने के लिये घोर तपश्चरण क्यों करता है ? व्यर्थ ही अपने शरीर को क्यों संतप्त करता है ? वह तो तीनों लोकों के उत्पन्न करने मे समर्थ है फिर भला वह अपने लिये राज्य उत्पन्न क्यों नहीं करलेता है । जिस प्रकार उसने तीनों लोक उत्पन्न किया है उसी प्रकार उसको एक स्वर्ग और उत्पन्न कर लेना चाहिये और स्वयं उसका राज्य करना चाहिये । उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हुए भी दूसरे राज्य को छीनने के लिये तपश्चरण करना कितने आश्चर्य और विडंबना की बात है । इससे सिद्ध होता है कि यह जगत् ब्रह्मा वा अन्य किसी का का बनाया हुआ नहीं है किंतु स्वय सिद्ध अनादि काल से चला आ रहा है । इसका कर्ता कोई नहीं है ।

आगे और भी कहते है ।

अच्छरतिलोत्तमाए णट्टं दट्ठूण रायरस रसिओ ।
तवभट्ठो चउवयणो जाओ सो मयणवस चित्तो ॥ २१० ॥

अप्सरस्तिलोत्तमाया नृत्यं दृष्टवा रागरसरसिकः ।
तपोभ्रष्टः चतुर्वदनः जातः स मदनवशचित्तः ॥ २१० ॥

अर्थ– जब वह ब्रह्मा स्वर्गका राज्य लेने के लिये घोर तपश्चरण कर रहा था तब इन्द्र को भी अपने राज्य की चिंता हुई और उसका तपश्चरण भ्रष्ट करने के लिये तिलोत्तमा नाम की अप्सरा भेजी। वह तिलोत्तमा उस ब्रह्मा के सामनें आकर नृत्य करने लगी : जिसका मन कामसेवन के लिये आसक्त हो रहा है और राग के रससे रसिक हो है ऐसा वह ब्रह्मा उस नृत्य को देखता देखता अपने तपश्चरण से भ्रष्ट हो गया और नृत्य देखने के लिये उसने अपने चार मुख बना लिये। भावार्थ– वह अप्सरा बहुत देर तक तो ब्रह्मा के सामने नृत्य करती रही। और ब्रह्मा उसे देखता रहा। ब्रह्मा को आसक्त देखकर वह तिलोत्तमा उसके बगल में नृत्य करने लगी। तब उस नृत्य को देखने के लिये बगल मे भी एक मुख बना लिया। जब वह तिलोत्तमा पीठ पीछे नृत्य करने लगी। तब ब्रह्माने उधर भी एक मुख बना लिया। जब वह दूसरे बगल में नृत्य करने लगी तब उधर भी चौथा मुख बना लिया। इस प्रकार ब्रह्मा ने चार मुख बनाये। परन्तु जब वह तिलोत्तमा ऊपर आकाश में नृत्य करने लगी तब ब्रह्मा ने ऊपर भी एक मुख बना लिया।

छंडिय णियबड्डत्तं पहुत्तणं देव वत्तणं तवोचरियं।
कामाउरो अलज्जो लग्गो मग्गेण सो तिस्स ॥ २११ ॥

त्यक्त्वा निज बृद्धत्वं प्रभुत्वं देवत्वं तपश्चर्यम्।
कामातुरः अलज्जः लग्नः मार्गेण स तस्याः ॥ २११ ॥

अर्थ– इस प्रकार उस ब्रह्माने अपना बडप्पन छोड दिया, अपना प्रभुत्व छोड दिया, अपना देवपना छोड दिया और अपना तपश्चरण छोड दिया, कामासक्त होकर जिस मार्ग से वह तिलोत्तमा चलने लगी उसी मार्ग से उसके पीछे पीछे चलनें लगा।

हसिओ सुरेहिं कुद्धो खरसीसो भक्खिउं पउत्तो सो।
संकरकरकंडियसिरो विरहपलित्तो णियत्तो य ॥ २१२ ॥

हसितः सुरैः क्रुद्धः खरशीर्षं भक्षितुं प्रवृत्तः सः।
शकरकरखण्डितशिरः विरहोपलिप्तो निवृत्तश्च ॥ २१२ ॥

अर्थ– ब्रह्मा की इस कामासक्ति को देखकर देवलोग सब हसनें लगे तब ब्रह्मानें क्रोधित होकर अपने गर्व वाले मुख से उन देवों को भक्षण करनेंका उद्यम किया। यह देखकर देव लोग सब महादेव की शरण मे गये तब महादेव नें अपने हाथ से उस ब्रम्हा का ऊपर का गर्वका मस्तक काट डाला। इस प्रकार जब उस ब्रम्हाका ऊपर का मस्तक कट गया तब वह ब्रम्हा उस तिलोत्तमा के विरह से संतप्त होकर पीछे लौट आया।

पविसेवि णिज्जणांवणं पिच्छिरिछी विरहगओ तत्थ।
सेवइ कामासत्तो तिलोत्तमा चिंति घरिऊणं ॥ २१३ ॥

प्रविश्य निर्जनवनं दृष्ट्वा ऋक्षीं विरहगतः तत्र।
सेवते कामासक्तः तिलोत्तमां चेतसि धृत्वा ॥ २१३ ॥

अर्थ– तदनंतर वह ब्रम्हा तिलोत्तमा के विरह से संतप्त होकर एक निर्जन वनमें चला गया। यहां पर उसने एक रीछिनी देखी। और उस रीछिनी को अपने मनमें तिलोत्तमा मानकर कामदेव के वशीभूत होकर उस रीछिनी के साथ संभोग करनें लगा।

तस्सुप्पण्णो पुत्तो जंबउ णामेण लोय विक्खाओ।
रिच्छापई जाओ भिच्चो सो रामदेवस्स ॥ २१४ ॥

तस्योत्पन्नः पुत्रः जम्बूः नाम्ना लोक विख्यातः।
ऋक्षाणां पतिः जातः भृत्यः स रामदेवस्य ॥ २१४ ॥

अर्थ– जब ब्रम्हानें उस रीछिनी के साथ संभोग किया तब उस रीछिनी से एक पुत्र हुआ उसका नाम जंबू था। जो जंबू के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। वह जंबू समस्त रीछों का अधिपति था और रामचंद्रका सेवक था।

जो कुणइ जयमसेसं सो किं एक्का वि तारिसी महिला।
सक्कइ ण विरइऊणं सेवइ णिग्घिणो रिच्छी ॥ २१५ ॥

यः करोति जगदशेषं स किं एका मपितादृशीं महिलाम्।
शक्नोति न विरचयितुं किं सेवते निर्घृणा ऋक्षीम् ॥ २१५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ– आचार्य कहते है कि देखो जो ब्रम्हा समस्त जगत को उत्पन्न कर सकता है वह क्या एक तिलोत्तमा ऐसी स्त्री नहीं बना सकता था। फिर क्यों उसने अत्यंत घृणित रीछिनी का सेवन किया ?

जो तिलोत्तम जो तिलोत्तम णियवि णच्चंति,
वम्मह सरजरजरिउ चत्तणियमु चउवयणु जायउ ।
वणि णिवसइ परिभट्ठतउ रमइ रिच्छि सुरयाण रायउ ॥

सो बिरंचि कह संभवइ तयलोयउ कत्तारु ।
जो अप्पाण उत्तरइ फेडउ विरह वियारु ॥ २१६ ॥

यः तिलोत्तमां या तिलोत्तमां दृष्ट्वा नृत्यन्तीम् ।
ब्रम्हा स्मर जर्जरितः त्यक्त नियमः चतुर्वदनः जातः

वने निवसति परिभ्रष्टतपाः रमते ऋक्षीं सुराणां राजा ।
स विरंचिः कथं संभवति त्रिलोकस्य कर्ता ।
यः आत्मानं न हि तारयति स्फोटयति विरहविकारम् । २१६ ।

अर्थ– जो ब्रह्मा नृत्य करती हुई तिलोत्तमा को देखकर कामदेव के वशीभूत होकर जर्जरित होगया था। उसने अपने सब नियम व तपश्चरणों को त्याग कर दिया था और उस तिलोत्तमा मे आसक्त होकर अपने चार मुख बना लिये थे अपने तपश्चरण से भ्रष्ट होकर तथा बनमें जाकर रीछिनी से संभोग करने लगा था वह ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाला कैसे कहा जा सकता है। जो ब्रह्मा अपने आत्मा का भी उद्धार नहीं कर सकता और इस प्रकार विरह अवस्था को प्रगट करता है यह ब्रम्हा कभी देव नहीं हो सकता।

आगे और भी दिखलाते है।

णत्थि धरा आपासं पवणाणल तोय जोय ससि सूरा ।
जइ तो कत्थ ठिदेणं बंभो रइयं तिलो ओत्ति ॥ २१७ ॥

न सन्ति धरा आकाशं पवनानल तोय ज्योतिः शशिसूर्याः ।
यदि तर्हि कुत्र स्थितेन ब्रम्हणा रचितः त्रिलोक इति । २१७ ।

अर्थ– यदि ब्रम्हाने इन तीनों को बनाया तो उसके पहले न पृथ्वी

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

थी, न आकाश था, न वायु थी, अग्नि थी, न जल था, न प्रकाश था न चंद्रमा था न सूर्य था तो फिर यह भी तो बतलाना चाहिये कि उस ब्रम्हा ने कहां बैठकर यह तीनों लोक बनाये ।

कत्तित्तं पुण दुविहं वत्थुअ कत्तित्त तह य विक्किरियं ।
घडपड गिहाइं पढमं विक्किरियं देवया रइयं ॥ २१८ ॥

कर्तृत्वं पुनः द्विविध वस्तुनः कर्तृत्वं तथाच वैक्रियिकम् ।
घट पट गृहादि प्रथमं वैक्रियिकं देवता रचितम् ॥ २१८ ॥

अर्थ– कर्तापन दो प्रकार है एक तो यथार्थ कर्नापन और दूसरा वैक्रियिक । घट पट घर को बनाना यथार्थ कर्तापन है और जो देवों के द्वारा बनाया जाता है वह वैक्रियिक कहलाता है ।

जइ तो वत्थब्भूओ रइओ लोओ विरंचिणा तिविहो ।
तो तस्स कारणाइं कत्थुव लद्धाइं दव्वाइं ॥ २१९ ॥

यदि स वस्तुभूतो रचितो लोको विरंचिना त्रिविधः ।
तर्हि तस्य कारणानि कुत्र लब्धानि द्रव्याणि ॥ २१९ ॥

अर्थ– यदि उस ब्रम्हा ने यथार्थ रूप से तीनों लोकों को बनाया है तो यह बताना चाहिये कि ब्रम्हा ने तीनों लोकों को बनाने के कारण भूत द्रव्य कहां से प्राप्त किये । भावार्थ– जिस प्रकार घर बनाने के लिये ईंट, चूना, राज आदि कारण सामग्री की आवश्यकता होती है, तब घर बन सकता है उसी प्रकार तीनों लोक बनाने के लिये सब सामग्री कहां थी । क्योंकि बिना सामग्री के तो लोक बन ही नहीं सकता था ।

जइ विक्किरिओ रइओ विज्जाथामेण तेणबंभेण ।
कइ थाइ दीहकालं अवत्थुभूओ अणिज्चेत्ति ॥ २२० ॥

अथ विक्रिया रचितो विद्यास्थाम्ना तेन ब्रम्हणा ।
कथं तिष्ठति दीर्घकालं अवस्तुभूतोऽनित्य इति ॥ २२० ॥

अर्थ– यदि उस ब्रम्हा ने अपनी विद्या से वैक्रियिक रूप तीनों

लोक बनाया है तो वह तीनो लोक अधिक कालतक नहीं ठहर सकता। क्योंकि जो पदार्थ विक्रिया से बने हुए होते है वे अवस्तु भूत होते है और अनित्य होते है इसलिये वे अधिक काल तक कभी नहीं ठहर सकते।

तम्हा ण होइ कत्तवंभो सिरछेय विनडण पत्तो।
छलिओ तिलोत्तमाए सामण्पुरि सुव्व असमत्थो ॥ २२१ ॥

तस्मान्न भवति कर्ता ब्रह्मा शिरश्छेदविनटनं प्राप्तः।
छलितस्तिलोत्तमया सामान्य पुरुष इवा समर्थः २२१ ॥

अर्थ– इसलिये कहना चाहिये कि इस लोक का कर्ता ब्रह्मा कभी नहीं हो सकता। भला विचार करने की बात है कि जिसका मस्तक छेदा गया जिसको तिलोमत्ता ने ठग लिया ऐसा वह ब्रह्मा सामान्य पुरुष के समान तीनों लोकों के बनाने में असमर्थ है। जिस प्रकार सामान्य पुरुष बिना सामग्री आदि के कोई कार्य नहीं कर सकता।

जो पर महिलो कज्जे छंडइ वहुत्तणं तओ णियमं॥
सण हवइ परमप्पा कह देवो हवइ पुज्जो य ॥ २२२ ॥

यः पर महिला कार्येण यजति बृहत्त्वं तपो नियमम्।
स न भवति परमात्मा कथं देवो भवति पूज्यश्च ॥ २२२ ॥

अर्थ– विचार करने की बात है कि जिस ने एक पर स्त्री के लिय अपना बडप्पन छोड दिया, अपना तपश्चरण छोड दिया, और अपने सब नियम छोड दिये वह परमात्मा कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता तथा जब वह परमात्मा ही नहीं हो सकता है तब वह पूज्य देव भी किस प्रकार हो सकता है, अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

सुपरिक्खिऊण तम्हा सुगवेसह को वि परम वंभाणो।
दह अट्ठदोस रहिओ वीयराओ परणाणि ॥ २२३ ॥

सुपरीक्ष्य तस्मात् सुगवेषय कमपि परम ब्रह्माणम्।
दशाष्टदोष रहितं वीतरागं परं ज्ञानिन् ॥ २२३ ॥

अर्थ– इसलिये अच्छी तरह परीक्षा कर किसी ऐसे परमब्रह्म ब्रम्हा को ढूंढना चाहिये कि जो अठारह दोषों से रहित हो, वीतराग हो और सर्वोत्कृष्ट ज्ञानीसर्वज्ञ हो।

भावार्थ– जो वीतराग सर्वज्ञ हो और अठारह दोषों से रहित हो वही ब्रम्हा या परमात्मा हो सकता है।

इस प्रकार इन लोगों के मानें हुए ब्रम्हा का निराकरण कर यथार्थ ब्रम्हा का स्वरुप बतलाया।

अब आगे कृष्ण के विषयों मे कहते हैं।

किण्हो जइ धरइ जयं सूवरूरवेण दाढअग्गेण।
तासो कहिं ठवइ पए कुम्मे कुम्मो वि कहिं ठाई॥ २२४॥

कृष्णो यदि धारयति जगत् शूकररूपेण दंष्ट्राग्रेण।
तर्हि स कुत्र तिष्ठति पदे कूर्मे कूर्मोपि कुत्र तिष्ठति॥ २२४॥

अर्थ– यदि कृष्ण इन तीन लोंको का धारण करते है तथा सूअर का रुप धारण कर अपनीं दाढ के अग्रभाग पर रखकर इस जगत को उठाये हुए है तो फिर बताना चाहिये कि वे सूअर का रुप धारण किये हुए कृष्ण स्वयं कहां ठहरे हुए है? यदि कहो कि वे कछवाके ऊपर ठहरे हुए है तो फिर यह बताना चाहिये कि वह कच्छप कहां ठहरा हुआ है।

अह छुहिऊण तउअरो तिजयं पालेइ महुमहो णिच्चं।
किं सो तिजय वहित्थो तिजयवहित्थेण किं जाओ॥ २२५॥

अथ स्पर्शित्वशूकरं त्रिगगत् पालयति मधुमद : नित्यम्।
किं स त्रिजगद्बहिस्थः त्रिजगद्बहिःस्थेन किं जातम्॥ २२५॥

अर्थ– यदि कृष्ण उस सूअर को छूकर सदाकाल इस तीनों लोकों का पालन करता है तो क्या वह कृष्ण तीनों लोकों से बाहर है? अथवा क्या वह तीनों लोक तीनों लोकों के बाहर बनाया गया है?

जइ या दहरइ पुत्तो रामो णिवसेइ दंडरइणम्मि।
लंकाहि वेण छलिओ हरिया भज्जा पवंचेण॥ २२६॥

यत्र च दशरथ पुत्रो रामो निवसति दण्डकारण्ये ।
लंकाधि पतिना छलितः हृता भार्या प्रपंचेन ॥ २२६ ॥

अर्थ– और भी देखो राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जब दंड-कारण्य (दंडकवन) में निवास करते थे तब लंकाके अधिपति रावण ने अपनी मायाचारी कर रामचन्द्र को ठग लिया था और उनकी स्त्री सीता को हर ले गया था ।

विरहेण रुवइ विलवइ पडेइ उट्ठ इ णियइ सोएह ।
णउ पुणइ केन णाया पुच्छइ वणसावया मूढो ॥ २२७ ॥

विरहेण रोदिति विलपति पतति उत्तिष्ठति पश्यति स्वपिति ।
नहि मनुते तेन ज्ञातः पृच्छति वनशावकान् मूढः ॥ २२७ ॥

अर्थ– उस समय वे रामचन्द्र सीता के विरह से रोते थे, तडफते थे, गिर पडते थे फिर उठते थे, चारों ओर देखते थे, सोते थे, तथा ज्ञान रहित वे रामचंद्र वन के पशुओं के बच्चों से पूछते थे कि क्या तुमने कहीं सीता देखी है । इस प्रकार ईश्वर होकर भी रामचन्द्र को सीता की कुछ खबर नहीं थी ।

जइ उवरत्थं तिजयं ता सो किं तत्थ वाणरा रिच्छा ।
मेलाविऊण उवहि बंधहि सेलेहिं सेउत्ति ॥ २२८ ॥

यदि उपरि स्थितः त्रिजगतः तर्हि किं तत्र वानरान् ऋक्षान् ।
मेलापयित्वा उदधे बध्नाति शैलैः सेतुमिति ॥ २२८ ॥

अर्थ– यदि वे विष्णू वा रामचन्द्र तीनों जगत के ऊपर विराज-मान है सब के ईश्वर है तो फिर उन्होंने रीछ और बंदरों को इकट्ठा कर पत्थरों से समुद्रका पुल क्यों बनवाया था ?

किं पट्ठवेइ दूवं जंपइ किं सामभेयदंडाइं ।
अलहंतो किं जुज्जइ कोवं काऊण सत्थेहिं ॥ २२९ ॥

किं प्रस्थापयति दूतं जल्पति किं सामभेददण्डानि ।
अलभमानः किं युद्धति कोपं कृत्वा शस्त्रै ॥ २२९ ॥

अर्थ– इसके सिवाय उसने रावण के पास दूत क्यों भेजा ? साम दाम दंड भेद के अनुसार बातचीत क्यों की तथा इस प्रकार भी जब सीता नहीं मिली तो फिर क्रोध कर शस्त्रों के द्वारा रावण से क्यों लड़े।

किं दहवयणो सीया गहिऊण उवर वहिरे थक्को ।
जं हेलाइं ण तरइ रिउ हणिउं आणिउ भज्जा ॥ २३० ॥

किं दशवदनः सीतां गृहीत्वा उपरि बहिः स्थितः ।
तत् हेलया न शक्नोति रिपुं हत्वा आनेतुं भार्याम् ॥ २३० ॥

अर्थ– क्या सीता को लेकर रावण कहीं तीनों लोकों के बाहर जाकर ठहरा था जो ईश्वर और तीनों लोकों के पालन करने वाले होकर भी सहज रीति से रावण को न मार सका और अपनी स्त्री सीता को न ला सका।

जइ तिजयपालणत्थे संजाया तस्स एरिसी सत्ती ।
तो किं तिजयं दड्ढं हरेण सं पिच्छमाणस्स ॥ २३१ ॥

यदि त्रिजगत्पालनार्थे संजाता तस्यैतादृशी शक्तिः ।
तर्हि किं जगद्दग्धं हरेण संप्रेक्षमाणस्य ॥ २३१ ॥

अर्थ– यदि विष्णु भगवान में तीनों लोकों को पालन करनें की शक्ति है तो फिर उनके देखते देखते ही महादेव नें तीनों लोकों को क्यों जला डाला ?

जो ण जाणइ जो ण जाणइ हरिय णियभज्ज ।
पुच्छइ वणसावयइं अह मुणेइ आणउं ण सक्कइ ।
बंधेइ सायरु गिरिहिं पेसिऊण तहिं पवरभिच्चइं
तासु उवीर णारायणहो किम् तिहुवणु णिवसेइं ।
जो वारवइ विणासियहो रक्खहु णा हिं तरेइ ॥ २३२ ॥

यो न जानाति यो न जानाति हर्तारं निजभार्यायाः ।
पृच्छतिवनशावकान् अथ जानाति आनेतुं न शक्नोति ।
बध्नाति सागरं गिरिभिः प्रेषयित्वा तत्र प्रवर भृत्यान् ।
तस्योपरि नारायणस्य किं त्रिभुवनं निवसति ।
यो रिपुं विनाश्य रक्षितुं नहि शक्नोति ॥ २३२ ॥

अर्थ– जो रामचन्द्र ईश्वर होकर भी अपनी स्त्री को हरण करने वाले को भी नहीं जानते और वन में रहने वाले पशुओं के बच्चों से पूछते है तदनंतर यदि वे जान भी लेते है तो भी वे अपनी स्त्री को ला नही सकते। तथा पत्थरों से समुद्र का पुल बनवाते है और अनेक सेवकों को भजते है। क्या ऐसे नारायण के ऊपर ही यह तीनों लोक ठहरा हुआ है जो अपने शत्रु को भी नहीं मार सकते और अपनी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकते। नारायण भला तीनों लोकों की रक्षा कैसे कर सकते है। अर्थात् कभी नहीं कर सकते ।

जो देओ होऊणं माणुस मत्तेहिं पंडुपुत्तेहिं ।
सारइ वोलाइत्तो जुज्झे जेउं कओतेहिं ।। २३३ ।।

यो देवो भूत्वा मनुष्यमात्रैः पाण्डुपुत्रैः ।
सारथि कथयित्वा कथयित्वां युद्धे जेतुं कथितः तैः ।। २३३ ।।

अर्थ– जो नारायण ईश्वर होकर भी साधारण मनुष्य पांडवों के सारथी बने और इस प्रकार उन्होंने युद्ध मे पांडवों को जिताया ।

तम्हा ण होइ कत्ता किण्हो लोयस्स तविह भेयस्स ।
मरिऊण वार वारं दहावयारेहिं अवयरइ ।। २३४ ।।

तस्माद्न भवति कर्ता कृष्णो लोकस्य त्रिविधभेदस्य ।
मृत्वा पुनः पुनः दशावतारैः; अवतरति ।। २३४ ।।

अर्थ– इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि कृष्ण न तो तीनों लोकों के कर्ता है न उसके पालन करने वाले है। वे तो वार वार मर-कर अवतार धारण किया करते है तथा अनुक्रमसे दश अवतार धारण करते है ।

एवं मणंति केई असरीरो णिक्कलो हरी सिद्धो ।
अवयरइ यच्चलोए देसं गिण्हेइ इच्छाए ।। २३५ ।।

भो भो भुजंगतरुपल्लव लोलजिह्व, ।
बंधूकपुष्पदलसन्निभ लोहिताक्ष ।।

एवं भणन्ति केचित् अशरीरो निष्कलो हरिः सिद्धः ।
अवतरति मर्त्यलोके देहं गृह्णातीच्छया ॥ २३५ ॥

अर्थ– इस विषय में कोई कोई लोग यह कहते है कि विष्णु वा कृष्ण शरीर रहित है, सब दोषों से रहित है और सिद्ध है ऐसे वे कृष्ण मनुष्य लोक मे आकर अपनी इच्छानुसार शरीर को ग्रहण करते है ।

आगे इसी बातका निराकरण करते है ।

जइ तुप्पं णवणीयं णवणीयं पुणवि दोइजइ दुद्धं ।
तो सिद्धिगओ जीवो पुणरवि देहाइं गिण्हेइ ॥ २३६ ॥

यदि घृतं नवनीतं पुनरपि भवेद्यदि दुग्धम् ।
तर्हि सिद्धगतो जीवः पुनरपि देहादिकं गृह्णाति ॥ २३६ ॥

अर्थ– यदि घी बदल कर फिर भी मक्खन बन जाय और मक्खन बदल कर फिर दूध बनजाय तो समझना चाहिये कि सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए जीव भी फिरसे शरीर धारण कर सकते है ।

भावार्थ– जब समस्त कर्मों का नाश हो जाता है तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है तथा कर्मों के नाश होने पर उन कर्मों से बना हुआ शरीर भी नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में सिद्ध जीव फिर कभी भी शरीर धारण नहीं कर सकते । जिस दूधका दही बन गया वा घी मक्खन बन गया या घी मक्खन वा दही फिर कभी भी दूध नहीं

पृच्छामि ते पवनभोजिन् कोमलांगो, ।
काचित्त्वया शरदचन्द्र मुखी न दृष्टा ? ॥

अर्थ– रामचंद्र वन में किसी सर्प से पूछते है कि हे सर्प तुम्हारी चंचल जिह्वा वृक्ष के पत्ते के समान चंचल है। तुम्हारे लाल नेत्र बंधूक के पुष्प के दल के समान बहुत ही लाल है तथा तुम सदाकाल वायु का ही भक्षण करते रहते हो, ऐसे हे सर्प ! क्या तुमने शरद ऋतु के चंद्रमा के समान सुंदर मुख को धारण करने वाली और अत्यन्त कोमल शरीर धारण करने वाली ऐसी कोई स्त्री देखी है ?

रद्धो करो पुणरवि खित्ते खित्तो य होइ अंकूरो ।
जइ तो मोक्खं पत्ता जीवा पुण इंति संसारे ॥ २३७ ॥

रद्धः क्रूरः पुनरपि क्षेत्रे क्षिप्तश्च भवेदंकुरः ।
यदि तर्हि मोक्षं प्राप्ताः जीवाः पुनरायान्ति संसारे ॥ २३७ ॥

अर्थ– यदि रंधा हुआ धान्य खेत मे बोने से अंकुर वृक्ष रुप हो सकता है तो समझना चाहिये कि मोक्ष मे प्राप्त हुए जीव भी फिर संसार में आ सकते है ।

भावार्थ–जिस प्रकार रंधा हुआ धान्य खेत में बो देनें पर भी नहीं उगता उसी प्रकार मोक्ष मे प्राप्त हुए जीव फिर कभी भी संसार मे नहीं आ सकते ।

आगे और भी दिखलाते हैं ।

जइ णिक्कलो महप्पा विण्हू णिस्सेसकम्ममलचत्तो ।
किं कारण मप्पाणं संसारे पुणे वि पाडेइ ॥ २३८ ॥

यदि निष्कलो महात्मा विष्णुः निःशेषस्वकर्ममलच्युतः ।
किं कारणमात्मानं संसारे पुनरपि पातयति ॥ २३८ ॥

अर्थ– यदि वे विष्णु वास्तव मे शरीर रहित है महात्मा है और समस्त कर्ममल कलंक से रहित है तो फिर किस कारण से अपने आत्मा को फिर से ससार मे गिराते है वा संसार में परिभ्रमन कराते है ।

भावार्थ– संसार में तो दुःख ही दुःख है । रामचन्द्र भी संसारी थे इसीलिये उनको सीता के वियोग का दुःख सहना पडा । यदि विष्णु वास्तव मे सिद्ध है तो फिर कोई ऐसा कारण नहीं है कि वे दुःख भोगने के लिये फिर संसार में आवे । सिद्ध अवस्था में तो अनन्त सुख रहता है फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो अनंत सुख को छोडकर अनेक प्रकार के दुःखों से भरे हुए इस संसार में जन्म मरण धारण करता फिरे, अर्थात् कोई नहीं ।

अहवा जइ कलसहिओ लोयव्वावार विण्णणियचित्तो ।
तो संसारी णियमा परमप्पा हवइ ण हु विण्हू ॥ २३९ ॥

अथवा यदि कलासहितो लोकव्यापारदत्तनिजचित्तः ।
तर्हि संसारी नियमात् परमात्मा भवति न हि विष्णुः

अर्थ– अथवा यदि विष्णु वास्तव में शरीर सहित है और उनका चित्त लोक के व्यापार मे लगा रहता है तो फिर कहना चाहिये कि वह विष्णु नियम से संसारी है वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता ।

इय जाणिऊण णूणं णवणव दोसेहिं वज्जिओ विण्हू ।
सो अक्खइ परमप्पा अणंतणाणि अराई य ॥ २४० ॥

इति ज्ञात्वा नूनं नवनवदोषैं विवर्जितो विष्णुः ।
स कथ्यते परमात्मा अनन्तज्ञानी अरागी च ॥ २४० ॥

अर्थ– ये ऊपर लिखी सब बाते समझ कर कहना चाहिये कि जो विष्णु अठारह दोषों से रहित है अनंत ज्ञानी है और वीतराग है वही परमात्मा हो सकता है । इन गुणों के बिना कोई भी परमात्मा नहीं हो सकता ।

आगे महादेव के लिये कहते है ।

एवं भणंति केई रुद्दो संहरइ तिहुवणं सयलं ।
चित्तामित्तेण फुडं णर णायरतिरियसुरसहियं ॥ २४१ ॥

एवं भणन्ति केचित् रुद्रः संहरति त्रिभुवनं सकलम् ।
चिन्तामात्रेण स्फुटं नरनारकतिर्यक्सुरसहितम् ॥ २४१ ॥

अर्थ– कोई कोई लोग ऐसा कहते है कि महादेव मनुष्य तिर्यंच देव नारकी आदि समस्त जीवों सहित इन समस्त तीनों लोकों को चिंतवन करने मात्र से ही शरण भरमें सहार कर डालते है ।

भावार्थ– क्षण भर में समस्त जीवों का संहार कर डालते है ।

णट्ठे असेसलोए पच्छा सो कत्थ चिट्ठदे रुद्दो ।
इक्को तमंधयारो गोरी गंगा गया कत्थ ॥ २४२ ॥

नष्टेऽशेष लोके पश्चात्स कुत्र तिष्ठति रुद्रः ।
एकस्तमोंऽधकारः गौरी गंगा गता कुत्र ॥ २४२ ॥

अर्थ– जब महादेव समस्त लोक का संहार कर डालते है तो फिर समस्त लोक के नष्ट हो जानेपर वे महादेव स्वयं कहां ठहरते है ? फिर तो एक महा अंधकार ही रह जाता होगा तथा उस समय गौरी और गंगा कहां चली गई होगी । कुछ तो समझना चाहिये ।

जो डहइ एयगामं पावी लोएहिं वुच्चदे सो हु ।
जो पुण डहइ तिलोयं सो कह देवत्तणं पत्तो ॥ २४३ ॥

यो दहति एकग्रामं पापी लोकैरुच्यते स हि ।
यः पुनः दहति त्रिलोकं स कथं देवत्वं प्राप्तः ॥ २४३ ॥

अर्थ– इस संसार में जो कोई पुरुष किसी एक छोटे से गांव को भी जला देता है वह इस ससार म महा पापी कहलाता है । फिर भला जो तीनों लोकों को जला डालता है वह महादेव देव कैसे हो सकता है उसे तो महा पापीयों से भी बढकर महापापी समझना चाहिये ।

जो हणइ एय गाव विप्पो वा सोवि इत्थ लोएहिं ।
गो बम्हच्चयारी पभणिव्वइ पावकारी सो ॥ २४४ ॥

यः हन्ति एकां गा विप्रं वा सोपि अत्र लोकैः ॥
गोब्रह्महत्याकरो प्रभण्यते पापकारी सः ॥ २४४ ॥

अर्थ– देखो इस संसार में जो पुरूष किसी एक गाय को मार डालता है अथवा किसी एक ब्राह्मण को मार डालता है वह गाय की हत्या करनेवाला और ब्रह्महत्या करनेंवाला तो महापापी गिना जाता है

जो पुण गोणारि पमुहे वाले बुड्ढे असंखलोयत्थे ।
संहारेइ असेसं तस्सेव हि किं भणिस्सामो ॥ २४५ ॥

यः पुनः गोनारी प्रभुखान् बालान् वृद्धान् असंख्यलोकस्थान् ।
संहरति अशेषान् तमेवहि किं भणिष्यामः ॥ २४५ ॥

अर्थ– फिर भला जो महादेव देव कहलाकर भी असंख्यात लोकों मे रहनेवाले गाय स्त्रियां बालक वृद्ध आदि समस्त जीवों का संहार कर डालता है उसे क्या कहना चाहिये ? वह तो महा पापियों से भी बढकर महा पापी हो सकता है ।

आगे और भी कहते है ।

अहवा जइ भणइ इयं सो देवो तस्स ण हु पावं ।
तो बंम्ह सीसछेए बंभहच्चा कहं जाया ॥ २४६ ॥ ॥

अथवा यदि भणतीदं स देवः तस्य भवति नहि पापम् ।
तर्हि ब्रह्म शिरश्छेदे ब्रह्म हत्या कथं जाता ॥ २४६ ॥

अर्थ– यदि कदाचित् कोई यह कहे कि महादेव देव है सब से बड़ देव है इसलिये तीनों लोकों का नाश करने पर भी उनको हत्या का पाप नहीं लगता । परंतु ऐसा कहना भी सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि जब महादेवजी को इतनी प्रबल हत्या करने पर भी पाप नहीं लगता तो फिर जब उन्होंने ब्रह्मा के मस्तकपर का गधे का मस्तक काट डाला था उस समय उसको ब्रह्म हत्या का पाप कैसे लग गया था ?

भावार्थ– ब्रह्मा का मस्तक काटने पर महादेव को ब्रह्म हत्या का महापाप लगा था । तदनंतर–

किं हट्ट मुंडमाला कंधे परिवहइ धूल धूसरिओ ।
परिभमिओ तित्थाइं णरह कवालम्मि भुजंतो ॥ २४७ ॥

किं अस्थिमुंडमालां स्कंधे परिवहति धूलिधूतरितः ।
परिभ्रमित स्तीर्थानि नरस्य कपाले भुंजानः ॥ २४७ ॥

अर्थ– उस ब्रह्म हत्या के पाप को नाश करने के लिये उसने अपने गले में हड्डियों की माला और मुंडमाला डाली थी, अपना शरीर धूलि से धूसरित कर लिया था और मनुष्य के कपाल मे भोजन करता हुआ समस्त तीर्थों में परिभ्रमण करने लगा था ।

तह वि ण सा बंभहच्चा किट्टइ रुद्दस्स जामतागामे ।
वसिओ पलासणगामे ता विप्पो णियबलद्देण ॥ २४८ ॥

तथापि न सा ब्रह्महत्या स्फिटति रुद्रस्य यावत् ग्रामे ।
उषितः पलाश नाम्नि तत्र विप्रः निजबलत्वेन ॥ २४८ ॥

णिहओ सिंगेण मुओ बसहो सेओ वि कसणु संजाओ ।
वाणारसिं च पत्तो रुद्दोवि य तस्स मग्गेण ॥ २४९ ॥

निहतः शृंगेण मृतः वृषभः श्वेतः कृष्णः संजातः ।
वाणारसीं प्राप्तः रुद्रोपि च तस्य मार्गेण ॥ २४९ ॥

गंगाजलं पविट्ठा चत्ता ते दोवि बंभहच्चाए ।
रुद्दस्स करय लग्गो लहयं पडियं कवालोत्ति ॥ २५० ॥

गंगां जले प्रविष्टौ त्यक्तौ तौ द्वावपि ब्रह्महत्यया ।
न रुद्रस्य करे लग्नं तत्र पतितं कपाल भिति ॥ २५० ॥

अर्थ– इस प्रकार उस महादेवने अनेक तीर्थों मे परिभ्रमण किया तथापि उस महादेव की ब्रह्म हत्या छूट नहीं सकी थी । जब वह महादेव इस प्रकार परिभ्रमण करताहुआ पलाश नाम के एक गांव में पहुंचा तब उस गांव में उपवास किये हुए एक ब्राह्मण को उसी के एक बैल ने अपने सींगों मार डाला था । इस ब्रह्म हत्या के पाप से वह सफेद बैल उसी समय काला हो गया था । तदनंतर वह बैल अपना ब्रह्म हत्या का पाप दूर करने के लिये बनारस नगरी में पहुंचा । वह बैल भी पलाश गांव का था और वहीं पर महादेव पहुँच गया था । इसलिये उस कृत्य को देखकर महादेव भी उस बैल के पीछे पीछे बनारस मे जा पहुंचा था । बनारस जाकर उन दोनों ने गंगा जल में प्रवेश किया तब कहीं जाकर वे दोनों ही ब्रह्म हत्या से मुक्त हुए । तथा ब्रह्म हत्या के कारण महादेव के हाथ मे जो कपाल लग गया जो चिपक गया था वह भी उस समय गंगा जल मे गिर पडा ।

आगे आचार्य समझा कर कहते है ।

जस्स गुरू सुरहिसुओ गं तोएण फिट्टए हच्चा ।
सो देवो अण्णस्स य फेडइ कह संचियं पावं ॥ २५१ ॥

यस्य गुरुः सुरभिसुतः गंगातोयेन स्फिटयते हत्या ।
स देवोऽन्यस्य च स्फोडयति कथं संचितं पाप्म् ॥ २५१ ॥

अर्थ– आचार्य कहते है कि देखो जिस महादेव ने अपनी ब्रह्म हत्या दूर करने के लिये बैल को तो गुरु बनाया और गंगा के जल से उसकी ब्रह्म हत्या दूर हुई वह महादेव अन्य संसारी जीवों के चिर काल

से संचित हुए पापों को कैसे दूर कर सकते है ? अर्थात् कभी दूर नहीं कर सकते ।

आगे आचार्य इसी बात को और दिखलाते है ।

जो ण तरइ णियपावं गहियवओ अप्पणस्स फेडेउं ।
असमत्थो सो णूणं कत्तित्त विणासणे रुद्दो ॥ २५२ ॥

यो न शक्नोति निजपापं गृहीतव्रतः आत्मनः स्फोटयितुं ।
असमर्थः स नूनं कर्तृत्वविनाशने रुद्रः ॥ २५२ ॥

अर्थ– जो महादेव व्रतों को ग्रहण करके भी अपने आत्मा के भी अपने पापों का नाश नहीं कर सकता वह महादेव इस ब्रह्मा के बनाये हुए लोक का विनाश भी नहीं कर सकता ।

इसलिये निश्चित सिद्धांत यह है कि–

णो बंभा कुणइ जयं किण्हो ण धरेइ हरइ ण उ रुद्दो ।
एसो सहावसिद्धो णिच्चो दव्वेहिं संछण्णो ॥ २५३ ॥

न ब्रम्हा करोति जगत् कृष्णः न धरति हरति न च रुद्रः ।
एषः स्वभावसिद्धः नित्यः द्रव्यैः संछन्नः ॥ २५३ ॥

अर्थ– न तो इस जगत् को ब्रम्हाने बनाया है, न कृष्ण वा विष्णु इसको धारण करता है और न महादेव इसका संहार करते है । यह जगत् स्वभाव से ही सिद्ध है, अनादि है, और अनिधन है तथा जिवादिक द्रव्यों से भरा हुआ है ।

भमइ णग्गउ भमइ णग्गउ वसहि सुमसाणि ।
णर रुंडसिर मंडयउ णरकवालि भिक्खाइं भुंजेइ ।
सह कारिउ गउरियहिंदुक्खभारु अप्पहो णिउंज्जइ ।
जो बंभणेहं सिर कमले खुडिए न फेडइ दोसु ।
सो इसरू कह अवहरइ तिहुवणु करइ असेसु ॥ २५४ ॥

भ्रमति नगे भ्रमति नगे वसति श्मशाने ।
नररुण्डशिरोमण्डितः नरकपाले भिक्षां भुनक्ति ॥

सहकृतः गौरीभिः दुःखभरे आत्मानं नियुंक्ते ।
यो ब्रह्मणः शिरःकमले खण्डिते न स्फोटयति दोषम् ।
स ईश्वरः कथमपहरति त्रिभुवन करोति अशेषम् ॥ २५४ ॥

अर्थ– जो महादेव नग्न होकर पर्वतोंपर घूमता फिरता है श्मशान में रहता है, मनुष्यों के रुंड मुंडो से अपने मस्तक की शोभा वढाता है, मनुष्य के कपाल में भिक्षा भोजन करता है, पार्वती को सदा साथ रखता है, अपने आत्मा को सदाकाल अनेक दुःखो के समूह मे डालता रहता है, जिसने ब्रह्मा का मस्तक काट डाला और फिर उस हत्या से लगी हुई ब्रह्महत्या के महापाप को दूर नहीं कर सका वह महादेव भला ईश्वर कैसे हो सकता है और किस प्रकार इन समस्त तीनों लोकों का नाश कर सकता है । अर्थात् कभी नहीं कर सकता ।

उत्तरंतउ उत्तरंतउ पवर सुरसरिहिं ।
पारासुर चलिउ मणुमुएलज्जकेवह णदिणि ।
आलिंकिय तपहेउ वरिवास जाउ तावसुमहामुणि
भारउ पुणु हुउ दो वहिं केसग्गह पव्वेण ।
जिणु मल्लिवि के केण जंगिणिवडय चवल मणेण ॥ २५५ ॥

अर्थ– पराशर मुनि गंगा के पार होने के लिये गंगा नदी के किनारे पहुँचे वहां पर मल्लाह की लडकी नाव चला रही थी इसलिये वे पाराशर ऋषी उसी को आलिंगन करने लगे ।

अण्णाणि य रइयाइं एत्थ पुराणाइं अघडमाणाइं ।
सिद्धंतेहिं अजुत्तं पुव्वावरदोससंकिण्णं ॥ २५६ ॥

अन्यानि च रचितान्यत्र पुराणानि अघटमानानि ।
सिद्धांतैरयुक्तं पूर्वापरदोषसंकीर्णम् ॥ २५६ ॥

अर्थ– और भी ऐसे बहुत से पुराण बने हुए है जो कभी संभव नहीं हो सकते, तथा जो सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध है, और पूर्वापर अनेक दोषों से भरे हुए है ।

एए उत्ते देवो सव्वे सद्दहइ जो पुराणेहिं ।
अरिहंता परिचाए सम्मा मिच्छोत्ति णायव्वो ॥ २५७ ॥

एतानुक्तान् देवान् सर्वान् श्रद्दधाति यः पुराणैः ।
अर्हंतः परित्यज सम्यग्मिथ्यात्वं इति ज्ञातव्यम् ॥ २५७ ॥

अर्थ– जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञ भगवान अरहंत देवको छोडकर ऊपर लिखे इन समस्त देवों का श्रद्धान करता है तथा पुराणों में कहे हुए अन्य समस्त देवो का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्मिथ्या दृष्टी तीसरे गुण स्थान वाला समझना चाहिये ।

एसो सम्मामिच्छो परिहरियव्वो हवेइ णियमेण: ।
एत्तो अविरइ सम्मो कहिज्जमाणो णिसामेह ॥ २५८ ॥

एतत्सम्यग्मिथ्यात्वं परिहर्तव्यं भवति नियमेन ।
इतः अविरतसम्यक्त्वं कथयिष्यमाणं निशृणुत ॥ २५८ ॥

अर्थ– इस प्रकार जो तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टीं गुणस्थान का स्वरुप कहा है उसका सर्वथा त्याग नियम पूर्वक कर देना चाहिये । अब इसके आगे चौथे अविरत सम्यग्दृष्टीं नाम के गुणस्थान का स्वरुप कहते है, उसे सुनो ।

इस प्रकार तीसरे गुणस्थान का स्वरुप कहा ।

ब्रह्मा अल्पायुषोऽयं हरिर्विधि वशाद्गोपतिर्गर्भवासे,
चन्द्रा, क्षीणः प्रतापी भ्रमति दिनकरो देवमिथ्याभिमानी ।
कामः कायेनहीनश्चलयति पवनो विश्वकर्मा दरिद्री,
इन्द्राद्या दुःख पूर्णा। सुखनिधि सुभगः पातुनः पार्श्वनाथः ॥

अर्थ– ब्रह्मा का आयुष्य थोडा है, कर्मों के उदय स कृष्ण ग्वाल के यहां हुए, चन्द्रमा का प्रताप क्षीण, जो देव पने का मिथ्या अभिमान करता हुआ सदा परिभ्रमण किया करता है । कामदेव शरीर रहित है वायु की गति सदा चंचल रहती है, विश्वकर्मा दरिद्री कहलाता है और इन्द्रादिक देव सब दुःखो से भरे हुए है । अतएवं अनंत सुख से सुशोभित होनेवाले भगवान पार्श्वनाथ हम लोगों की सदा रक्षा करें ।

आगे अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के चौथे गुणस्थान का स्वरूप कहते है ।

हवइ चउत्थं ठाणं अविरइ सम्मेत्ति णामयं भणियं ।
तत्थहु खइओ भावो खय उवसमिओ समोवेव ॥ २५९ ॥

भवति चतुर्थं स्थानमविरतसम्यक्त्वमिति नामकं भणितत् ।
तत्रहि क्षायिको भावः क्षायोपशमिकः शमश्चैव ॥ २५९ ॥

अर्थ– चौथे गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टी है । इस गुणस्थान में क्षायिक भाव होते है, क्षायोपशमिक भाव होते है और औपशमिक भाव होते है ।

एए तिण्णि वि भावा दंसणमोहं पडुच्च भणिआ हु ।
चारित्तं णत्थि जदो अविरिय-अंतेसु ठाणेसु ॥ २६० ॥

एते त्रयोपि भावा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिता हि ।
चारित्रं नास्ति यतः अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ २६० ॥

अर्थ– इस गुणस्थान में जो तीनों प्रकार के भाव बतलाये है वे दर्शन मोहनीय के क्षय, क्षयोपशम और उपशम को लेकर बतलाये है । इसका भी कारण यह है कि पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक चारित्र का सर्वथा अभाव रहता है ।

भावार्थ– यद्यपि इस चौथे गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उदय है इसलिये चौथे गुणस्थान वाले औदयिक भाव भी कहे जा सकते है परंतु चौथे गुणस्थान तक चारित्र होता ही नहीं है इसलिये यहां पर चारित्र मोहनीय की अपेक्षा ही नहीं रक्खी है । दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व इस गुण गुणस्थान में होता है । इन्ही प्रकृतियों का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है और इन्ही प्रकृतियों का क्षयोपक्षम होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है । इस गुणस्थान में ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन हो सकते है इसलिये दर्शन मोहनीय के क्षय क्षयोपशम या उपशम की मुख्यता को लेकर तीनों

प्रकार के भाव बतलाये है। अनंतानुबंधी कषायों का क्षयोपशमादिक दर्शन मोहनीय के साथ हो जाता है परंतु चारित्र मोहनीय की शेष प्रकृतियों का उदय ही रहता है इसलिये इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की मुख्यता नहीं रक्खी है। केवल दर्शन मोहनीय की अपेक्षा से ही तीनों प्रकार के भाव बतलाये है।

आगे इस गुणस्थान का स्वरूप अथवा इस गुणस्थान मे रहने वाले जीवों के भाव बतलाते है:-

णो इंदिएसु विरओ णो जीवेथावरे तसे वावि।
जो सद्दहइ जिणुत्तं अविरद सम्मोत्ति णायव्वो ॥ २६१ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि।
यो श्रद्दधाति जिनोक्त अविरत सम्यक्त्वंइति ज्ञातव्यम्:।२६१।

अर्थ- इस गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो इन्द्रियों से विरक्त रहता है न त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करता है। वह भगवान जिनेंद्र देव के कहे हुए वचनों पर गाढ श्रद्धान करता है। इस प्रकार उसके यथार्थ देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान करने को अथवा जीवादिक तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान करने को चौथा अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान कहते है।

भावार्थ- यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टी जीव इंद्रियों से विरक्त नहीं होता और न त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करने का नियम लेता है तथापि सम्यग्दर्शन के प्रगट होने से उसके संवेग वैराग्य अनुकंपा आदि आगे लिखे हुए गुण प्रगट हो जाते है इसलिये त्याग न होने पर भी चित्त में वैराग्य उत्पन्न होने के कारण वह अभक्ष्य भक्षण नहीं करता और अनुकंपा होने के कारण जीवों की हिंसा नहीं करता। यदि वह अभक्ष्य भक्षण करता है और जीवों की हिंसा करता है तो उसके संवेग वैराग्य और अनुकंपा आदि गुण नहीं हो सकते। तथा विना इन गुणों के उसके सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। और विना सम्यग्दर्शन को यह चौथा गुणस्थान नहीं हो सकता। इसके सिवाय यह भी समझ लेना चाहिये कि अविरत सम्यग्दृष्टी पुरुष देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान

करता है भगवान अरहंत देव के कहे हुए वचनोंपर अर्थात् जैन शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास करता है। शास्त्रों में अभक्ष्य भक्षण का त्याग और हिंसा का निषेध लिखा ही है यदि वह शास्त्रों का श्रद्धान करता है तो भी वह अभक्ष्य भक्षण नहीं कर सकता तथा जीवों की हिंसा नहीं कर सकता।

वर्तमान समय में बहुत से विद्वान् वा विद्वान् त्यागी शास्त्रों के विरुद्ध उपदेश देते है, अयोग्यों को जिन मंदिर में जाने का उपदेश देते है, मुनि होकर भी दस्साओं के यहाँ आहार लेते है शास्त्रों मे कही हुई भगवान् जिनेंद्रदेव की पूजा की विधि का निषेध करते है अपनी इच्छानुसार ही शास्त्रों में कही हुई पूजा की विधि के प्रतिकुल मन मानी विधि का प्रतिपादन करते है, वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था को मानते नहीं, वर्णसंकर वा जातिसंकर अथवा वीर्यसंकर संतान उत्पन्न करनें का उपदेश देते है वे सर्वासम्यग्दृष्टी नहीं कहला सकते, क्योंकि वे भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचनोंपर श्रद्धान नहीं करते किंतु उसके विपरीत श्रद्धान करते है।

आगे फिर भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते है।

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणो सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥ २६२॥

हिंसा रहिते धर्मे अष्टादश दोषवर्जिते देवे।
निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम्॥ २६२॥

अर्थ– धर्म वही है जो हिंसा से सर्वथा रहित हो, देव वही है जो अठारह दोषों से रहित हो, और गुरू वा मुनि वे ही है जो वाह्य अभ्यंतर परिग्रहों से रहित सर्वथा निर्ग्रन्थ हो। इस प्रकार देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आगे सम्यग्दर्शन के गुण कहते है।

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहाइं उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अनुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते॥ २६३॥

संवेगो निर्वेगो निंदा गहो उपशमो भक्तिः
वात्सल्यं अनुकंपा अष्टौ गुणा भवन्ति सम्यक्त्वे ॥ २६३ ॥

अर्थ– संवेग निर्वेद निंदा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य अनुकंपा ये सम्यग्दर्शन के आठ गुण होते है। संसार के दुःखों से भयभीत होने तथा धर्म मे अनुराग होना संवेग है, संसार शरीर और भोगों से विरक्तता धारण करना निर्वेद है, अपने किये हुए पापों की निंदा अपने आप करना निंदा है, गुरु के समीप जाकर अपने दोषों का निराकरण करना गर्हा है। क्रोधादिक पच्चीसों कषायों का त्याग करना उपशम है, दर्शन ज्ञान चारित्र और तप का वा इनको धारण करनेवालों का विनय करना भक्ति है, व्रतों के धारण करने में अनुराग धारण करना वा व्रतियों में अनुराग धारण करना वात्सल्य है, त्रस स्थावर इन छहों प्रकार के जीवों की रक्षा करना उनपर दया धारण करना अनुकंपा है। सम्यग्दर्शन के ये आठ गुण कहलाते है। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर ये आठ गुण अवश्य प्रगट हो जाते है। जिसके ये गुण प्रगट न हो, समझना चाहिये उसके सम्यग्दर्शन भी नहीं है।

आगे सम्यग्दर्शन के भेद बतलाते है।

दुविहं त्तं पुण भणियं अहवा तिविहं कहंति आयरिया।
अण्णाय अधिगमे वा सद्दहणं जं पयत्थाणं ॥ २६४ ॥

द्विविधं तत्पुनः भणितं अथवा त्रिविधं कथयन्त्याचार्याः।
आज्ञया अधिगमेन वा श्रद्धानं यत् पदार्थानाम् ॥ २६४ ॥

अर्थ– आचार्यों ने उस सम्यग्दर्शन के दो भेद बतलाये है अथवा तीन भेद बतलाये है। भगवान जिनेंद्र देव के कहे हुए पदार्थों का जो श्रद्धान भगवान की आज्ञा प्रमाण कर लिया जाता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते है और किसी के उपदेश द्वारा जो पदार्थों का श्रद्धान किया जाता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है। इसके सिवाय सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज ये भी दो भेद है। जो सम्यग्दर्शन बिना किसी उपदेश के प्रगट हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते है और जो सम्यग्दर्शन किसी के उपदेश से प्रगट होता है उसको अधिगमज कहते है। इस प्रकार निमित्त कारण के भेद से दो

भेद हो जाते है।

आगे सम्यग्दर्शन के तीन भेद दिखलाते है।

[illegible] य सइयं [illegible] मयप्पमत्तपुणु च उद्दिट्ठं।
अविरइ विरयाण पि य विरयाविरयाण ते हुंति ॥ २६५ ॥

क्षयोपशमं च क्षायिकं उपशमं सम्यक्त्वं पुनश्चोद्दिष्टम्।
अविरतानां विरतानामपि च विरताविरतानां तानि भवन्ति ।२६५

अर्थ– क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन के भेद है। ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन अविरत सम्यग्दृष्टी विरताविरत और विरत इन सबके होते है।

आगे सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रकट होता है, सो दिखलाते है।

कोह चउक्कं पढमं अणंत बंधीणिणामयं भणियं।
सम्मतं मिच्छत्तं सम्मा मिच्छत्तयं तिण्णि ॥ २६६ ॥

क्रोधचतुष्कं प्रथमं अनन्तानुबन्धिनामकं भणितम्।
सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं त्रीणि ॥ २६६ ॥

एएसि सत्तएहं उवसम करणेण उवसमं भणियं।
खयओ खइयं जायं अचलत्तं णिम्मलं सुद्धं ॥ २६७ ॥

एतेषां सप्तनामुपशमकरणेन उपशमं भणितम्।
क्षयतः क्षायिकं जातं अचलत्वं निर्मलं शुद्धम् ॥ २६७ ॥

अर्थ– अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ ये चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियां तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियां ये सात प्रकृतियां सम्यग्दर्शन को घात करने वाली है। इन सातों प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन होता है तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों के अत्यंत क्षय होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन अचल है अर्थात् फिर कभी नष्ट नहीं होता सदा अनंतानंत कालतक विद्यमान रहता है तथा अत्यंत निर्मल है और अत्यंत शुद्ध है।

आगे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को कहते है।

उदयाभाओ जत्थ य पयडीणं ताण सव्ववादीणं।
छण्णाण उवसमो विय उदओ सम्मत्त पयडीए ॥ २६८ ॥

उदयाभावो यत्र च प्रकृतीनां तासां सर्वघातिनीनाम्।
षण्णां उपशमोपि च उदयः सम्यक्त्व प्रकृतेः ॥ २६८ ॥

खय उवसमं पउत्तं सम्मत्तं परम वीयराएहिं।
उवसमिय पंक सरिसं णिच्चं कम्मक्खवण हेउं ॥ २६९ ॥

क्षयोपशमं प्रोक्तं सम्यक्त्वं परम वीतरागैः।
उपशात पंक सदृशं नित्यं कर्म क्षपण हेतुः ॥ २६९ ॥

अर्थ– सम्यग्दर्शन को घात करने वाली सात प्रकृतियां जो ऊपर बतलाई है उन में से अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नाम की एक प्रकृति देश घाती है। ऊपर लिखी छह प्रकृतियां सम्यग्दर्शन को घात करने वाली है इसलिये वे सर्वघाती कहलाती है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नामकी प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात नहीं करती किंतु उसमे चल मलिन और अगाढ इन दोषों को उत्पन्न कर देती है। परिणामों मे चंचलता होने को चल दोष कहते है, मलिनता होने को मलिन कहते है और अत्यंतगाढ श्रद्धान नहीं होना अगाढ दोष है। जब ऊपर लिखी हुई सर्वघाती छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय हो जाता है अर्थात् छहों प्रकृतियों का उदय नहीं रहता तथा आगे उदय होने वाली इन्हीं छह प्रकृतियों के उपशम होने से और देश घाती सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा भगवान वीतराग सर्वज्ञ देवने कहा है। जिस प्रकार किसी बर्तन मे मिट्टी मिला पानी रक्खा हो तथा उसमे फिटकरी डाल दी जाय तो उसकी मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार जिस जीव के ऊपर लिखी हुई सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाता है उसके औपशमिक सम्यग्दर्शन हो जाता है परन्तु जिस प्रकार हवा चलने पर वह निर्मल पानी फिर गदला हो जाता है उसी

प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अनंतर ही उन सातों प्रकृतियों का उदय हो जाता है और वह औपशमिक सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जिस बर्तन का पानी निर्मल होगया है मिट्टी पूर्ण रूप से नीचे बैठ गई है उसका पानी यदि किसी दूसरे बर्तन मे लेलिया जाय तो उस निर्मल पानी में थोडा सा भी गदलापन नहीं रहता वह पानी पूर्ण रूप से निर्मल हो जाता है इसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन पूर्ण रूप से निर्मल होता है। उसमें फिर कभी भी गदलापन वा अशुद्धता नहीं आती। जिस गंदले पानी की अधिकतर मिट्टी नीचे बैठ गई है और थोडासा गदलापन उस पानी में रहगया है उसी पानी को दूसरे बर्तन मे लेलिया जाय तो उसमें थोडा गदलापन रहताही है इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल और शुद्ध नहीं होता किंतु उसमें चल मलिन अगाढ दोष रहते है। सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से ये दोष हो जाते है। तथापि इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रगट हो जानेपर सदाकाल कर्मों का क्षय होता ही रहता है। अन्य सम्यग्दर्शनों के समान यह सम्यग्दर्शन भी कर्मों के क्षय होने का कारण है।

आगे जो इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को नहीं मानता वह अज्ञानी है ऐसा दिखलाते है।

जो ण हि मण्णइ एयं खय उवसम भावजो य सम्मत्तं।
सो अण्णाणी मूढो तेण ण णायं समयसारं ॥ २७० ॥

यो नहि मन्यते एतत् क्षयोपशम भावजं च सम्यक्त्वम्।
स अज्ञानी मढस्तेन न ज्ञातं समयसारम् ॥ २७० ॥

जम्हा पंच पहाणा भावा अत्थित्ति सुत्त णिद्दिट्ठा।
तम्हा खय उवसमिए भावे जायं तु तं जाणे ॥ २७१ ॥

यस्मात्पंच प्रधाना भावाः सन्तीति सूत्र निर्दिष्टाः।
तस्मात्क्षयोपशमेन भावेन जातं तु तत् ज्ञातव्यम् ॥ २७१ ॥

अर्थ– जो पुरुष इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होने वाले परिणामों को नही मानता, समझना चाहिये कि वह अज्ञानी और मूर्ख है, तथा वह पुरुष आत्मा के स्वरूप को भी नही जानता। इस का

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भी कारण यह है कि सिद्धांत सूत्रों में अथवा उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र में वा उसकी समस्त टीकाओं में जीवो के प्रधान भाव पांच प्रकार के वतलाये है। औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पांच भाव वतलाये है। इसलिये क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के विना पांचों भावों की पूर्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये क्षायोपशमिक भाव और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन मानना अत्यावश्यक है।

आगे सम्यग्दर्शन का स्वरूप वतलाते है।

तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सद्दहणं।
परमप्पह कहियाणं परतप्पा दोसपरिचित्तो ॥ २७२ ॥

तत्सम्यक्त्वमुक्तं यत्र पदार्थानां भवति श्रद्धानम्।
परमात्म कथितानां परमात्मा दोष परित्यक्तः ॥ २७२ ॥

अर्थ– परम परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ देव श्रीजिनेंद्र देव है उनके कहे हुए समस्त तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह परमात्मा वा श्रीजिनेंद्रदेव समस्त दोषों से रहित ही होते है।

दोसा छुहाइ भणिया अट्ठारस होंति तिविह लोयम्मि।
सामाण्णा सयल जणे तेसि अहावेण परमप्पा ॥ २७३ ॥

दोषा क्षुधादयो भणिता अष्टादश भवन्ति त्रिविधलोके।
सामान्या सकलजने तेषामभावेन परमात्मा ॥ २७३ ॥

ये कहे हुए क्षुधादिक अठारह दोष सामान्य रीति से तीनो लोकों के समस्त जीवों में रहते है। जब इन समस्त दोषों का नाश हो जाता है तभी यह जीव परमात्मा हो सकता है।

भावार्थ- परमात्मा वही हो सकता है जो वीतराग और सर्वज्ञ हो। तथा वीतराग वही हो सकता है जो अठारह दोषों से रहित हो और विना वीतराग हुए सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिये जो अठारह दोषों से रहित होता है वही परमात्मा होता है।

आगे परमात्मा के भेद वतलाते है।

सो पुण दुविहो भणिओ सयलो तह णिक्कलोत्ति णायव्वो ।
सयलो अरुह सरूवो सिद्धो पुण णिक्कलो भणिओ ॥ २७४ ॥

स एषः द्विविधः भणितः सकलः तथा निष्कलः ज्ञातव्यः ।
सकलः अर्हत्स्वरूपः सिद्धः पुनः निष्कलः भणितः ॥ २७४ ॥

अर्थ– वह परमात्मा दो प्रकार का है । एक सकल परमात्मा और दूसरा निकल परमात्मा । यहा पर कल शद्व का अर्थ शरीर है जो शरीर सहित हो ऐसे अरहंत भगवान को सकल परमात्मा कहते है तथा शरीर रहित सिद्ध भगवान को निकल परमात्मा कहते है ।

जस्स ण गोरी गंगा कावालं णेव विसहरो कंठे ।
ण य दप्पो कंदप्पो सो अरुहो भण्णए रुद्दो ॥ २७५ ॥

यस्य न गौरी गंगा कपालं नैव विषधरः कण्ठे ।
न च दर्पः कंदर्पः सोर्हन् भण्यते रुद्रः ॥ २७५ ॥

अर्थ– जिसने साथ न गौरी गंगा पार्वती है न गग्डा है न हाथ मे कपाल है न कण्ठ में सर्प है न जिनको अभिमान है और न जो कामासक्त है ऐसे भगवान अरहंत देव को ही महादेव कहना चाहिये ।

जस्स ण गया ण चक्कं णो संखो णेय गोविसंघाओ ।
णवयरइ दहवयारे सो अरुहो भण्णए विण्हू ॥ २७६ ॥

सस्य न गदा न चक्रं न शंखः नैव गोपीसंघातः ।
नावतरति दशावतारे सोऽर्हन् भण्यते विष्णुः ॥ २७६ ॥

अर्थ– जिनके हाथ में न गदा है, न चक्र है, न शंख है, न जिनके साथ अनेक गोपियों क समुदाय है और न जो दश अवतार लेते है ऐसे भगवान अरहंत देव को ही विष्णु समझना चाहिये ।

ण तिलोत्तमाय छलिओ णय वयभहो ण चउमुहो जादो ।
ण य रिच्छीए रत्तो सो अरुहो वुच्चए बंभो ॥

न तिलोत्तमया छलितः न च व्रतभ्रष्टो न चतुर्मुखो जातः ।
न ऋक्ष्यां रक्तः सोऽर्हन् उच्यते ब्रह्मा ॥ २७७ ॥

अर्थ– जो भगवान न तो तिलोत्तमा के द्वारा ठगे जाते है न अपने तपश्चरण से कभी भ्रष्ट होते है न कामसक्त होकर चार मुख बनाते है और न रोहिनी के साथ कामासक्त होते है ऐसे वे अरहंत देव ही ब्रह्मा कहलाते है।

भावार्थ– भगवान अरहंत देव ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहलाते है वे भगवान मोक्ष मार्ग का उपदेश देते है इसलिये ब्रह्मा कहलाते है अपने केवल ज्ञान के द्वारा लोक अलोक सबमें व्याप्त रहते है अपने ज्ञान के द्वारा सबको जानते है इसलिये विष्णु कहलाते है और वे सर्वोत्कृष्ट देव है इन्द्रादिक देव भी आकर उनको नमस्कार करते है इसलिये वे महादेव कहलाते है। अरहंत देव के सिवाय और कोई भी ब्रह्मा विष्णु महादेव नहीं है।

आगे अरहंत देव के कहे हुए पदार्थों को कहते है।

तेणुत्त णवपयत्था अण्णे पंचत्थिकाय छद्दव्वा।
आणाए अधिगमेण य सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २७८ ॥

तेनोक्तनव पदार्थान् अन्यानि पंचास्तिकायषड्द्रव्याणि।
आज्ञयाधिगमेन च श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम् ॥ २७८ ॥

अर्थ– भगवान जिनेंद्र देव ने नौ पदार्थ बतलाये है पांच अस्तिकाय बतलाये है और छह द्रव्य बतलाये है इन समस्त पदार्थों को जो भगवान की आज्ञा प्रमाण श्रद्धान करता है अथवा इन सबका स्वरूप जानकर श्रद्धान करता है उस श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ– ये सब पदार्थ भगवान जिनेंद्र देव ने कहे है। तथा इनका स्वरूप भी भगवान जिनेंद्र देव ने कहा है भगवान जिनेंद्र देव वीतराग सर्वज्ञ है। जो वीतराग सर्वज्ञ होता है वह कभी मिथ्या उपदेश नही देता। इस प्रकार भगवान की आज्ञा प्रमाण जो तत्वों का श्रद्धान करता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते है तथा तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर श्रद्धान करता है वह अधिगम सम्यक्त्व है।

आगे सम्यग्दर्शन का और भी स्वरूप कहते हैं।

संकाइदोसरहियं णिस्संकाईगुणज्जुअं परमं ।
कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥
शंकादि दोषरहितं निःशंकादिगुणयुतं परमम् ।
कर्मनिर्जराहेतु तच्छुद्धं भवति सम्यक्त्वम् ॥ २७९ ॥

अर्थ - जो सम्यग्दर्शन शंका आदि आठ दोषों से रहित होता है और निःशंकित आदि आठ गुणों से सुशोभित होता है उसको परम शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते है । ऐसा परम शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मों की निर्जरा का कारण होता है ।

भावार्थ– शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ दृष्टि, अनुपगूहन अस्थिति करण अवात्सल्य और अप्रवभाना ये आठ दोष है तथा इनके विपरीत वा इनका त्याग करने से निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण प्रगट होते है । भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मोक्ष मार्ग में वा देव गुरु शास्त्र के स्वरूप में वा तत्त्वों मे " यह सत्य है वा नहीं " इस प्रकार की शंका करना दोष है । तथा ऐसी शंका कभी नहीं करना उस पर अटल श्रद्धान रखना निःशंकित गुण है इसको निःशंकित अंग कहते हे । धर्म सेवन कर वा भगवान की पूजा कर वा दान देकर किसी प्रकार की इच्छा करना आकांक्षा दोष है तथा ऐसी आकांक्षा न करना निःकांक्षित गुण है । किसी मुनि के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा दोष है और ग्लानि न करना किन्तु उनके गुणों में अनुराग रखना निर्विचिकित्सा गुण है । सब देवों को वा सब साधुओं को मानना मूढदृष्टि दोष है और भगवान जिनेन्द्र देव के सिवाय किसी को देव नहीं मानना, निर्ग्रंथ गुरु के सिवाय अन्य किसी को गुरु नहीं मानना, भगवान जिनेन्द्र देव के वचनों को ही शास्त्र मानना अमूढ दृष्टि गुण है । किसी बालक वा अशक्त पुरुष के द्वारा धर्म कार्य में कोई दोष भी आ जाय तो उसको प्रगट कर देना अनुपगूहन दोष है और प्रगट न करना उपगूहन अंग वा गुण है । यदि कोई धर्मात्मा अपने कार्यों से श्रद्धान वा चारित्र से गिरता हो उसे छोडता हो तो उसे गिरने देना अस्थिति करण दोष है और उसको धर्म मे लगा देना चारित्र वा श्रद्धान

से भ्रष्ट न होने देना स्थिति करण गुण वा अंग है। धर्मात्मा पुरुषों में रत्नत्रय धारण करनेवाले पुरुषों में अनुराग न रखना दोष है और अनुराग रखना वात्सल्य नाम का गुण वा अंग है। धर्म की प्रभावना नहीं करना दोष है और धर्म की प्रभावना करना प्रभावना गुण है। इस प्रकार संक्षेप से आठ दोष और आठ गुण बतलाये। येही आठ गुण सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहलाते है।

इसके सिवाय सम्यग्दर्शन में आठ मद तीन मूढता और छह अनायतन ये सत्रह दोष और है तथा इनका त्याग सत्रह गुण हो जाते है इस प्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष और पच्चीस गुण कहलाते है। संक्षेप से इनका स्वरुप इस प्रकार है। ज्ञान का अभिमान करना, अपने बडप्पन का मद करना, कुल का मद, जाति का मद, बल का मद, ऋद्धि वा विभूतियों का मद करना, तपश्चरण का मद करना, और अपने शरीर का मद करना ये मद दोष है तथा इन आठों का मद न करना आठ गुण हो जाते है। देव मूढता गुरु मुढता और लोक मुढता य तीन मूढता है। कुदेवों की सेवा करना बालू पत्थर के ढेर लगाकर पूजना देव मुढता है, निर्ग्रंथ मुनियों को छोडकर अन्य रागी द्वेषी गुरुओं को मानना गुरु मूढता है और नदी समुद्र में नहाना, पर्वत से गिरकर नदी में डूबकर मर जाना सती होना आदि सब लोक मुढता है।

इन तीनों मुढताओं का त्याग कर देना तीन गुण हो जाते है। कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को मानना तथा उनकी सेवा करने वालों को मानना छह अनायतन है और इन छहों का त्याग कर देना छह आयतन सम्यग्दर्शन के गुण हो जाते है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष और पच्चीस गुण बतलाये।

आगे सम्यग्दर्शन के आठ अंगो मे प्रसिद्ध होनेंवाले पुरुषों के नाम कहते है।

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ।
चंपाए णिक्कंखा वणिधूवाणंतमइणामा ॥

राजगृहे निःशंकश्चौरो नाम्ना अंजनो भणितः ॥
चम्पायां निष्कांक्षा वणिक्सुताऽनन्तमती नाम्नी ॥ २८० ॥

अर्थ– राजगृह नगर मे एक अंजन नाम का चोर था वह निशंकित अंग मे प्रसिद्ध हुआ है। तथा चंपापुर नगर में एक सेठ की पुत्री अनंतमती थी वह निःकांक्षित अंग मे प्रसिद्ध हुई है।

णिव्विदिगिछो राया उद्दायणो णाम रउरहे णयरे।
रेवइ महुराणयरे अमूढ दिट्ठी मुणेयव्वा ॥ २८१ ॥

निर्विचिकित्से राजा उद्दायनो नाम रौरवे नगरे।
रेवती मथुरा नगरे अमूढदृष्टिर्मन्तव्या ॥ २८१ ॥

अर्थ– रौरव वा रुद्रवर नगर का उद्दायन नाम का राजा निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगर मे रेवती रानी अमूढदृष्टि अंग में प्रसिद्ध हुई है।

ठिदिकरणगुणपउत्तो मगहा णयरम्मि वारिसेणो हु।
हत्थिणिपुरम्मिणयरे वच्छल्लं बिरहुणा रइयं ॥ २८२ ॥

स्थितिकरणगुणप्रयुक्तो मगधनगरे वारिषेणो हि।
हस्तिनापुरे नगरे वात्सल्यं विष्णुना रचितम् ॥ २८२ ॥

अर्थ– मगध नगर में वारिषेण नाम का राजपुत्र स्थिति करण अंग मे प्रसिद्ध हुआ है। हस्तिनापुर नगर में विष्णुकुमार मुनि वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध हुए है।

उवगूहणगुण जुत्तो जिणदत्तोणाम तामलित्तिणयरीए।
वज्ज कुमारेणकथा पहावणा चेव महुराए ॥ २८३ ॥

उदगूहन गुणयुक्तो जिनदत्तो नाम ताम्रलिप्त नगर्याम्।
वज्रकुमारेण कृता प्रभावना चैव मथुरायाम् ॥ २८३ ॥

अर्थ– ताम्रलिप्त नगर का रहने वाला सेठ जिनदत्त उपगूहन अंग मे प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगर में वज्रकुमार मुनि ने जैन धर्म की प्रभावना कराकर प्रभावना अंग में प्रसिद्ध पाई थी इन सब महापुरुषों की सुन्दर कथाएं अन्य शास्त्रों से जान लेनी चाहिये।

एरिस गुण अट्ठ जुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहवाणोपयत्थाणं ॥ २८४ ॥

अर्थ– इस प्रकार ऊपर जो सम्यग्दर्शन के आठ गुण बतलाये है उनके साथ चित्त की दृढ़ता पूर्वक सम्यग्दर्शन धारन करता हुआ भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टी कहलाता है। आगे नौ पदार्थों के नाम कहते है।

ते पुण जीवा जीवा पुण्णं पावो य आसवो य तहा।
संवर णिज्जरणां पि य बंधो मोक्खो य णाव होंति॥ २८५॥

ते पुणः जीवाजीवौ पुण्यं पापञ्च आस्रवश्च तथा।
संवरो निर्जराऽपि च बंधो मोक्षश्च नव भवन्ति॥ २८५॥

अर्थ– जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नौ पदार्थ हैं।

आगे जीवका स्वरूप कहते है।

जीवो अणाइ णिच्चो उवओग संजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहाव उद्डगई॥ २८६॥

जीवोऽनादिः नित्यः उपयोगसंयुतो देहमात्रश्च।
कर्ता भोक्ता चेतयता न तु मूर्तः स्वभावोर्ध्वगतिः॥ २८६॥

अर्थ– यह जीव अनादि है, अनिधन है, उपयोग स्वरूप है शरीर के प्रमाण के समान है, कर्ता है भोक्ता है चेतना सहित है अमूर्त है और स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करने वाला है।

पाणचउक्कपउत्तो जोवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं।
जीवेइ वट्टमाणं जीवत्तगुण समावण्णो॥ २८७॥

प्राण चतुष्क प्रयुक्तः जीविष्यति यो हि जीवतः पूर्वम्।
जीवति वर्तमाने जीवत्वगुणसमापन्नः॥ २८७॥

अर्थ– इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास ये चार प्राण कहलाते है ये चारों प्राण बाह्य प्राण है और इस संसारी जीव के चारों प्राण रहते है। जो जीव पहले जीवित था अब जीवित है और आगे जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है। इस प्रकार जो ऊपर लिखे चारों

प्राणों से जीवित रहता है वह जीवत्वगुण सहित जीव कहलाता है ।

पज्जाएणवि तस्स हु दिट्ठा आवत्ति देहगहणम्मि ।
अधुवत्तं पुण दिट्ठं देहस्स विणासणे तस्स ॥

पर्यायेनापि तस्य हि दृष्टा आवृत्तिः देहग्रहणे ।
अध्रुवत्वं पुनः दृष्टं देहस्य विनाशने तस्य ॥ २८८ ॥

अर्थ– यह संसारी जीव अनेक पर्यायें धारण करता रहता है उसी के समान उसका आकार होजाता है । इस जीव में संकोच विस्तार होने की शक्ति है । जैसे दीपक घडे में रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उतना तथा उसे ही कमरे में रखने पर बढ कर उस कमरे के समान हो जाता है । इसी प्रकार जीव छोटा शरीर धारण करता है तब संकुचित होकर छोटे आकार वाला उसी छोटे शरीर के समान हो जाता है और जब बडा शरीर धारण करता है तो विस्तृत होकर उस बडे शरीर के समान हो जाता है । यद्यपि जीव नित्य है कभी नष्ट नहीं होता तथापि शरीर के नाश होने से तथा दूसरा शरीर धारण कर लेने से वह अनित्य कहा जाता है इसके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो चार प्राण बतलाये है उनके दस भेद हो जाते है क्योंकि स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियों के भेद है तथा आयु और श्वासोच्छवास को मिला कर दश भेद हो जाते है । इनमे से एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय कायबल आयु और श्वासोच्छवास ये चार प्राण होते है । दो इन्द्रिय जीव के स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां तथा कायबल वचनबल और आयु श्वासोच्छवास ये छह प्राण होते है । तेइन्द्रिय जीव के स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियां कायबल वचनबल आयु श्वासोच्छवास ये सात प्राण होते है चौइन्द्रिय जीव के एक चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है इसलिये आठ प्राण होते है । असैनी पंचेन्द्रिय जीव के पांचों इन्द्रियां कायबल वचनबल आयु श्वासोच्छवास ये नौ प्राण होते है तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीव के दशों प्राण होते है । मन सहित जीवों को सैनी कहते है और मन रहित जीवों को असैनी कहते है । यह सब जीवों का स्वरूप व्यवहार नय से बतलाया है । निश्चय नय से

जिसके ज्ञानदर्शनरूप चेतना गुण हो उसको जीव कहते है। यह चेतना गुण संसारी मुक्त दोनों प्रकार के जीवों मे रहता है।

आगे जीव के उपयोग गुण को कहते हैं।

सायारो अणयारो उवओगो दुविह भेय संजुत्तो।
सायारो अट्ठविहो चउप्पयारो अणायारो ॥ २८९ ॥

साकारोऽनाकार उपयोगो द्विविध भेदसंयुक्तः।
साकारोऽष्टविधः चतुः प्रकारोऽनाकारः ॥ २८९ ॥

अर्थ– आत्मा के ज्ञान दर्शनरूप भावों को उपयोग कहते है। उस उपयोग के दो भेद है एक साकार उपयोग दूसरा अनाकार उपयोग। साकार उपयोग के आठ भेद है और अनाकार उपयोग के चार भेद है।

आगे साकार उपयोग को कहते है।

मइ सुइ उवहि विहंगा अण्णाण जुदाणि तिण्ण णाणाणि।
सम्मण्णाणाणि पुणो केवल दट्ठाणि पंचेव ॥ २९० ॥

मतिश्रुतावधि विभंगानि अज्ञानयुक्तानि त्रीणि ज्ञानानि।
सम्यग्ज्ञानानि पुनः केवलदृष्टानि पंचैव ॥ २९० ॥

अर्थ - कुमति ज्ञान कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान वा विभंगावधि ज्ञान ये तीनों ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाते है। तथा भगवान जिनेंद्र देव ने सम्यग्ज्ञान के पांच भेद बतलाये है।

आगे सम्यग्ज्ञान के पांच भेद बतलाते है।

मइणाणं सुयणाणं उवही मणपज्जय च केवलयं।
तिण्णिसया छत्तीसा मई सुयं पुण बारसंगगयं ॥ २९१ ॥

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिः मनः पर्ययं च केवलम्।
त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् मतिः श्रुतं पुनः द्वादशांगगतम् ।२९१।

अर्थ– मति ज्ञान श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान ये पांच ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं इनमे से मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं तथा श्रुत ज्ञान के बारह अंग कहलाते हैं।

भावार्थ– मति ज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार भेद है। किसी पदार्थ को जानने के लिये सबसे पहले किसी भी इंद्रिय से उसका दर्शन होता है उस दर्शन के अनन्तर जो प्रथम ज्ञान होता है उसको अवग्रह कहते है। जैसे दूर से देखकर यह पुरुष है ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। अवग्रह होने के अनन्तर उसके विशेष जानने की इच्छा को ईहा ज्ञान कहते है जैसे यह पुरुष दक्षिणी होना चाहिये। यह ईहा ज्ञान है। फिर यह दक्षिणी ही है ऐसे निश्चय रूप ज्ञान को अवाय कहते है और फिर उसको न भुलना धारणा है। यह चारों प्रकार का ज्ञान बहुत से पदार्थों का होता है, बहुत प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होता है, एक पदार्थ का होता है, एक प्रकार के पदार्थों का होता है, देखने मात्र से शीघ्र हो जाता है, देर से होता है, किसी एक भाग को जानकर शेष छिपे पदार्थ का ज्ञान होता है। प्रगट पदार्थ का होता है विना कहे हुए (विना सुने) पदार्थ का ज्ञान होता है कहे हुए का ज्ञान होता है ध्रुव स्वरूप ज्ञान होता है और अध्रुवरूप ज्ञान होता है। इस प्रकार बारह प्रकार से होता है और इस प्रकार मतिज्ञान के अडतालिस भेद हो जाते है। ये अडतालिस भेद पांचों इन्द्रियों से तथा मन से होते है इस प्रकार दो सौ अठासी भेद हो जाते है। अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनाग्रह ये दो भेद है। पदार्थों के स्पष्ट ज्ञान को अर्थावग्रह कहते है और स्पष्टता रहित ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते है। किसी मिट्टी के सकोरे में एक दो तीन बूंदे डालनें से स्पष्ट नहीं होती उनका ज्ञान होना व्यंजनावग्रह है और और चौथी वा पांचवी बूंद के स्पष्ट होने पर अर्थावग्रह है। उपर दो सौ अठासी भेद अर्थावग्रह के है। ऊपर व्यंजनावग्रह के ईहा अवाय धारणा नही होते तथा बहुत पदार्थों का वा एक पदार्थ का ज्ञान आदि बारह प्रकार का ज्ञान होता है और वह ज्ञान नेत्र और मन से नहीं होता केवल चार इन्द्रियों से होता है। इसलिये उसके अड तालिस भेद होते है। इस प्रकार दो सौ अट्ठासी अर्थावग्रह के भेद और अडतालिस व्यंजनावग्रह के भेद मिल कर तीनसौ छत्तीस भेद होते है।

श्रुतज्ञान के बारह अंग इस प्रकार है।

आचारांग, सूत्र कृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरोपेपादिक-

दशांग, प्रश्न व्याकरणांग, विपाक सूत्रांग और दृष्टि वादांग। ये बारह अंग कहलाते है।

आगे अवधिज्ञान के भेद बतलाते है।

देसावहि परमावहि सव्वावहि अवहि होइ तिव्भेया।
भव गुण कारणभूया णायव्वा होइ णियमेण॥
देशावधिः परमावधिः सर्वावधिः अवधिः भवतिः त्रिभेदः।
भवगुण कारणभूतः ज्ञातव्यो भवति नियमेन॥ २६२॥

अर्थ– देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस प्रकार तीन प्रकार का अवधिज्ञान होता है। इनमे उत्तरोत्तर जानने की शक्ति अधिक होती है। देशावधि के और परमावधिके उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ये तीन तीन भेद है। सर्वावधि का कोई भेद नहीं है। देशावधि के वर्धमान हीयमान अवस्थित अनवस्थित अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाति प्रतिपाति इस प्रकार आठ भेद होते है। सर्वावधि के अवस्थित अनुगामी अननु– और अप्रतिपातो ये चार भेद होते है।

आगे मनःपर्यय ज्ञान को कहते है।

मणपज्जयं च दुविहं रिउ विउलमइ तहेवाणायव्वं।
केवलणाणं एक्कं सव्वत्थ पयासयंणिच्चं॥
मनः पर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमती तथैव ज्ञातव्यः।
केवलज्ञानं एकं सर्वथ प्रकाशकं नित्यम्॥ २६३॥

अर्थ– मनः पर्ययज्ञान के दो भेद है। एक ऋजुमनि और दूसरा विपुलमति। जो दूसरे के मन में ठहरे हुए सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों को प्रत्यक्ष जाने उसको मनःपर्यय ज्ञान कहते है। जो सरल मन में ठहरे हुए पदार्थों को जाने वह ऋजुमति है और जो कुकील मन में ठररे हुए पदार्थों को भी जान ले वह विपुलमति है।

अर्थ– ऋजुमति से विपुलमति अधिक और अधिक शुद्ध है। केवल ज्ञान एक है। वह नित्य है अनंत काल तक रहता है और लोक अलोक सब को प्रकाशित करता है सब को जो जानता है।

एसो अट्ठपयारो णाणुवओगो हु होइ सायारो ।
जक्खु अचक्खू ओही केवलसहिओ अणायारो ॥

एषोऽष्टप्रकारो ज्ञानोपयोगो हि भवति साकारः ।
चक्षुरचक्षुरवधिः केवल सहितोऽनाकारः ॥ २९४ ॥

अर्थ– इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद है और वह ज्ञानोपयोग साकार है। अनाकार वा आकार रहित उपयोग के चार भेद है अनाकार उपयोग दर्शन को कहते है। दर्शन के चार भेद है। चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन। किसी पदार्थ को चक्षुओं से देखनें को चक्षुदर्शन कहते है। चक्षु के सिवाय अन्य इन्द्रियों से देखना अचक्षुदर्शन है अवधि ज्ञान के साथ अवधि ज्ञान से पहले होने वाले दर्शन को अवधि दर्शन कहते है और केवल ज्ञान के साथ होने वाले दर्शन को केवल दर्शन कहते है। इस प्रकार उपयोग के बारह भेद बतलाये।

आगे आत्मा का आकार बतलाते है।

जम्हि भवे जे देहं तम्हि भवे तप्पमाणओ अप्पा ।
संहार वित्थर गुणो केवलणाणीहि उद्दिट्ठो ॥

यस्मिन् भवे यो देहः तस्मिन भवे तत्प्रमाण आत्मा ।
संहार विस्तारगुणः केवलज्ञानिभिः उद्दिष्टः ॥ २९५ ॥

अर्थ– इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह आत्मा अनेक योनियों मे अनेक प्रकार के छोटे बडे शरीर धारण करता है। जिस भाव में जैसा छोटा या बडा शरीर धारण करता है उस शरीर के प्रमाण के समान ही आत्मा का आकार हो जाता है। इसका कारण यह है कि इस आत्मा में संकोच और विस्तार होने की शक्ति है। इसलिये छोटे शरीर में जाता है तो संकुचित होकर छोटा आकार हो जाता है और बडे शरीर में बडा हो जाता है।

आगे यह जीव कर्त्ता भोक्ता है यह दिखलाते है।

जो कत्ता सो भुत्ता ववहार गुणेण सोइ कम्मस्स ।
ण हु णिच्छएण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं ॥

यः कर्त्ता सभोक्ता व्यवहार गुणेन भवति कर्मणाम् ।
न तु निश्चयेन भणितः कर्त्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥ २९६ ॥

अर्थ– यह जीव व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता है और यही आत्मा अपने आप किये हुए उन कर्मों के फलका भोक्ता है। निश्चय नय से न तो वह कर्मों का कर्ता है और न उन के फलका भोक्ता है। निश्चय नय से वह अपने शुद्ध स्वभावों का कर्ता है और उन्हीं शुद्ध स्वभावोंका भोक्ता है।

आगे और भी कहते है।

कम्ममलछाइओवि य ण मुयइ सो चेयण गुणं किं पि ।
जोणी लक्खगओ वि य जहि कणय कद्दमे खित्तं ॥

कर्मलच्छादितोपि न जानाति निजगुणं किमपि ।
योनिलक्षगतोपि च यथा कर्दमे क्षिप्तम् ॥ २९७ ॥

अर्थ– यह संसारी आत्मा चौरासी लाख योनियों मे परिभ्रमण करता हुआ कर्म रूपी मलसे आच्छादित हो रहा है इसलिये जिस प्रकार कीचड मे पडा हुआ सोना जाना नहीं जा सकता उसी प्रकार यह संसारी आत्मा अपने शुद्ध चेतना के स्वरूप को भी नहीं जानता है।

आगे और भी कहते है।

सुहमो अमुत्तित्तिवंतो वण्णरगंधाइफासपरिहीणो ।
पुग्गलमज्झिगओ वि य णय मिल्लइ णिययसब्भावं ॥

सूक्ष्मोऽमूर्तिमान् वर्णगंधादि स्पर्श परिहीनः ।
पुद्गलमध्यगतोपि च न च मुंचति निजकस्वभावम् ॥ २९८ ॥

अर्थ– यह आत्मा अत्यंत सूक्ष्म है अमूर्त है वर्ण रसगंध स्पर्श इन पुद्गलोंके चारों गुणों से रहित है। यद्यपि वह पुद्गलमय शरीर में रहता है पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्मों से मिला हुआ है तथापि वह अपने स्वभाव को कभी नहीं छोडता है। भावार्थ– आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरुप है यद्यपि वह ज्ञान दर्शन स्वभाव कर्मों से ढका हुआ

है। यद्यपि वह नष्ट नहीं होता, बना ही रहता है। अथवा आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है वह भी आत्मा में बना रहता है। कर्मों के उदय से उसकी विभाव परणति हो जाति है तथापि वास्तविक शुद्धता बनी ही रहती है।

आगे और भी कहते है।

सब्भावे णुड्ढगई विदिसं परिहरिय गइ चउक्केण।
गवछेइ कम्मजुत्तो सुद्धो पुण रिज्जुगइ जाई॥

स्वभावेनोर्ध्वगतिः विदिशां परिहृत्य गतिचतुष्केन।
गच्छति कर्मयुक्ताः शुद्धः पुनः ऋजुगतिं याति॥ २९९॥

अर्थ– इस जीव का स्वभाव स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करना है। परंतु जो कर्म सहित जीव है वे विग्रह गति में चारों विदिशाओं को छोडकर शेष छहों दिशाओं में गमन करते है। तथा जो शुद्ध जीव है वे ऋजुमति से ऊर्ध्व गमन ही करते है। भावार्थ– आकाश के प्रदेशों की पंक्ति ऊपर से नीचे पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण इस प्रकार छहों दिशाओं मे है तथा विग्रह गति मे जीवों की गति आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार होती है इसलिये वह छह दिशाओं मे ही होती है विदिशाओं मे नहीं होती।

आगे विग्रह गति में होनेवाली गति को दिखलाते है।

पाणि विमुत्ता लंगलि बंकगई होइ तह य पुण तइया।
कम्माण काय जुत्तो दो तण्णि य कुणइ वंकाइ॥

पाणिविमुक्ता लांगलिका वक्रगतिः भवति तथा च पुनः तृतीया।
कार्मणकापयुक्ताः द्वित्रीणि करोति वक्राणि॥ ३००॥

अर्थ– पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका इस प्रकार वक्र गति के तीन भेद है। विग्रह गति में इस जीव के कार्मण शरीर रहता है केवल कार्मण शरीर को धारण करनेवाले जीव एक दो वा तीन मोड लेते है। भावार्थ– एक शरीर को छोडकर जब यह जीव दूसरा शरीर धारण करने के लिये जाता है तब उसकी उस गति को विग्रह गति

कहते है। उस समय जो बाणके के समान सीधी गति होती है उसको इषु गति वा ऋजुगति कहते है। हाथसे फेंके हुए पत्थर के समान जिसमें एक मोड लेनी पडती है उसको पाणिमुक्ता गति कहते है हलके मोड के समान जिसमें दो मोड लेनी पडती है उसको लांगलिका गति कहते है और चलते हुए बैल के मूत्र के समान जिसमें तीन मोड लेनी पडे उसको गोमूत्रिका गति कहते है। ऋजुगति वाला जीव जिस समय में निकलता है उसी समय में दूसरा शरीर प्राप्त कर लेता है। पाणिमुक्ता गति वाला जीव दूसरे समय मे पहुंचता है। एक समय उसका मोड लेने मे लग जाता है। लांगलिका गति वाला तीसरे समय मे पहुंचता है उसको दो समय दो मोड लेने मे लगजाते है। गोमुत्रिका जीव चौथे समय मे शरीर प्राप्त करता है उसको तीन समय तीन मोड लेने मे लग जाते है। विग्रह गतिमे ऋगति वाला जीव निराहार नहीं रहता जिस समय निकलता है उसी समय पहुंचकर आहार ग्रहण कर लेता है। पाणिमुक्ता गति वाला एक समय निराहर रहता है। चौथे समय में पहुंच कर आहार वर्गणाऐं ग्रहण कर लेता है।

तइए समए गिण्हइ चिरकयकम्मोदएण सो देहं।
सुरणर णारदयाणं तिरियाणं चेव लेसवसो॥

तृतीये समये गृह्णाति चिरकृत कर्मोदयेन स देहम्।
सुरनरनारकाणां तिरश्चां चैव लेश्यावशः॥ ३०१॥

अर्थ– अपनी अपनी लेश्याओं के निमित्त से देव मनुष्य तिर्यंच देव आदि गतियों में अपने चिरकाल से उपार्जित किये कर्मों के उदय से जैसा शरीर धारण करना है वह शरीर पहले ही समय में वा दूसरे समय मे वा तीसरे समय में अथवा चौथे समय में धारण कर लेता है।

सुह दुक्खं भुंजंतो हिंडदि जोणीसु सयसहस्सेसु।
एयंदिय वियलिंदिय सयलिंदिय पज्ज पज्जत्तो॥

सुखदुःखं भुजानः हिण्डते योनिषु शतसहस्त्रेषु।
एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय पर्याप्तापर्याप्तः॥ ३०२॥

अर्थ– यह ससारी जीव इस प्रकार एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक आदि चौरासी लाख योनियों मे परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के सुख और दुःख भोगता रहता है।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से जीव तत्त्व का निरूपण किया।

आगे अजीव पदार्थों को कहते है।

होंति अजीव दुविहा रूवा रूवा य रूवि चउ भेया।
खंधंच तहा देसो खंधपदेसो य परमाण् ॥

भवन्ति अजीवा द्विविधा रूप्यरूपाश्च रूपिणश्चतुर्भेदः।
स्कंधश्च तथादेशः स्कंध प्रदेशाश्च परमाणुः ॥ ३०३ ॥

अर्थ– अजीव पदार्थों के दो भेद है एक रूपी और दूसरा अरूपी उनमें रूपी पदार्थ एक पुद्गल है शेष सब अरूपी है। रूपी पुग्दल द्रव्य के भी दो भेद है एक परमाण और दूसरा स्कंध। स्कंध के फिर तीन भेद होते है। स्कंध, स्कंध देश और स्कंधप्रदेश। पुद्गलका सबसे छोटा भाग परमाण कहलाता है, उसके फिर टुकडे नहीं होते। वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। वह एक प्रदेशी ही कहलाता है उसमे और प्रदेश नहीं होते। वही एक प्रदेश, आदि है वही मध्य है और वही अंत है। उसमे एक रस रहता है एक गंध रहता है एक वर्ण रहता है और दो स्पर्श रहते है। वह अत्यंत सूक्ष्म होता है और अन्य स्कंधादिकों का कारण भूत होता है। अनंतानंत परमाणु मिलकर जब बंधरूप परिणत हो जाते है तब उसको स्कंध कहते है। स्कंध के आधे भागको देश कहते है और देश के आधे भागको प्रदेश कहते है। जिसको पकड सके कहीं रख सके फेंकसके इस प्रकार काम में आनेवाले पृथ्वी जल वायु अग्नि आदि सब स्कंध पुद्गल है बहुत से ऐसे भी स्कंध है जो सूक्ष्म होते है पकडने में नहीं आते परंतु अनंत परमाणुओं के समूह से बने होते है।

यही बात आगे दिखलाते है।

णिहिला वप्पं च खंधा तस्स य अद्धं च वुच्चदे देसो ।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागीहोद परमाणु ॥

निखिला वहवश्च स्कन्धः तस्यचअर्धं उच्यते देशः ।
अर्धार्धं च प्रदेशोऽविभागी भवति परमाणुः ॥ ३०४ ॥

अर्थ– समस्त परमाणुओं का पिंड स्कंध कहलाता है उसका आधा देश कहलाता है, उसका भी आधा प्रदेश कहलाता है और जिसका फिर विभाग न हो सके ऐसे सबसे छोटे भाग को परमाणु कहते है ।

आगे अन्य अजीव पदार्थों को कहते है ।

धम्माधम्मागासा अरूविणो होंति तह य पुण कालो ।
गइ ठाण कारणावय उग्गाहण वत्तणा कमसो ॥

धर्माधर्माकाशाः अरुषा भवन्ति तथा च पुनः कालः ।
गतिस्थान कारणमपि चावगाहनस्य वर्तनायाः क्रमशः ॥ ३०५ ॥

अर्थ– धर्म अधर्म आकाश और काल ये पदार्थ अरूपी है और इसीलिये ये अमूर्त है । इनमेंसे धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की गति में कारण है, अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की स्थिति में कारण है, आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवकाश देने में कारण है और काल द्रव्य द्रव्यों की पर्याय बदलने में कारण है ।

आगे इसी बातको विशेष रूप से दिखलाते है ।

जीवाण पुग्गलाणं गइप्पव त्ताण कारण धम्मो ।
जह मच्छाणं तोयं थिरभूया णेवसो णेई ॥

जीवानां पुद्गलानां गति प्रवृत्तानां कारणं धर्मः ।
यथा मत्स्यानां तोयं स्थिरीभूतान् नैव स नयति ॥ ३०६ ॥

अर्थ - गमन करने की शक्ति जीव और पुद्गल इन दोनों पदार्थों में है । जिस प्रकार गमन करने की शक्ति मछली में है तथापि वह बिना पानी के गमन नही कर सकती । उसकी गति में पानी सहायक है उसी प्रकार गमन करने में प्रवृत्त होनेवाले जीव पुद्गलों को धर्म

द्रव्य सहायक होता है धर्म द्रव्य एक अमूर्त पदार्थ है और वह वह समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर भरा हुआ है। वह आकाश के समान एक अखंड द्रव्य है और मछलियों को पानी के समान जीव पुद्गलों को गमन करनें में सहायक होता है। परंतु जो जीव पुद्गल ठहरे हुए हैं उनको न तो चलाता है न चलने की प्रेरणा करता है। यदि वे चलते हैं तो सहायक हो जाता है।

आगे अधर्म द्रव्य को कहते हैं।

ठिदी कारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ नइ छाया।
पहियाणं रुक्खस्स य गच्छंतं णेव सो धरई॥

स्थिति कारणं अधर्मः विश्रामस्थानं च भवति यथा छाया॥३०७॥
पथिकानां वृक्षस्य च गच्छतः नैव स धरति॥ ३०७॥

अर्थ– धर्म द्रव्य के समान ही अधर्म द्रव्य है अरूपी और समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है। वह जीव जो पुद्गलों को ठहरने में सहायक होता है। जिस प्रकार गमन करते हुए पथिकों के लिये विश्राम स्थान में ठहरने के लिये वृक्ष की छाया सहायक होती है उसी प्रकार जो जीव पुद्गल गमन करते हुए ठहर जाते हैं। वा ठहरे हुए उनको ठहरनें मे अधर्म द्रव्य सहायक हो जाता है। जिस प्रकार छाया गमन करने वाले पथिक को रोकतीं नहीं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी गमन करने वाले जीव पुद्गलों को रोकता नहीं।

आगे आकाश द्रव्य को कहते है।

सव्वेसिं दव्वाणं अवयासं देइ तं तु आयासं।
तं पुण दुविहं भणियं लोयालोयं च जिणसमए।

सर्वेषां द्रव्यानामवकाशं ददाति तत्त्वावकाशम्।
तत्पुनः द्विविधं भणितं लोकालोकं च जिनसमये॥ ३०८॥

अर्थ– जो जीव अजीव आदि समस्त पदार्थों को अवकाश देने मे समर्थ है उसको आकाश कहते है। भगवान श्री जिनेन्द्र देव ने उसके दो भेद बतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। भावार्थ–आकाश

एक अखंड अरूपी द्रव्य है तथा वह सर्वत्र व्याप्त है। उसमे से आकाश के मध्यभाग में लोकाकाश है। जितने आकाश में धर्म अधर्म द्रव्य भरे हुए है उतने आकाश को लोकाकाश कहते है। लोकाकाश और अलोकाकाश विभाग करने वाला धर्म द्रव्य ही है। जितने आकाश मे द्रव्य है उतना ही आकाश लोकाकाश है। उसी लोकाकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आदि समस्त द्रव्य भरे हुए है। जितने आकाश में जीवादिक पदार्थ दिखाई पडे उतने आकाश को लोकाकाश कहते है।

आगे काल द्रव्य को कहते है।

वत्तणगुण जुत्ताणं दव्वाणं हाइ कारणं कालो।
सो दुविह भेय भिण्णो परमत्थो होइ ववहारो॥

वर्तनागुणयुक्तानां द्रव्याणां भवति कारणं कालः।
स द्विविधभेदभिन्नः परमार्थो भवति व्यवहारः॥ ३०९॥

अर्थ- जो जीवादिक द्रव्य प्रति समय परिवर्तन स्वरूप होते है उनके उस परिवर्तन में काल द्रव्य कारण है। उस काल के दो भेद है एक परार्थ काल और दूसरा व्यवहार काल।

आगे परमार्थ काल को कहते है।

परमत्थो कालाण लोयपदेसु हि संठिया णिच्चं।
एक्केक्के एक्केक्का अपएसा रयण रासिव्व॥

परमार्थः कालाणवः लोकप्रदेशे हि संस्थिता नित्यम्।
एकैकस्मिन् एकैका अप्रदेशा रत्नानां राशिरिव॥ ३१०॥

अर्थ- काल के जो अणु है उनको परमार्थ काल कहते है। वे कालाणु लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु ठहरा हुआ है। इसलिये लोकाकाश के जितने प्रदेश है उतने ही कालाणु है वे आपसमे मिलते नहीं है किंतु रत्नों की राशिके समान अलग अलग ही रहते है। इन्ही कालाणुओं को परमार्थ काल कहते है। इन्हीं कालाणुओं से व्यवहार काल प्रगट होता है। पुद्गल का एक परमाणु जितने समय मे एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पहुंचता है उतनी देर को एक समय कहते है।

यही बात आगे कहते है ।

वट्टण कालो समओ पुग्गलपरमाणु वाण संजाओ ।
ववहारस्स य मुक्खो उप्पणो तीद भावी स ॥

वर्तनाकालः समयः पुद्गलपरमाणूनां संजातः ।
व्यवहारस्य च मुख्यः उत्पद्यामानोऽतोतो भावी ॥ ३११ ॥

अर्थ– वर्तना काल जो मुख्य काल है । उस से व्यवहार काल उत्पन्न हो जाता है । कालाणु अणु रूप है इसलिये उससे उत्पन्न हुआ व्यवहार काल भी सबसे छोटा समय रुपी ही होता है । तथा वह व्यवहार काल पुद्गल परमाणुओं के निमित्त से होता है । अर्थात् एक पुद्गल का परमाणु जितनी देर में एक कालाणु से दूसरे कालाणु तक जाता है तथा मंद गति से जाता है तब एक एक समय होता है । ऐसे समय अनंतानंत बीत गये और आगे अनंतानंत समय होंगे । इस प्रकार भूत वर्तमान और भविष्य के भेद से उस व्यवहार काल के तीन भेद हो जाते है ।

आगे व्यवहार काल के और भी भेद कहते है ।

तेसिं पि य समयाणं संखारहियाण आवली होई ।
संखेज्जा वलि गुणिओ उस्सासो होइ जिणदिट्ठो ॥

तेषामपि च समयानां संख्यारहितानां आवली भवति ।
संख्यातावली गुणित उच्छवासो भवति जिनदृष्टः ॥ ३१२ ॥

अर्थ– असंख्यात समयों की एक आवली होती है तथा सख्यात आवलियों का एक उच्छवास होता है ऐसा भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है ।

सत्तु स्सासे थोओ सत्त त्थोएहि होइ लअ इक्को ।
अट्ठत्तीसद्ध लवा णाली वेणालिया मुहुत्तं तु ॥

सप्तोच्छ्वासेन स्तोकः सप्तस्तोकैः भवति लव एकः ।
अष्ट त्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिका मुहूर्तस्तु ॥ ३१३ ॥

अर्थ– सात उच्छवासों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों का एक लव होता है। साडे अडतीस लवों की एक नाली है और दो नालियों का एक मुहूर्त होता है।

तीस मुहुत्तो दिवसो पणदह दिवसेहि होइ पक्खं तु ।
विहि पक्खेहि य मासो रिउ एक्का वेसि मासेहिं ।।

त्रिंशन्मुहूर्तं दिवसं पंच दशदिवसैः भवति पक्षस्तु ।
द्वाभ्यां पक्षाभ्यां च मासः ऋतुरेको द्वाभ्यां मासाभ्याम् ।३१४।

अर्थ– तीस मुहुर्त का एक दिन होता है, पंद्रह दिन का एक पक्ष होता है दो पक्ष का एक महीना होता है और दो महीने की एक ऋतु होती है।

रिउ तिय भूयं अयणं अयण जुवलेण होइ वरिसोक्को ।
इय ववहारो उत्तो कमेण विद्धि गओ विविहो ।।

ऋतु त्रिभूतमयनं अयन युगलेन भवति वर्ष एकः ।
एष व्यवहार उक्तः क्रमेण वृद्धिगतो विविधः ।। ३१५ ।।

अर्थ– तीन ऋतु का एक अयन होता है और दो अयनों का एक वर्ष होता है। इस प्रकार अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ अनेक प्रकार का व्यवहार काल कहा है।

एयं तु दव्वछक्कं जिणेहि पंचत्थिकाइयं भणियं ।
वज्जिय कायं कालो कालस्स पएसयं णत्थि ।।

एतत्तु द्रव्य षट्कं जिनैःपंचास्ति कायिकं भणितम् ।
वर्जयित्वा कायं कालं कालस्य प्रदेशो नास्ति ।। ३१६ ।।

अर्थ– इस प्रकार भगवान जिनेद्रदेव ने छह द्रव्यों का स्वरुप कहा है। इन छहों द्रव्यों मे से काल को छोडकर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते है। जिनकी सत्ता हो उनको अस्ति कहते है और जो काय वा शरीर के समान अनेक प्रदेश वाले हो उसको काय कहते है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश ये पांचों द्रव्य बहु प्रदेशी है इसलिये अस्तिकाय कहलाते है। काल के प्रदेश नहीं है वह एक ही प्रदेश है इसलिय

उसको अस्तिकाय नहीं कहते है।

जं पुण रुपी दव्वं गंधरफास वण्ण संजुत्तं।
लहि ऊण जीव ठिट्ठा कारणयं कम्मबंधस्स॥

यत्पुनः रुपि द्रव्यं गंधरसस्पर्शवर्णसंयुक्तम्।
लब्ध्वा जीवस्थितं कारणं कर्मबंधस्स॥ ३१७॥

अर्थ– स्पर्श रस गंध वर्ण इन चारों गुणों सहित जो रूपी पुद्गल द्रव्य है वह जीव मे रहनेवाले शुभ अशुभ भावों को पाकर कर्म बंध का कारण हो जाता है। भावार्थ– पुद्गल का एक भेद कर्मवर्ग है। वे समस्त संसार मे फैली हुई है। जब यह जीव अनेक शुभ वा अशुभ भाव करता है तभी वे वर्गणाएं उन शुभ अशुभ भावों को निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती और इस प्रकार वे ही कर्म वर्गणाएं कर्म बंध का कारण बन जाती है। इस प्रकार अजीव पदार्थ का निरूपण किया।

अब आगे पुण्य पाप को कहते है।

सम्मत्तसुदवएहि य कसाय उवसमण गुणसमाउत्तो।
जो जीवो सो पुण्णं पावं विवरिय दोसाओ॥

सम्यत्कश्रु तव्रतैः कषायोपशमनगुणसमायुक्तः।
यो जीवा स पुण्य पाप विपरीत दोषतः॥ ३१८॥

अर्थ– जब यह जीव सम्यग्दर्शन को धारण कर लेता है, भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को जान लेता है, व्रतों को धारण कर लेता है और जिसकी कषायें सब शांत हो जाती है उस समय वह जीव पुण्यरूप कहलाता है अर्थात् ऊपर लिखे सब कारणों से पुण्य कर्म की प्राप्ति होती है तथा उसके विपरीत हिंसा आदि पाप करना मिथ्यात्व धारण करना मिथ्या शास्त्रों का अध्ययन करना आदि पाप कहलाते है आठ कर्मों मे से साता वेदनीय, शुभ नाम, ऊंच गोत्र, और शुभ आयु ये पुण्य कर्म है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु और नींच गोत्र ये पाप कर्म है। इस प्रकार संक्षेप से पुण्य पाप का स्वरुप कहा।

आगे आस्रव संवर का स्वरूप कहते है ।

गिरि णिग्गउ णइवाहो पविसइ सरम्मि जहाणपरयं ।
लहिऊण जीव चिठ्ठा तह कम्मं भावि आवसई ॥

गिरि निर्गत नदी प्रवाहः प्रविशति सरसि यथानवरतम ।
लब्ध्वा जीवस्थितं तथा कर्म भावि आस्रवति ॥ ३१९ ॥

अर्थ– जिस प्रकार किसी नदी का प्रवाह किसी पर्वत से निकलता है और वह किसी सरोवर में निरंतर प्रवेश करता रहता है, उसी प्रकार जीव के शुभ अशुभ परिणामों को पाकर आगामी काल के लिये कर्मों का आस्रव होता रहता है ।

आसवइ सुहेण सुहं असुहं आसवइ असुह जोएण ।
जइ णइजलं तलाए समलं वा णिम्मलं विसई ॥

आस्रवति शुभेन शुभं अशुभमास्रवति अशुभ योगेन ।
यथा नदी जलं तडागे समलं वा निर्मलं विशति ॥ ३२० ॥

अर्थ– कर्मों का आस्रव मन वचन काय इन तीनों योगों से होता है । अशुभ योगो से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और शुभ योगों से शुभ कर्मो का आस्रव होता है । मन वचन काय की प्रवृत्ति को योग कहते है । जो प्रवृत्ति सम्यक्त्व रुप होती है व्रत चारित्र रुप होती है वह शुभ प्रवृत्ती कहलाती है इसी को शुभ योग कहते है । शुभ योगों से पुण्य कर्मों का आस्रव होता है तथा जो प्रवृत्ति हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह रूप होती है, राग द्वेष मोह रूप होती है वह अशुभ प्रवृत्ति कहलाती है इसी को अशुभ योग कहते है, और ऐसे अशुभ योगों से पाप कर्मों का आस्रव होता है ।

आगे संवर को कहते है ।

आसवइ जं तु कम्मंण वय काएहि रायदोसेहिं ।
ते संवरइ णिरुत्तं तिगुत्तिगुत्तो णिरालंवो ॥

आस्रवति यत्तु कर्म मनोवचन कायैं रागद्वेषैः ।
तत्संवृणोति निरुक्तं त्रिगुप्ति गुप्तो निरालम्बः ॥ ३२१ ॥

अर्थ - रागद्वेष पूर्वक होने वाली मन वचन काय की क्रियाओं से जिन कर्मों का आस्रव होता है वे कर्म उन मन वचन काय की क्रियाओं को रोक देने से फिर नहीं आते। इस का भी कारण यह है कि कर्मों के आने के लिये मन वचन काय की क्रियाएं ही कारण होंती है यदि वे क्रियाएं सर्वथा रोक दी जायं तो फिर उन कर्मों के आने के लिये कारण वा आलंबन ही नहीं रहता है। विना आलवन वा कारण के वे कर्म आही नहीं सकते। इसी को संवर कहते है। वह संवर तीनों प्रकार की गुप्तियों से होता है। मन की क्रिया को सर्वथा रोक देना मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काय की क्रिया को सर्वथा रोक देना काय गुप्ति है।

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं असुइ सुह य दायारं।
लद्धे सुद्ध सहावे सुसंवरो उहयकम्मस्स ॥

यावत्संकल्पविकल्पः तावत्कर्म अशुभशुभदातृ।
लब्धे शुद्धस्वभावे सुसंवरः उभयकर्मणः ॥ ३२२ ॥

अर्थ– इस जीव में जव तक सकल्प विकल्प होता है तव तक शुभ कर्म वा अशुभ कर्म आते ही रहते है। शुभ संकल्पों से शुभ कर्म आते है और अशुभ संकल्प से अशुभ कर्म आते है। जव दोनों प्रकार के के संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते है तव शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संवर हो जाता है।

णट्ठे मणसंकप्पे इंदियवावारवज्जिए जीवे।
लद्धे सुद्ध सहावे उभयस्स य संवरो होई ॥

नष्टे मनः संकल्पे इन्द्रियव्यापारवर्जिते जीवे।
लब्धे शुद्ध स्वभावे उभयस्स संवरो भवति ॥ ३२३ ॥

अर्थ– जिस जीव के मन के समस्त संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते है, समस्त इंद्रियों के व्यापार नष्ट हो जाते है तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट हो जाता है तव दोनों प्रकार के शुभ अशुभ कर्मों का संवर हो जाता है। इस प्रकार संक्षेप मे संवर का स्वरूप कहा।

आगे बंध का स्वरूप कहते है।

जीव कम्माण उहयं अण्णोण्णं जो पएस पवेसो हु ।
जो णिणवेरहिं बंधो भणिओ इय विगयमोहेहिं ॥

जीवकर्मणोरुभयोरन्योन्यः यः प्रदेशप्रवेशस्तु ।
स जिनवरैः बन्धो भणित इति विगत मोहः ॥ ३२४ ॥

अर्थ– जीव के प्रदेश और कर्म के प्रदेश दोनों ही जब एक दूसरे के साथ परस्पर मिल जाते है उस को मोह रहित भगवान जिनेंद्रदेव बंध कहते है ।

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा ।
होंति घणा णिविभूया सो बंधो होइ णायव्वो ॥

जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशा हि अन्तपरिहीनाः ।
भवन्ति घना निविडभूताः स बन्धो भवति ज्ञातव्यः ॥ ३२५ ॥

अर्थ– जीव के एक एक प्रदेश के साथ अनंतानंत कर्मवर्गणाए बंधी हुई है और वे सब वर्गणाएं घनीभूत अंधकार के समान इकठ्ठी होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ बंधी है । इस प्रकार जो आत्मा और कर्मों के प्रदेश परस्पर मिले हुए है उसको बंध समझना चाहिये ।

आगे यह कर्म बंध इस जीव के साथ कबसे है और कैसे होता है सो कहते है ।

अत्थि हु अणाइभूया बंधो जीवस्स विविह कम्मेण ।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण रायदोसमओ ॥

अस्त्यनादि भतो बन्धो जीवस्य विविधकर्मणः ।
तस्योदयेन जायते भावः पुना रागद्वेषमयः ॥ ३२६ ॥

भावेण तेण पुणरदि अण्णो बहु पुग्गला हु गग्गंति ।
जह तुप्पियपत्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति ॥

भावेन तेन पुनरपि अन्ये बहवः पुद्गला हि लगन्ति ।
यथा घृतपात्रस्य च निविडा रेणवो लगन्त ॥ ३२७ ॥

अर्थ– इस संसारी जीव के साथ अनेक प्रकार के कर्मो का बंध अनादि काल से लगा हुआ है जब उन कर्मों का उदय होता है तब इस

जीव के परिणाम राग द्वेष रुप हो जाते है। तब राग द्वेष रूप परिणामों के निमित्त से फिर अनेक अन्य पुद्गल कर्म वर्गणाएं जीव के साथ कर्म बंध रूप परिणत हो जाती है। जिस प्रकार घी के चिकने वर्तन पर धूल आ आ कर चिपक जाती है इसी प्रकार राग द्वेष परिणामों के होते ही मन वचन काय की क्रियाओं के द्वारा फिर अनेक प्रकार के कर्मों का बंध हो जाता है। इस प्रकार पूर्व संचित कर्मों के उदय से राग द्वेष रुप परिणाम होते है और राग द्वेष रूप परिणामों से फिर कर्मों का बंध होता है। यह परंपरा मोक्ष प्राप्त होने तक बराबर चलती रहती है।

एक्कसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेयेहिं।
परिणवइ आयु कम्मं भूयाउ सेसेण॥

एक समयेन बद्धं कर्म जीवेण सप्तभेदैः :
परिणति आयुः कर्मबद्धं भूतायुःशेषेण॥ ३२८॥

अर्थ– जीव के साथ प्रत्येक समय मे बंधे हुए कर्म सात भेदों मे बंट जाते है। ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय नाम गोत्र अंतराय इन सातों कर्मों में बट जाते है। आयु कर्म का बंध त्रिभाग में अर्थात् आयु के दो भाग बीत जाने पर होता है तथा उस समय भी आयु कर्म का बंध हो अथवा और भी आगे हो वा अंत समय में हो। जब आयु कर्म का बंध हो जाता है तब उसको भी भाग मिलने लगता है। इस प्रकार कर्मों का बंटवारा होता है।

आगे बंध के भेद बतलाते है।

सो बंधो चउभेओ णायव्वो होइ सुत्तणिद्दिट्ठो।
पयडि ट्ठिदि अणुभागो पएसबंधो पुरा कहिओ॥

स बन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति सुत्र निर्दिष्टः।
प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेश बंधः पुरा कथितः॥ ३२६॥

अर्थ– भगवान जिनेन्द्रदेव के हुए सिद्धांत शास्त्रों में वह बंध चार प्रकार का कहा है। तथा प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभाग बंध और प्रदेश बंध ये बंध के चार भेद है।

णाणाण दंसणाणं आवरण वेयणीय मोहणियं ।
आउस्स णाम गोदं अंतरायाणि पयडीओ ॥

ज्ञानानां दर्शनानां आवरणं वेदनीयं मोहनीयम् ।
आयुष्कं नाम गोत्रं अन्तरायः प्रकृतयः ॥ ३३० ॥

अर्थ– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ प्रकृतिबंध के भेद है ।

आगे इनके भेद कहते है ।

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं ।
जह पडिमोवरि खित्तं छायणयं होइ कप्पडयं ॥

ज्ञानावरणं कर्म पंचविधं भवति सूत्र निर्दिष्टम् ।
यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं छादनकं भवति कर्पटकम् ॥ ३३१ ॥

अर्थ– जिस प्रकार किसी प्रतिमा के ऊपर कपडे का आच्छादन डाल देने से प्रतिमा ढक जाती है उसी प्रकार जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढक लेता है उसको ज्ञानावरण कर्म कहते है । उस ज्ञानावरण कर्म के पांच भेद है । मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण, और केवल ज्ञानावरण । ऐसा सिद्धांत सूत्र में कहा है ।

दंसण आवरणं पुण जइ पडिहारो विणिवइ वारम्मि ।
तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाएहिं सुत्तम्मि ॥

दर्शनावरणं पुनः यथा प्रतिहारो वारयति द्वारे ।
तन्नवविधं प्रोक्तं स्फुटार्थवादिभिः सूत्रे ॥ ३३२ ॥

अर्थ– जिस प्रकार प्रतिहार वा द्वारपाल द्वारपर बैठा रहता और राजा के दर्शन नहीं होने देता । जाने वालों को द्वारपर रोक देता है उसी प्रकार जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे, उसको ढकले, उसकों दर्शनावरण कर्म कहते है । उस दर्शना वरण कर्म के नौ भेद है । इस प्रकार स्पष्टवादी भगवान जिनेंद्रदेव ने अपने सिद्धांत सूत्रों में कहा है । चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण,

केवदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्त्यान गृद्धि ये नौ भेद दर्शनावरण के है।

मोहेइ मोहणीयं जह मइरा अहव कोद्दमा पुरिसं।
तह अडवीस विभिण्णं णायव्वं जिणुवएसेण॥

मोहयति मोहनीयं यथा मदिरा अथवा कोद्रवं पुरुषम्।
तथा अष्टाविंशति विभिन्नं ज्ञातव्यं जिनोपदेश॥ ३३३॥

अर्थ– जिस प्रकार मद्य पुरुषों को मोहित कर देता है, अथवा कोदों पुरुषों को मोहित कर देता है उसी प्रकार जीवों को जो मोहित कर देता है उसको मोहनीय कर्म कहते है। उस मोंहनीय के अट्ठाईस भेद भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहे है। मोहनीय के दो भेद है दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद है। मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद। इस प्रकार मोहनीय कर्म के अठ्ठाईस भेद है।

महुलित्त खग्ग सरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु।
सायासाय विभिण्णं सुह दुक्खं देइ जीवस्स॥
मधुलिप्त खंगसदृशं द्विविधं पुनः भवति वेदनीयं तु।
सातासात विभिन्नं सुखदुःखे ददाति जीवाय॥ ३३४॥

अर्थ– जिस प्रकार शहदलपेटी तलवार की धार चाट लेने पर मीठी लगती है परंतु जीभ कट जाने से दुःख अधिक होता है उसी प्रकार जो कर्म जीवों को सुख दुःख देता है उसको वेदनीय कर्म कहते है। उसके दो भेद है साता वेदनीय और असाता वेदनीय। साता वेदनीय जीवों को सुख देता है और असाता वेदनीय दुःख देता है।

आऊ चउप्पयारं सुर णारय मणुय तिरिय गइवद्धं।
हडिखित्त पुरिस तुल्लं जीवे भवधारण समत्थं॥

आयु श्चतुःप्रकार सुरनारक मनुष्य तिर्यग्गतिवद्धम् ।
हलि क्षिप्त पुरुष तुल्यं जीवे भवधारणम् समर्थम् ॥ ३३५ ॥

अर्थ– जिस प्रकार जिसका पांव (पैर) काठ मे फंसा हुआ है वह काठ उस पुरुष को कहीं जाने नहीं देता, वहीं रोक रखता है इसी प्रकार जो कर्म एक ही शरीर में रोक रक्खे उसको आयु कर्म कहते है उसके चार भेद है देवायु, नरकायु, मनुष्य आयु और तिर्यंच आयु । यह आयु कर्म ही भव धारणा कराता हरता है ।

चित्तपडंवविचित्तं णाणा णामेहिं बत्तणं णामं ।
तेणवइ संखगुणियं गइ जाइ सरीर आईहिं ॥

चित्रपटवत् विचित्रं नानानामभिः वर्तनं नामं ।
त्रिनवतिः संख्यगुणितं गतिजातिशरीरादिभिः ॥ ३३६ ॥

अर्थ– जिस प्रकार किसी वस्त्रपर अनेक प्रकार के चित्र बनाते है उसी प्रकार जो गति जाति शरीर आदी अनेक नामों को जो बनावे उसको नाम कर्म कहते है । उसके तिरानवे भेद है । देवगति, नरक, गति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय जाति, दोइन्द्रिय जाति, तेइन्द्रिय जाति, चौइन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीरांगोपांग, वैक्रियक शरीरांगोपांग, आहारकशरीरांगोपांग, स्थान निर्माण प्रमाण निर्माण, आहारक शरीर बंधन आदि पांचों शरीरों के पांच बंधन, औदारिकशरीर संचात आदि पांचों शरीरों के पांच सांघत, सम–चतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोध परिमंडल संस्थान, स्वातिक संस्थान, कुबज्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुंडक संस्थान, वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्र नाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्द्ध नाराच संहनन, कीलक संहनन, असंप्राप्तासृपाटक संहनन, कर्कश, मृदु, गुरु, लघु स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण ये आठ स्पर्श, तिक्त, कटुक कषाय, आम्ल, मधुर ये पांच रस, सुरभि, असुरभि, दो गंध कृष्ण, नील, रक्त, पीत, शुल्क ये पांच वर्ण नरक गत्यानु पूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देव गत्यानूपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, सादारण, त्रस, स्थावर, सभेग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर

शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, वादर पर्याप्तक, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय यशस्कीर्ति, अयशकिर्ति तीर्थंकरत्व ये तिरानवें प्रकृतियां नाम कर्म की है।

गोदं कुलाल सरिसं णिच्चुच्च कुलेसु पायणे दच्छ ।
घड रंजणाइ करणे कुंभयकारो जहा णिउणो ॥

गोत्रं कुलाल सदृशं नीचोच्चकुलेषु प्रापणे दक्षम् ।
घट रंजनादि करणे कुम्भकारो यथा निपुणः ॥ ३३७ ॥

अर्थ– जिस प्रकार कुंभार छोटे वा बडे घडे बनाने में निपुण होता है उसी प्रकार जो ऊंच गोत्र मे उत्पन्न करे वह ऊंच गोत्र है और नीच कुल में उत्पन्न करे वह नीच गोत्र है। गोत्र कर्म के ये दो भेद है।

जइ भंडयारि पुरिसो धणं णिवारेइ रायणा दिण्णं ।
तह अंतराय कम्मं णिवारणं कुणइ लद्धीणं ॥

यथा भाण्डागारी पुरुषः धनं निवारयति राज्ञा दत्तम् ।
तथान्तराय कर्म निवारणं करोति लब्धीनाम् ॥ ३३८ ॥

तं पंचभेद उत्तं दाणे लाहे य भोइ उवभोए ।
तह वीरि एण भणियं अंतरायं जिणिंदेहिं ॥

तत्पंच भेद युक्तं दाने लाभे च भोगे उपभोगे ।
तथा वीर्येण भणितं अन्तरायं जिनेन्द्रैः ॥ ३३९ ॥

अर्थ - जिस प्रकार राजा के दिये हुए धन को भंडारी (खजांची) पुरुष देने नहीं देता उसी प्रकार अंतराय कर्म पांचो लब्धियों को प्राप्त नहीं होने देता, देने से निवारण कर देता है। उस अंतराय कर्म के पांच भेद है। दानांतराय लाभांतराय भोगान्तराय उपभोगांतराय और वीर्यांतराय। इस प्रकार भगवान जिनेंद्रदेव ने अंतराय कर्म के पांच भेद वतलाये है। इस प्रकार आठ कर्मो के एकसो अडतालीस भेद होते है।

आगे अनुभाग बंध को कहते है।

एसो पयडीवंधो अणुभागो होइ तस्स सत्तीए ।
अणुभवणं चं तीवे तिव्वं मंदे मंदाणु रूवेण ॥

एवः प्रकृतिवन्धोऽनुभागो भवति तस्य शत्तर्याः ।
अनुभवनं यत्तीव्रे तीव्र मन्दे मंदानुरूपेण ॥ ३४० ॥

अर्थ– इस प्रकार प्रकृति बंध का स्वरूप कहा । इन प्रकृति बंध कर्मों मे जो फल देने की शक्ति है उसको अनुभाग बंध कहते है । यदि उन कर्मों में तीव्र फल देने की शक्ति है तो उसका अनुभव वा उदय तीव्रता के साथ होता है और यदि मंद फल देने की शक्ति है तो उसका अनुभव वा फल मंदता के साथ होता है ।

आगे स्थितिबंध बतलाते है ।

एहं खलु पठमाणं उक्स्सं अंतराइयस्सेव ।
सं कोडाकोडो सायरणामाण मे व ठिदी ॥

तमणां खलु प्रथमाना मुत्कृष्ट मन्तरायस्य च ।
त्रिंशत्कोटाकोटि सागर नाम्ना मेव स्थितिः ॥ ३४१ ॥

म हस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णाम गोत्तस्स ।
तेतीस सागराणां उवभाओ आउसस्सेव ॥

मोहस्य सप्ततिः खलु विंशपिः पुन र्भवति नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥ ३४२ ॥

अर्थ– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है, नाम गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर है और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है ।

आगे जघन्य स्थिति बतलाते है ।

बारसय वेयणीए णामा गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्ण मुहुत्तं तु ठिदी सेसाणां सावि पंचण्ह ॥

द्वादश वेदनीये नाम गोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।
भिन्न मुहूर्तस्तुस्थितिः शेषाणां सापि पंचानाम् ॥ ३४३ ॥

अर्थ– वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहुर्त है, नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष पांचों कर्मों की जघन्य स्थिति अंतमुंहुर्त है। इस प्रकार स्थिति बंधका स्वरुप कहा।

आगे निर्जरा का स्वरुप कहते है।

पुव्व कय कम्म सडणं णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवायाया विदिया आंववाय जाया य॥

पूर्वकृतकर्मसटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा।
प्रथमा विपाक जाता द्वितीया अविपाकजाता च॥ ३४४॥

अर्थ– पहले संचित हुए कर्मों का सडना है छूटना है आत्मा से उनका संबंध हट जाना है उसको निर्जरा कहते है। उस निर्जरा के दो भेद है। एक विपाकजा और दुसरी अविपाकजा।

आगे दोनों निर्जराओं का स्वरुप कहते है।

कालेणउवाएण पच्चंति जहा वणप्फई फलाइं।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइ कम्माइ॥

काले नोपायेन च पचन्ति यथा वनस्पतिफलानि।
तथा कालेन तपसा च पचन्ति कृतानि कर्माणि॥ ३४५॥

अर्थ– जिस प्रकार वनस्पति के आम आदि फल एक तो अपने समय के अनुसार पकते है और दुसरे पाल में देकर वा अन्य किसी उपाय से पकालिये जाते है उसी प्रकार जो कर्म अपनें समय के अनुसार स्थितिबंध पूर्ण होने पर अपना फल देकर खिर जाते है नष्ट हो जाते है उसको विपाकजा निर्जरा कहते है। विपाक का अर्थ फल देना है। फल देकर जो कर्म खिरते है उसको विपाक निर्जरा कहते है। तथा जो कर्म बिना फल दिये तपश्चरण के द्वारा नष्ट कर दिये जाते है वह अविपाक निर्जरा कहलाती है। इस प्रकार निर्जरा के दो भेद है।

इस प्रकार निर्जरा का स्वरुप कहा।

अब आगे मोक्ष का स्वरुप कहते है।

णिस्सेस कम्म मुक्को सो मुक्खो जिणवरेहिं पएणत्तो ।
रायद्दोसाभावे सहाव थक्कस्स जीवस्स ॥

निःशेष कर्म मोक्षः स मोक्षः जिनवरैः प्रज्ञप्तः ।
रागद्वेषाभावे स्वभाव स्थितस्य जीवस्य ॥ ३४६ ॥

अर्थ– जो जीव राग द्वेष का सर्वथा नाश कर देता है और अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाता है उस समय जो समस्त कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है उसको भगवान जिनेंद्रदेव मोक्ष कहते है । मोक्ष शब्द का अर्थ छूटना है । यह आत्मा जो अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है वह जब राग द्वेष के अभाव होने पर और शुद्ध स्वभाव में लीन होने पर समस्त कर्मों से छूट जाता है तब उसको मुक्त जीव कहते है । मुक्त होने पर कर्मों के साथ साथ शरीर भी नष्ट हो जाता है ।

सो पुण दुविहो भणिओ एक्कदेसो य सव्वमोक्खो य ।
देसो चउघाइखए सव्वो णिस्सेस णामम्मि ॥

स पुनः द्विविधो भणितः एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च ।
देशः चतुर्घातिक्षये सर्वः निःशेषणाशे ॥ ३४७ ॥

अर्थ– वह मोक्ष दो प्रकार है । एक देश और सर्वदेश । चारों घातिया कर्मों का नाश हो जाना एक देश मोक्ष है और समस्त कर्मों का नाश हो जाना सर्वदेश मोक्ष है । भावार्थ– इन समस्त कर्मों मे घातिया कर्म सब से प्रबल है । इन का जब नाश हो जाता है तब शेष कर्मों का नाश अवश्य ही होता है । इनमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । तथा घातिया कर्मों के नाश होने पर यह जीव वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है । अनंत दर्शन अनंत ज्ञान अनंत सुख और अनंत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते है और फिर वे अनंत चतुष्टय अनंतानंत काल तक रहते है । इन्ही कारण से वे भगवान एक देशमुक्त कहलाते है । जब तक आयु कर्म रहता है तब तक वे उस अवस्था में रहते है आयु कर्म पूर्ण होने पर वे अवश्य मुक्त हो जाते है ।

इस प्रकार मोक्ष का स्वरुप कहा ।

अब आगे अंत मे फिर सम्यग्दर्शन का स्वरुप कहते है ।

णए सत्तपयारा जिणदिठ्ठा भासिया मए तच्चा ।
सद्दहइ जो हु जीवो सम्माइट्ठी हवे सो हु ॥

एतानि सप्त प्रकाराणि जिन दृष्टानि भणितानि मया तत्त्वानि ।
श्रद्दधाति यस्तु जीवः सम्यग्दृष्टिः भवेत स तु ॥ ३४८ ॥

अर्थ– इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के कहें हुए सात तत्त्वों का स्वरुप अत्यंत संक्षेप से मैनें कहा । जो जीव इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी पुरुष है ।

अविरय सम्मादिठ्ठी एसो उत्तो मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छ समासदो देस विरदो य ॥

अविरत सम्यग्दृष्टिः एष उक्तः मया समासेण ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये समासतो देश विरतं च ॥ ३४९ ॥

आगे– इस प्रकार मैने अत्यंत संक्षेप से अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के चौथे गुणस्थान का स्वरुप कहा । अब इससे आगे संक्षेप से ही देश विरत अथवा विरताविरत नाम के पांचवे गुणस्थान का स्वरुप कहते है ।

इस प्रकार अविरत गुणस्थान का स्वरुप समाप्त हुआ ।

आगे पांचवें विरताविरत गुणस्थान का स्वरुप कहते है ।

पंचमयं गुणठाणं विरयाविरउत्ति णामयं भणियं ।
तत्थवि खय उवसमिओ खाइओ उवसमो चेव ॥

पंचमकं गुणस्थानं विरताविरत इति नामकं भणितम् ।
तत्रापि क्षायोपशमिकः क्षायिकः औपशमिकश्च ॥ ३५० ॥

अर्थ– भगवान जिनेंद्रदेव ने पांचवे गुणस्थान का नाम विरताविरत बतलाया है । तथा उसमे औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते है ।

आगे विरताविरत का अर्थ बतलाते है ।

जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ ।
एक्क समयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥

यस्त्रसवधाद्विरतो णो विरतस्तथा च स्थावरवधात् ।
एक समये जीवो विरताविरत इति जिनः कथयति ॥ ३५१ ॥

अर्थ– जो जीव त्रस जीवों की हिंसा त्याग कर देता है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करता वह जीव एक ही समयमें विरत और अविरत वा विरताविरत कहलाता है ऐसा भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है ।

इलयाइथावराणं अत्थिपवित्तित्ति विरदि इयराणं ।
मूलगुणठ्ठ पउत्तो वारह वयभूसिओ हु देसनई ॥

इलादि स्थावराणा मस्ति प्रवृत्तिरिति विरतिरितरेषाम् ।
मूलगुणाष्ट प्रयुक्तो द्वादसव्रतभूषितो हि देशयतिः ॥ ३५२ ॥

अर्थ– पांचवे गुण स्थान मे रहने वाले विरताविरत जीवों की प्रवृत्ति पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति आदि स्थावर जीवों के घात करने मे होती है इसलिये वह इन स्थावर जीवों के घात का त्याग नहीं कर सकता, शेष त्रस जीवों के घात का त्याग कर देता है इसलिये एक देश यति अथवा विरताविरत श्रावक कहलाता है वह श्रावक आठों

मूलगुणों को धारण करता है और बारह व्रतों से विभूषित रहता है। मद्य का त्याग, मास का त्याग, शहद का त्याग, रात्रिभोजन का त्याग, बडफल, पीपलफल, गूलर, पाकर फल, अंजीर फल इन पांचों उदंबरो का त्याग, प्रतिदिन प्रातः काल पंच परमेष्ठी को नमस्कार करना, जीवों की दया पालन करना और पानी छान कर पीना ये आठ मूल गुण कहलाते है। श्रावकों के लिये इनका पालन करना अत्यावश्यक है।

आगे अनुक्रम से बारह व्रतों का स्वरूप कहते है।

हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं।
परमहिलापरिहारो परिदमाणं परिग्गहस्सेव ॥

हिंसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिवर्जनं च स्थूलव्रतम्।
पर महिलापरिहारः परिमाणं परिग्रहस्यैव ॥ ३५३ ॥

अर्थ– त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना, सत्य बोलना, बिना दिये हुए पदार्थ को कभी ग्रहण न करना, परस्त्री सेवन त्याग और परिग्रह का परिमाण करना ये पांच अणुव्रत कहलाते है।

दिसिविदिसि पच्चखाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो।
भोओपभोयसंखा ए एह गुणव्वया तिण्णि ॥

दिग्विदिक् प्रत्याख्यानं अनर्थदण्डानां भवति परिहारः।
भोगोपभोगे संख्या एतानि हि गुणव्रतानि त्रीणि ॥ ३५४ ॥

अर्थ– दिशा विदिशाओं में आने जाने का नियम धारण कर उनकी सीमा नियत कर शेष दिशा विदिशा में आने जाने त्याग करना, पांचो प्रकार के अनर्थ दंडों का त्याग करना, भोगोपभोग पदार्थों की संख्या नियत कर शेष भोगोप भोग पदार्थों का त्याग कर देना ये तीन गुण व्रत कहलाते है। भावार्थ-चार दिशाएं, चार विदिशाएं, ऊपर नीचे ये दश दिशाए कहलाती है इनकी सीमा की मर्यादा नियतकर उसके बाहर नहीं जाना चाहिये। पाप रूप कार्यों का उपदेश देना, हिंसा करने के उपकरणों या दान देना, दूसरे का बुरा चिंतन करना, मिथ्या-शास्त्रों का पढना सुनना और पंच स्थावरों की व्यर्थ हिंसा करना ये

पांच अनर्थ दंड कहलाते है, इनमें पाप तो अधिक लगता है परंतु लाभ कुछ नहीं होता ऐसे इन अनर्थ दंडो का त्याग कर देना चाहिये। जो एक बार काम मे आवें ऐसे भोजनादिक, भोग है। और जो बार बार काम आवे ऐसे वस्त्रादिक उपभोग है। इन सब की संख्या नियत कर लेनी चाहिये। ये तीन गुणव्रत कहलाते है। इनसे अणुव्रतों के गुण बढते है इसलिये इनको गुणव्रत कहते है।

देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं।
अति हीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं॥

देवान् स्तौति त्रिकाले पर्वणि सुप्रोषधोपवासः।
अतिथीना संविभागः मरणान्ते करोति सल्लेखनाम्॥ ३५५॥

अर्थ– प्राप्तः काल मध्यण काल संध्याकाल इन तीनो समय में पंचमेंष्ठी की स्तुति करना, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में प्रोषधपवास करना, प्रति दिन अतिथियों को दान देना

१

और सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते है। इस प्रकार पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह अणुव्रत कहलाते है। देश व्रती श्रावक को आठ मूलगुण और ये बारह व्रत अवश्य धारण करने चाहिये। इन बारह व्रतों को उत्तर गुण भी कहते है।

---

१. मित्र कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहं।
संस्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः॥

अर्थ– मित्र स्त्री विभूति पुत्र सुख गृह आदि सबसे मोहका त्याग कर अपने हृदय मे पंच परमेंष्ठी का स्मरण करना सल्लेखना है। ऐसा भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है।

आगे मूलगुण बतनाते है।

महुमज्जमंस विरई चाओ पुण उयंवराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देश विरयम्मि॥

मधुमद्यमांस विरतिः त्यागः पुनः उदम्बराणां पंचानाम्।
अष्टावेते मूलगुणा भवन्ति स्फुटं देशविरते॥ ३५६॥

अर्थ - मद्य मांस मधु का त्याग और पांच उदंबरों का त्याग ये देशविरतियों के आठ मूलगुण कहलाते है।

आगे इस गुणस्थान में होने वाले ध्यान बतलाते है।

अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे।
बहु आरंभपरिग्गह जुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं॥

आर्तं रौद्रं ध्यानं भद्रं अस्तीति तस्मिन् गुणस्थाने।
बहुवारम्भ परिग्रह युक्तस्य च नास्ति तद्धर्म्यम्॥ ३५७॥

अर्थ– इस पांचवे गुणस्थान मे अर्त्तध्यान रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन प्रकार मे ध्यान होते है इस गुणस्थान वाले जीव के बहुतसा आरंभ होता है और बहुतसा ही परिग्रह होता है इसलिये इस गुणस्थान में धर्मध्यान नहीं होता।

धम्मेद्रएण जीवो असुहं परि चयइ सुहगई लेई।
कालेण सुक्ख मिल्लइ इंदियबल कारणं जाणि॥

धर्मोदयेन जीवोऽशुभं परित्यजति शुभगतिं प्राप्नोति।
कालेन सुखं मिलति इन्द्रियबलि कारणं जानीहि॥ ३५८॥

अर्थ– धर्म सेवन करने से इस जीव के अशुभ परिणाम और अशुभ गतियां आदि नष्ट हो जाती है। और शुभ गति प्राप्त होती है। तथा समयानुसार इन्द्रियों को बल देने वाला सुख प्राप्त होता है।

आगे आर्तध्यान को बतलाते है।

इठ विओए अट्टं उप्पजइ तह अणिठ्ठसंजोए।
रोय पकोवे तइयं णियाण करणे चउत्थं तु॥

इष्ट वियोगे आर्तं उत्पद्यते तथा अनिष्ट संयोगे।
रोगप्रकोप तृतीयं निदानकरणे चतुर्थं तु॥ ३५९॥

अर्थ– किसी इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उसके संयोग का चितवन करना पहला आर्तध्यान है। किसी अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग होने का बार बार चितवन करना दूसरा आर्त–

ध्यान है। किसी रोग के प्रकोप होने पर उसको दूर करने के लिये बार बार चितवन करना तीसरा आर्तध्यान है और निदान करना चौथा आर्तध्यान कहलाता है।

अदज्झाण पउत्तो बंधइ पावं णिरंतरं जीवो।
मरिएण य तिरियगई को विणरो जाइ तज्झाणे॥

आर्तध्यान युक्तो बध्नाति पापं निरंतरं जीवः।
मृत्वा च तिर्यग्गतिं कोऽपि नरो यातितद्ध्याने॥ ३६०॥

अर्थ– इस आर्तध्यान के करने से यह जीव निरंतर पाप कर्मों का बंध करता रहता है। तथा कोई कोई मनुष्य इस आर्तध्यान के करने से तिर्यंच गति को प्राप्त होता है।

रुद्दं कसाय सहियं जीवो संभवइ हिंसयाणंदं।
मोसाणंदं विदियं थेयाणंदं पुणो तइयं॥

रुद्रं कषाय सहितं जीवः संभवति हिंसानन्दम्।
मृषानन्दं द्वितीयं स्तेयानन्दं पुनस्तृतीयम्॥ ३६१॥

हवइ चउत्थं झाणं रुद्दं णामेण रक्खणाणंदं।
जस्स य माहप्पेण य णरयगई भायणो जीवो॥
भवति चतुर्थं ध्यानं रौद्रं नाम्ना रक्षणानन्दम्।
यस्य च माहात्म्येन नरकगतिभाजनो जीवः॥ ३६२॥

अर्थ– जिनजीव की कषाये अत्यन्त तीव्र होती है उसके रौद्रध्यान होता है। उस रौद्रध्यान के चार भेद है। हिंसा में आनन्द मानना

---

१. जिनेज्या पात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रियात् बुधैः॥

अर्थ– भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, पात्रदान देना, तथा समयानुसार पूजा और दान की विधि करना भद्रध्यान कहलाना है। ऐसा ध्यान यथोचित गृहस्थ धर्म में ही होता है। इसीलिये विद्वान लोग इसे धर्मध्यान कहते है।

हिंसानन्द रौद्रध्यान है। झूठ बोलने मे आनंद मानना मृषानंद आर्तध्यान है। चोरी मे आनन्द मानना स्तेयानंद नाशक तीसरा आर्तध्यान है। तथा बहुतसे परिग्रह की रक्षा में आनंद मानना रक्षणानंद वा परिग्रहानंद नाम का चौथा आर्तध्यान है। इस रौद्रध्यान का चिंतवन करने से यह जीव नरक का पात्र होता है।

गिहवाबाररयाणं गेहीणं इंदियत्थ परि कलियं।
अट्टज्झाण जायइ रुद्दं वा मोह छण्णाणं॥

गृहव्यापार रतानां गेहिनामिन्द्रियार्थ परिकलितम्।
आर्तध्यानं जायते रौद्रं वा मोहच्छन्नानाम्॥ ३६३॥

अर्थ- जो गृहस्थ घर के व्यापार में लगे रहते है और इन्द्रियों के विषयभूतपदार्थों मे संकल्प विकल्प करते रहते है उनके आर्तध्यान होता है तथा जिनके मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उनके रौद्रध्यान होता है।

झाणेहि तेहि पाव उप्पण्णं तं खवइ भद्दझाणेण।
जीवो उवसप जुत्तो देस जई णाणसंपण्णो॥

ध्यानै स्तैः पापं उत्पन्नं तत्क्षपयति भद्रध्यानेन।
जीवः उपशम युक्तो देशयतिः ज्ञानसम्पन्नः॥ ३६४॥

अर्थ- इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान से जो पाप उत्पन्न होता है उसको यह उपशम परिणामों को धारण करने वाला और सम्यग्ज्ञान का धारण करने वाला देश व्रती श्रावक अपने भद्रध्यान से नाश कर देता है।

आगे भद्रध्यान को कहते है।

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेइ भोयपरिमुक्को।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए॥

भद्रस्स लक्षणं पुनः धर्मं चिन्तयति भोग मरिमुक्तः।
चिन्तयित्वा धर्मं सेवते पुनरपि भोगान यथेच्छया॥ ३६५॥

अर्थ– जो जीव भोगों का त्याग करता धर्म का चितवन करता है, और धर्म का चितवन करता हुआ भी फिर भी अपनी इच्छानुसार भोगों का सेवन करता उसके भद्रध्यान समझना चाहिये। भावार्थ– भोगों का सेवन करता हुआ भी जो धर्मध्यान धारण करता है उसे भद्रध्यान समझना चाहिये।

आगे धर्मध्यान के भेद बतलाते है।

धरमज्झाणं भणियं आणापायाविवाय विचयं च।
संठाणं विचयं तह कहियं झाणं समासेण॥

धर्म्यध्यानं भणितं आज्ञापायविपाकविचयं च।
संस्थान विचयं तथा कथितं ध्यानं समासेन॥ ३६६॥

अर्थ– आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय ये चार अत्यंत संक्षेप से धर्मध्यान के भेद है।

आगे आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का स्वरुप कहते है।

छद्दव्वणवपयत्था सत्तवि तच्चाइं जिणावरएण्ण।
चिंतइ विसय विरत्तो आणा विचयं तु तं भणियं॥

षड्द्रव्यनवपदार्थान् सप्तापि तत्त्वानि जिनवराज्ञया।
चिन्तयति विषयविरक्तः आज्ञाविचयं तु तद् भणितम्॥३६७॥

अर्थ– जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर भगवान् की आज्ञा प्रमाण छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्वों का चितवन करता है उसको आज्ञा विचय नाम का पहला धर्मध्यान कहते है।

आगे अपाय विचय को कहते है।

असुह कम्मस्स णाणो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण।
इय चिंतंतस्स हवे अपाय विचयं परं झाणं॥

अशुभकर्मणः नाशः शुभस्य वा भवति केनोपायेन।
एतच्चिन्तयतः भवेदपायविचयं परं ध्यानम्॥ ३६८॥

अर्थ– अपाय शब्द का अर्थ नाश है। इन अशुभ कर्मो का नाश

किस उपाय से होगा अथवा शुभ कर्मों का आस्रव किस उपाय से होगा इस प्रकार जो जीव चिंतवन करता है उसका वह ध्यान अपाय विजय नाम का दूसरा उत्तम धर्मध्यान कहलाता है।

आगे विपाक विचय को कहते है।

असुह सुहस्स विवाओ चिंतइ जीवाण चउगइययाणं।
विवाविचयं झाणं भणियं तं जिणवरिंदेहिं॥

अशुभ शुभस्य विपाकं चिन्तयति जीवानां चतुर्गति गतानाम्।
विपाक विचयं ध्यानं भणितं तज्जिनवरेन्द्रैः॥ ३६९॥

अर्थ– चारों गतियों मे परिभ्रमण करने वाले जीवों के शुभ कर्मों के उदय को तथा अशुभ कर्मों के उदय को जो चिंतवन करता है उसका वह ध्यान विपाकविचय कहलाता है। ये जीव अपने अपने शुभ अशुभ कर्मों के उदय से ही सुख दुःख भोगते है ऐसा चिंतवन करना और इन दुखी जीवों का दुःख किस प्रकार दूर हो, ये श्रेष्ठ मार्ग में किस प्रकार लगें इस प्रकार का चिंतवन करना अपाय विचय नाम का तीसरा धर्म-ध्यान है।

आगे संस्थान विचय को कहते है।

अह उड्ढतिरिय लोए चिंतेइ सपज्जयं ससंठाणं।
विचयं संठाणस्स य भणियं झाणं समासेण॥

अध ऊर्ध्वं तिर्यग्लोकं चिन्तयन्ति सपर्ययं ससंस्थानम्।
विचयं संस्थानस्य च भणितं ध्यानं समासेन॥ ३७०॥

अर्थ– संस्थान आकार को कहते है। लोक के तीन भाग है अधो लोक, मध्य लोक, वा तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक इनका चिंतवन करना तथा इनमे भरे हुए पदार्थों का उनकी पर्यायों का उन सबके आकारों का चिंतवन करना अत्यन्त संक्षेप से संस्थान विचय नाम का चौथा धर्मध्यान कहलाता है।

आगे यह धर्मध्यान कहां होता है सो कहते है।

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे ।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥

मुख्यं धर्मध्यानमुक्तं तु प्रमादविरहिते स्थाने ।
देश विरते प्रमत्ते उपचारेवर्णव ज्ञातव्यम् ॥ ३७१ ॥

अर्थ– यह धर्मध्यान मुख्यता से प्रमादरहित सातवें गुणस्थान मे होंता है तथा देश विरत पांचवे गुणस्थान मे और प्रमत्त संयत छठे गुण स्थान में भी यह धर्मध्यान उपचार से होता है। ऐसा समझना चाहिये।

आगे दूसरे प्रकार से धर्मध्यान का स्वरुप कहते है।

दहलक्खण संजुत्तो अहवा धम्मोति वण्णिओ सुत्ते ।
चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्तं ॥

दशलक्षणसंयुक्तोऽथवा धर्म इति वर्णितः सूत्रे ।
चिन्ता या तस्य भवेत् भणितं तद्धर्मध्यानमिति ॥ ३७२ ॥

अर्थ– अथवा सिद्धांत सूत्रों में उत्तमक्षमा आदि दश प्रकार का धर्म बतलाया है उन दशों प्रकार के धर्मों का चिंतवन करना भी धर्म्य-कहलाता है।

अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थु पुणो न सो अप्पा ।
झायंताण कहियं धम्मझाण मुणिदेहिं ॥

अथवा वस्तुस्वभावो धर्मः वस्तु पुनश्च स आत्मा ।
ध्यायमानानां तत्कथितं धर्म्यध्यानं मुनीन्द्रैः ॥ ३७३ ॥

अर्थ– वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते है तथा वस्तुओं मे वा पदार्थों में मुख्य वस्तु वा मुख्य पदार्थ आत्मा है। इसलिये उस आत्मा का ध्यान करना तथा जिसके शुद्ध स्वरुप का ध्यान करना धर्म्यध्यान है। ऐसा जिनेंद्रदेव नें कहा है।

आगे इस धर्म्यध्यान के दूसरे प्रकार के भेद बतलाते है।

तं पुण दुविहं भणियं सालंबं तह पुणो अणालंबं ।
सालंबं पंचण्हं परमेट्ठीणं सरूवं तु ॥

तत्स्फुटं द्विविधं भणितं सालम्बं तथा पुनः अनालम्बम् ।
सालम्बं पंचानां परमेष्ठिनां स्वरूपं तु ॥ ३७४ ॥

अर्थ– वह धर्म्यध्यान दो प्रकार है एक आलंबन सहित और दूसरा आलंबन रहित । इन दोनों में से पंच परमेष्ठी के स्वरूप का चितवन करना है उसको सालंब ध्यान कहते है ।

आगे अनुक्रमसे पंच परमेष्ठियों का स्वरूप कहते है ।

हरिरइय समवसरणो अट्ठमहापाडिहेर संजुत्तो ।
सियकिरणविप्फुरंतो झायव्वो अरुहपरमेष्ठी ॥

हरिरचितसमवशरणोऽष्ट महाप्रातिहार्यसंयुक्तः ।
सितकिरणैः विस्फुरन् ध्यातव्योऽर्हत्परमेष्ठी ॥ ३७५ ॥

अर्थ– जो इन्द्र के द्वारा बनाये हुए समवशरण में विराजमान है तथा आठ महा प्रतिहार्यों से सुशोभित है और जो अपनी प्रभाकी श्वेत किरणों से देदीप्यमान हो रहें है ऐसे भगवान जिनेंद्रदेव को अरहंत परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये ।

णट्ठट्ठ कम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो ।
सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेष्ठी ॥

नष्टाष्ट कर्मबन्धोऽष्टगुणस्थश्च लोक शिखरस्थः ।
शुद्धो नित्यः सूक्ष्मः ध्यातव्यः सिद्धपरमेष्ठी ॥ ३७६ ॥

अर्थ– जिन के आठों कर्म सर्वथा नष्ट हो गये है, जो सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सुशोभित है, लोक शिखर पर विराजमान है, जिनका आत्मा अत्यंत शुद्ध है, नित्य है, और सूक्ष्म है ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये ।

छत्तीस गुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंच आयारो ।
सिस्साणुग्गह कुसलो भणिओ सो सूरिपरमेट्ठी ॥

षट्त्रिंशद्गुणसमग्रः नित्यं आचरति पंचाचारम् ।
शिष्यानुग्रहकुशलः भणितः स सूरिपरमेष्ठी ॥ ३७७ ॥

अर्थ– जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हों जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तप आचार इन पांचों आचारों का प्रतिदिन पालन करते है तथा जो शिष्यों के अनुग्रह करने में अत्यंत कुशल होते है उनको आचार्य परमेंष्ठी कहते है।

१– बारह तप, दश धर्म, पांच आचार, छह आवश्यक, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठी के है।

अथवा आचार्य परमेष्टी के ये भी छत्तीस गुण है।

१ पंचाचार का पालन करना २ आधारवत्त्व ३ व्यवहारित्व ४ प्रकारकत्व ५ अपायोपायोपदेशकत्व ६ उत्पीलक ७ अपरिश्रविता ८ निर्वापक ९ नग्नत्व १० उद्देशिकाहारत्यागत्व ११ शय्याधराशनविवर्जितवृत्तिता १२ राजपिंडग्रहणविर्जितवृत्तिता १३ कृतिकर्मनिरतत्त्व १४ व्रतारोपणयोग्यत्व १५ सर्वज्येष्ठता १६ प्रतिक्रमणपडिताचार्यता १७ मासैकवासिता १८ वार्षिकयोगयुक्तत्व १९ अनशनतपोः युक्तत्व २० अवमौदर्यतपोयुक्तता २१ वृत्तिपरिसंख्यानसहितत्त्व २२ रसपरित्यागपरिपुष्टता २३ विविक्तशय्यासनतपोयुक्तता २४ कायक्लेश तपोयुक्तता २५ प्रायश्चित्ताचार्यता २६ विनयनिरतत्त्व २७ वैयावृत्तिसंयुक्ता २८ स्वाध्यायधारकता २९ व्युत्सर्गसहितता ३० ध्याननिष्ठता ३१ सामायिकसहितत्व ३२ स्तवननिरतता ३३ वंदनानिरतता ३४ प्रतिक्रमणनिरतता ३५ प्रत्याख्याननिरतता ३६ कायोत्सर्गसंगत्व।

आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस गुण

१ पंचाचार गुण– जो दर्शना चार, ज्ञाना चार, चरित्रा चार, तप अचार, और वीर्याचार इन पांचों आचारों को स्वयं पालन करें और अन्य मुनियों से पालन करावें।

२ आधारवत्व गुण– जो ग्यारह अंग नौ पूर्व अथवा दश पूर्व अथवा चौदह पूर्व श्रुतज्ञान को जानने वाले वा धारण करने वाले हो।

३ व्यवहारित्व गुण– जो सामायिक, छेदो प्रस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र को पालन करें तथा अन्य मुनियों से पालन करावें।

४ प्रकारकत्व गुण - समाधि मरण धारण करने वाले क्षपक साधु के लिये परिवार का काम करना उनकी परिचर्या करना प्रकारकता गुण है।

५ आपायापायोपदेकत्व गुण– आलोचना करने वाले मुनियों के चित्त में यदि कुछ कुटीलता भी हो तो भी उनके गुण दोष दोनों को प्रकट कर दोषों का स्पष्ट कर लेना।

६ उत्पीलक गुण– जिन मुनियों के हृदय मे कुछ कुटिलता हो और उन्होंने अपने अतिचारों को अपने मन में छिपा रक्खा हो उन अतिचारों को भी अपनी कुशलता से बाहर प्रकट करा लेना।

७ अपरिस्रावित गुण– जिस प्रकार पीया हुआ रस बाहर नहीं निकलता उसी प्रकार किसी क्षपक मुनिने अपनी आलोचना में जो दोष कहे है उनको कभी प्रकट नहीं करना।

८ निर्यापक गुण– जो समाधिमरण धारण करने क्षपक साधु, क्षुधा तृषा आदि परीषहों से दुखी हो रहे हो उनके उस दुःख को अनेक प्रकार की कथा सुनाकर दूर करना और इनको समाधिमरण में दृढ करना।

९ नग्नत्व गुण– सूती ऊनी रेशमी वृक्ष के पत्ते छाल आदि सब प्रकार के वस्त्रों का त्याग कर नग्न वा दिगम्बर अवस्था धारण करना।

१० उद्देशिकाहारत्याग गुण– जो उद्देशयुक्त आहार के त्यागी हो एवं अन्य श्रमणों के लिये किये हुए आहार के भी त्यागी हों।

११ शय्याधरासन विवर्जित गुण– जो शय्या पृथ्वी आसन सबके त्यागी हों उनका संस्कार आदि भी न करते हों।

१२ राज पिंड ग्रहण विवर्जित गुण– जो राजा मंत्री सेनापति कोतवाल आदि का आहार न ग्रहण करते हों।

१३ कृति कर्म निरत गुण– जो छहों आवश्यकों को स्वयं पालन करते हो तथा अन्य मुनियों से कराते हों।

१४ व्रतारोपण योग्य गुण– उद्देशयुक्त आहार का त्याग करने वाले दिगम्बर अवस्था धारण करनेवाले और पंज परमेंष्ठी की भक्ति करने वाले आचार्य स्वयं व्रत पालन करने और अन्य मुनियों को दीक्षा देकर महाव्रतों को धारण कराने की योग्यता रखना ।

१५ सर्व ज्येस्ष्ठत्व गुण– जो आर्यिका क्षुल्लक साधु उपाध्याय आदि सब से अधिक श्रेष्ठता धारण करते हों ।

१६ प्रतिक्रमण पंडीतत्व गुण– जो आचार्य मन वचन काय से किसी भी प्रकार का अपराध हो जाने पर उसकी शुद्धि के लिये प्रति क्रमण करने की दक्षता धारण करने वाले हों ।

१७ मासैकवासित्व गुण– जो मोह और सुख का त्याग करने के लिये किसी भी स्थान पर एक महीने से अधिक न रहते हों ।

१८ वार्षिक योग युक्तत्व गुण– जीवों की रक्षा के लिये वर्षा ऋतु में चार महीने तक एक ही स्थान पर रहना ।

१९ अनशन तपोयुक्तता गुण - इन्द्रियों को जीतने के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास धारण करना ।

२० अवमोदर्य तपोयुक्तता गुण– प्रमाद दूर करने के लिये बत्तीस ग्रास न लेकर दो चार दश आदि ग्रास ही लेकर अल्प आहार लेना ।

२१ वृत्ति परिसंख्यान गुण– आशा का त्याग करने के लिये किसी घर का अन्न आदि का संकल्प कर (यदि ऐसा घर होगा वा ऐसा दाता होगा वा ऐसा अन्न होगा तो आहार लूंगा नहीं तो ऐसा संकल्प कर आहार के लिये निकलना ।

२२ रसपरि त्याग– दूध दही घी मीठा आदी रसों का त्याग करना ।

२३ विविक्तशय्यासन तप– जन्तुओं से रहित, स्त्रियों से रहित' मनमें विकार उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित गुफा सूना घर आदि एकांत स्थान मे शय्या आसन आदि धारण करना ।

२४ काय क्लेशत्व गुण– ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर, जाडे के दिनों मे वन में वा नदी के किनारे, वर्षा मे वृक्ष के नीचे ध्यान धारण कर सुख की मात्रा दूर करने के लिये शरीर को कष्ट पहुंचाना।

२५ प्रायश्चित्ताचारत्व गुण– लगे हुए दोषों को शोधन करने के लिये प्रायश्चित्त लेना और व्रतों को शुद्ध रखना।

२६ विनय निरतत्त्व गुण– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को धारण कर उनका विनय करना उपचार विनय करना रत्नत्रयको धारण करने वालों का विनय करना।

२७ वैयावृत्तित्व गुण– आचार्य उपाध्याय साधु आदि दश प्रकार के मुनियों की शरीर जन्य पीडा को दूर करने के लिये उनकी सेवा सुश्रुषा करना।

२८ स्वाध्याय धारकत्वगुण-वाचना, पृच्छना; अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के द्वारा जिनागमका स्वाध्याय करना।

२९ व्युत्सर्गत्व गुण– बाह्याभ्यंतर परिग्रहो का त्याग करना' गुप्तियों का पालन करना।

३० ध्यान निष्ठत्व गुण– आर्त रौद्र दोनों ध्यानों का त्याग कर धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करना।

३१ सामायिकत्व गुण– रागद्वेष को दूर करने के लिये छह प्रकार का सामायिक करना।

३२ स्तव निरतत्त्व गुण– प्रति दिन चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

३३ वंदना निरतत्त्व गुण– किसी एक तीर्थंकर की स्तुति करना

३४ प्रतिक्रमण निरतत्त्व गुण–ईयापथ शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना। दैवसिक प्रतिक्रमण करना पाक्षिक मासिक चातुर्मासिक वार्षिक प्रतिक्रमण करना।

३५ प्रत्याख्यान निरतत्त्व गुण– पूर्वोपार्जित क र्मोको नाश करने

को, उदय में आये हुए कर्मों का नाश करने के लिये समस्त विकारों का त्याग करना।

३६ कायोत्सर्ग संगतत्व गुण– निद्रा तंद्रा आदि दूर करने के लिये खड्डासन से योग धारण कर शरीर से ममत्व का त्याग करना।

अज्झावयगुण जुत्तो धम्मोवदेसयारि चरियट्ठो।
णिस्सेसागम कुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ॥

अध्यापनगुणयुक्तो धर्मोपदेशकारो चर्यास्थः।
निःशेषागमकुशलः परमेष्ठी पाठको ध्येयः॥ ३७८॥

अर्थ– जो मुनि अध्यापन कार्य मे शिष्यों को पढाने में अत्यंत निपुण है जो सदा काल धर्मोपदेश देते रहते है जो अपने चारित्र में स्थिर रहते है और जो समस्त आगम में कुशल होते है अथवा जो द्वादशांग के पाठी होते है उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते है, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये।

उग्गतवतविय गत्तो तियाल जोएण गमिय अहरत्तो।
साहिय मोक्खस्स पओ झाओ सो साहु परमेट्ठी॥

उग्रतपस्तपितगात्रः त्रिकालयोगेन गमिताहोरात्रः।
साधितमोक्षपदः ध्येयः स साधुपरमेष्ठी॥ ३७९॥

अर्थ– जो प्रतिदिन तीव्र तपश्चरण करते है प्रतिदिन त्रिकाल योग धारण करते है और सदा काल मोक्ष मार्ग को सिद्ध करते रहते है उनको साधु परमेष्ठी कहते है। ऐसे साधु परमेष्ठी ध्यान करने योग्य है।

आगे इन के ध्यान करने का फल कहते है।

एवं तं सालवं धम्मज्झाणं हवेइ नियमेण।
झायंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं॥

आचार्य परमेष्ठी अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त देकर उनके व्रतों को निर्दोष कहते है यह शिष्यों का सब से बडा उपकार है।

एवं तत्सालम्बं धर्मध्यानं भवति नियमेन ।
ध्यायमानानां जायते विनिर्जरा अशुभकर्मणाम् ॥ ३८० ॥

अर्थ– ऊपर लिखे इन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान करना नियम पूर्वक आलंबन सहित धर्म्यध्यान कहलाता है। इन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

आगे निरालंब ध्यान के लिये कहते है।

ज पुणु वि निरालंबं तं झाणं गयपमाय गुणठाणे ।
चत्तेगहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरुवस्स ॥

यत्पुनरपि निरालम्बं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने ।
त्यक्त गृहस्य जायते धृतजिनलिंगपुरुषस्य ॥ ३८१ ॥

अर्थ– जो गृहस्थ अवस्थाको छोडकर जिनलिंग धारण कर लेता है। अर्थात् दीक्षा लेकर निर्ग्रंथ मुनि हो जाता है और जो मुनि होकर भी अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान मे पहुंच जाता है तब उसीके निरालंब ध्यान होता है। गृहस्थ अवस्था में निरालंब ध्यान कभी नहीं हो सकता।

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥

यो भणति कोप्येव अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानम् ।
शुद्धं च निरालम्बं न मनुते स आगमं यतीनाम् ॥ ३८२ ॥

अर्थ– यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालंब और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिये कि इस प्रकार कहनें वाला पुरुष मुनियों के शास्त्रो को ही नहीं मानता है।

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तम्हा स देस विरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥

कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि जानीहो ध्यानानि ।
तस्मात्स देशविरतो मुख्य धर्म्य न ध्यायति ॥ ३८३ ॥

अर्थ– दृष्टिवाद नाम के बारहवे अंग मे गुणस्थान को लेकर ही ध्यान का स्वरुप बतलाया है जिससे सिद्ध होता है कि देशविरती गृहस्थ मुख्य धर्म्यध्यान का ध्यान नहीं कर सकता ।

आगे इसका कारण बतलाते है ।

किं ज सो गिहवंतो वहिरतरगंथपरिमिओ णिच्चं ।
बहु आरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धपप्पाणं ॥

किं यत् स गृहवान् बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो नित्यम् ।
बहुवारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानम् ॥ ३८४ ॥

अर्थ– गृहस्थों के मुख्य धर्म्यध्यान न होनें का कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रुप मे रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते है इसलिये वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता ।

घर बाबारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे ।
झाणठ्ठियस्स पुरओ चिठ्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥

गृह व्यापारा णि कियन्ति करणीयानि सन्ति तेन तानि सर्वाणि ।
ध्यान स्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्षणः ॥ ३८५ ॥

अर्थ– गृहस्थों को घर के कितने ही व्यापार करने पडते है । जब वह गृहस्थ अपनें नेत्रों को बंद कर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आ जाते है ।

अह ढिकुलियां झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी ।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥

अथ ढिकुलिकं ध्यानं ध्यायति अथवा स स्वपिति ध्यानी ।
स्वपतः ध्यातव्यं न तिष्ठति चित्ते विकले ॥ ३८६ ॥

अर्थ– जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेकी के समान होता है । जिस प्रकार ढेंकी धान कूटने मे लगी रहती है परंतु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको

तो परिश्रम मात्र ही होता है इसी प्रकार गृहस्थों का निरालंब ध्यान वा शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है। अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला वह गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है। जब वह सो जाता है तब उसके व्याकुल चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी नहीं ठहर सकता। इस प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।

झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स।
आलंवण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा॥

ध्यानाना सन्तानं अथवा जायते तस्य ध्यानस्य।
आलम्बन रहितस्य च न तिष्ठति चित्तं स्थिरं यस्मात् ॥३८७॥

अर्थ– अथवा यदि वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतानरूप परंपरा चलती रहती है। इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करनेवाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता। भावार्थ– गृहस्थ का चित्त स्थिर नहीं रहता इसलिये उसके निरालंब ध्यान कभी नहीं हो सकता। यदि वह गृहस्थ निरालंब ध्यान करनें का प्रयत्न करता है तो निरालंब ध्यान तो नहीं होता परंतु किसी भी ध्यान की संतान परंपरा चलती रहती है।

अब आगे गृहस्थों के करनें योग्य ध्यान बतलाते है।

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंच परमेट्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसि॥

तस्मात् स सालम्वं ध्यायतु ध्यानमपि गृहपतिर्नित्यम्।
पंच परमेष्ठिरुपमथवा मंत्राक्षरं तेषाम् ॥ ३८८ ॥

अर्थ– इसलिये गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना चाहिये। या तो उसे पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये अथवा पंच परमेष्ठी के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिये।

जइ मणइ को वि एवं गिहवावारेसु वट्टमाणो वि।
पुण्णे अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुवाडेई॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि भणति कोप्येवं गृहव्यापारेषु वर्तमानोऽपि ।
पुण्येनास्माकं न कार्यं यत्संसारे सुपातयति ॥ ३८९ ॥

अर्थ–कदाचित् कोई गृहस्थ यह कहे कि यद्यपि हम गृहस्थ व्यापारों में लगे रहते है तथापि हमे सावलंब ध्यान कर पुण्य उपाजन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पुण्य उपार्जन करने से भी तो इस जीव को संसार में ही पडना पडेगा ।

ऐसा कहने वाले के लिये आचार्य उत्तर देते है ।

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्ख सुहम जीवाई ।
इय जिणवरेहिं भणियं वज्झंतरणिग्गंथरूवेहिं ॥

मैथुनसंज्ञारूढो मारयति नवलक्षयसूक्ष्म जीवान् ।
एतज्जिनवरैः भणितं बाह्याभ्यन्तरनिर्ग्रन्थरूपैः ॥ ३९० ॥

अर्थ– आचार्य कहते है कि देखो जो पुरुष मैथुन संज्ञा को धारण करता है अपनी स्त्री का सेवन करता है वह गृहस्थ नौ लाख सूक्ष्म जीवों का घात करता है । ऐसा बाह्य अभ्यंतर परिग्रह रहित भगवान् जिनेंद्रदेवने कहा है । इसके सिवाय-

गेहे वट्टंतस्स य वावारसयाइं सया कुणंतस्स ।
आसवइ कम्म मसुहं अद रउद्दे पवत्तस्स ॥

गेहे वर्तमानस्य च व्यापारशतानि सदा कुर्वतः ।
आस्रवति कर्माशुभं आर्तरौद्रप्रवृत्तस्य ॥ ३९१ ॥

अर्थ– जो पुरुष घरमें रहता है और सदाकाल गृहस्थी के सैकडों व्यापार करता रहता है वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान मे भी अपनी प्रवृत्ति करता रहता है इसलिये उसके सदा काल अशुभ कर्मों का ही आस्रव होता रहता है ।

जइ गिरिणई तलाए अणवरयं पविसए सलिल परिपुण्णं ।
मण वयतणु जोएहिं पविसइ असुहेहिं तह पावं ॥

यथा गिरिनदी तडागेऽनवरतं प्रविशति सलिलपरिपूर्णं ।
मनवचनतनुयोगैः प्रविशति अशुभैः तथा पापम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ– जिस प्रकार किसी पर्वत से निकलती हुई नदी का पानी किसी जल से भरे हुए तालाब मे निरंतर पडता रहता है उसी प्रकार गृहस्थी के व्यापार में लगे हुए पुरुष के अशुभ मन वचन काय इन तीनों अशुभ योगों द्वारा निरंतर पाप कार्यों का आस्रव होता है।

इसलिये ऐसे गृहस्थों के लिये आचार्य उपदेश देते है–

जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंतयं पावं ।
पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ ॥

यावन्न त्यजति गृहं तावन्न परिहरति एतत्पापम् ।
पापम परिहरन् हेतुं पुण्यस्य मा त्यजतु ॥ ३९३ ॥

अर्थ– इस प्रकार ये गृहस्थ लोग जब तक घर का त्याग नहीं करते गृहस्थ धर्म को छोड कर मुनि धर्म धारण नहीं करते तब तक उनसे ये पाप छूट नहीं सकते। इसलिये जो गृहस्थ पापों को नहीं छोड ना चाहते उनको कम से कम पुण्य के कारणों को तो नहीं छोडना चाहिये। भावार्थ-गृहस्थों को सदा काल पाप कर्मों मे ही नहीं लगे रहना चाहिये किंतु साथ मे जितना कर सके उतना पुण्य कर्मों का भी उपार्जन करते रहना चाहिये। तथा पुण्य उपार्जन करने के लिये सावलंबन ध्यान वा भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा अथवा सुपात्र दान देते रहना चाहिये।

आगे आचार्य फिर भी कहते है।

सा मुक्क पुण्णहेउं पावस्सासवं अपरिहरतो य ।
वज्झइ ऊवेण णरो सो दुग्गइ जाड मरिउणं ॥

मा त्यजपुण्य हेतुं पापस्यास्रवं मपरिहरंश्च ।
वध्यते पापेन नरः सदुर्गति याति मृत्वा ॥ ३९४ ॥

अर्थ– जो गृहस्थ पाप रुप आस्रवों का त्याग नहीं कर सकते अर्थात् गृहस्थ धर्म छोड नही सकते उनको पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो मनुष्य सदाकाल पापों का बंध करता रहता है वह मनुष्य मर कर नरकादिक दुर्गति को ही प्राप्त होता है।

आगे कैसा पुरुष पुण्य के कारणों का त्याग कर सकता है सो कहते है ।

पुण्णस्स कारणाइं पुरिसो परिहरउ जेण णियचित्तं ।
विसय कसाय पउत्त णिग्गहियं हयपमाएण ॥

पुण्यस्य कारणानि पुरुषः परिहरतु येन निजचित्तम् ।
विषकषायप्रयुक्तं निगृहीतं हतप्रमादेन ॥ ३९५ ॥

अर्थ– जिस पुरुष ने अपने समस्त प्रमाद नष्ट कर दिये है तथा इन्द्रियों के विषय और कषाये में लगे हुए अपने चित्तको जिसने सर्वथा अपने वशमें कर लिया है ऐसा पुरुष अपने पुण्य के कारणों का त्याग कर सकता है । भावार्थ– पुण्य के कारणों का त्याग सातवे गुणस्थान में होता है । इस से पहले नहीं होता इसलिये गृहस्थों को तो पुण्य के कारण कभी नहीं छोडने चाहिये ।

आगे यही बात दिखलाते है ।

गिहवावारत्तो गहियं जिणलिंग रहियपसपाओ ।
पुण्णस्स कारणाइं परिहरउ सया वि सो पुरिसो ॥

गृहव्यापारविरक्तो गृहीतजिनलिंगः रहितस्वप्रमादः ।
पुण्यस्य कारणानि परिहरतु सदापि स पुरुषः ॥ ३९६ ॥

अर्थ– जिस पुरुष ने गृहस्थ के समस्त व्यापारों का त्याग कर दिया है जिसने भगवान जिनेन्द्रदेव का निर्ग्रंथ लिंग धारण कर लिया है तथा निर्ग्रंथ लिंग धारण करने के अनंतर जिसने अपने समस्त प्रमादों का त्याग कर दिया है । ऐसे पुरुष को ही सदा के लिये पुण्य के कारणों का त्याग करना उचित है, अन्यथा नहीं । भावार्थ– प्रमादों का त्याग सातवे गुणस्थान में होता है । सातवे गुणस्थान मे ही वे मुनि उपशम श्रेणी में अथवा क्षपक चढते है । उपशम श्रेणी में कर्मों का उपशम होता रहता है । और क्षपक श्रेणी मे कर्मो का क्षय होता रहता है । इसलिये वहांपर पुण्य के कारण अपने आप छूट जाते हैं । गृहस्थों को पुण्य के कारण कभी नहीं छोडने चाहिये ।

असुहस्स कारणेहिं य कम्म छक्केहि णिच्चं वट्टतो ।
पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भयेण णिच्छंतो ॥

अशुभस्य कारणे च कर्मषट्के नित्यं वर्तमानः ।
पुण्यस्य कारणानि बंधस्य भयेन नेच्छन् ॥ ३९७ ॥

ण मुणइ इय जो पुरिसो जिण कहिय पयत्थ णवसरूवं तु ।
अप्पाणं सुयण मज्झे हासस्स य ठाणयं कुणइ ॥

न मनुते एवत् यः पुरुषो जिनकथित पदार्थ नवस्वरूपं तु ।
आत्मानं सुजनमध्ये हास्यस्य च स्थानकं करोति ॥ ३९८ ॥

अर्थ– यह गृहस्थ अशुभ कर्मों के आने के कारण ऐसे असिमसि कृषि वाणिज्य आदि छहो कर्मों मे लगा रहता है अर्थात् इन छहों कर्मो के द्वारा सदा काल अशुभ कर्मो का आस्रव करता रहता है तथापि जो केवल कर्मबध के भय से पुण्य के कारणों को करने की इच्छा नहीं करता, कहना चाहिये कि वह पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरुप को भी नहीं मानता, तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुषों के मध्य में हंसी का स्थान बनाता है । भावार्थ– वह हंसी का पात्र होता है। इसलिये किसी भी गृहस्थ को पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये ।

आगे पुण्य के भेद बतलाते है –

पुण्णं पुव्वायरिया दुविहं अक्खंति सुत्तउत्तीए ।
मिच्छ पउत्तेण कयं विवरियं सम्म जुत्तेण ॥

पुण्यं पूर्वाचार्या द्विविधं कथयन्ति सूत्रोक्त्या ।
मिथ्यात्व प्रयुक्तेन कृतं विपरीतं सम्यकत्वयुक्तेन ॥ ३९९ ॥

अर्थ– पूर्वाचार्यों ने अपने सिद्धांत सूत्रों के अनुसार उस पुण्य के दो भेद बतलाये है । एक तो मिथ्यादृष्टी पुरुष के द्वारा किया हुआ पुण्य और दूसरा इसके विपरीत सम्यग्दृष्टी के द्वारा किया हुआ पुण्य ।

आगे मिथ्यादृष्टी के द्वारा किये हुए पुण्य को और उसके फल को बतलाते है ।

मिच्छादिट्ठीपुण्णं फलइ कुदेवेसु कुणर तिरिएसु ।
कुच्छिय भोग धरासु य कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥

मिथ्यादृष्टिपुण्यं फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सित भोगधरासु च कुत्सित पात्रस्य दानेन ॥ ४०० ॥

अर्थ– मिथ्या दृष्टी पुरुष प्रायः कुत्सित पात्रों को दान देता है इसलिये वह पुरुष उस कुत्सित दान के फल से कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है, नीचे तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, और कुभोग भूमियों मे उत्पन्न होता है ।

जइ वि सुजायं बीयं ववसाय पउत्तओ बिजइ कसओ ।
कुच्छिय खेत्ते ण फलइ तं बीय जह तहा दाणं ।

यद्यपि सुजातं बीजं व्यवसायप्रयुक्तो वपति कृषकः ।
कुत्सित क्षेत्रे न फलति तद्बीजं यता तथा दानम् ॥ ४०१ ॥

अर्थ– यद्यपि किसान किसी उत्तम जाति के बीज को विधिपूर्वक (भूमि को अच्छी तरह जोत कर) बोता है तथापि कुत्सित खेत मे बोने से उस पर फल नहीं लगते इसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दान देने से उसका कुछ भी फल नहीं मिलता है ।

जइ फलइ कह वि दाणं कुच्छिय जाईहिं कुच्छिय सरीरं ।
कुच्छिय भोए दाउं पुणरवि पाडेइ संसारे ।

यदि फलति कथमपि दानं कुत्सित नातिषु कुत्सितशरीरम् ।
कुत्सित भोगान् दत्वा पुनरपि पातयति संसारे ॥ ४०२ ॥

अर्थ– यदि किसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का फल मिलता भी है तो कुत्सित जाति मे उत्पन्न होना, कुत्सित शरीर धारण करना और कुत्सित भोगोपभोगों का प्राप्त होना आदि कुत्सित रूप ही फल मिलता है तथा कुत्सित पात्रों को दिया हुआ वह दान जीव-को चतुर्गति रूप इस संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है ।

संसार चक्कवाले परिब्भमंतो हु जोणि लक्खाइं ।
पावइ विविहे दुक्खे विरयंतो विविह कम्माइं ॥

संसार चक्रवाले परिभ्रमन् हि योनिलक्षाणि ।
प्राप्नोति विविधान् दुःखाग् विरचयन् विविधकर्माणि ॥ ४०३॥

अर्थ– कुपात्रों को दान देनें वाला पुरुष चौरासी लाख योनियों में भरे हुए इस संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के कर्मों का उपार्जन करता रहता है और उन अशुभ कर्मों के फल से अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है। इस प्रकार मिथ्य दृष्टियों के द्वारा किय हुए पुण्य का स्वरुप और उसका फल कहा।

अब आगे सम्यग्दृष्टि के द्वारा किये हुए पुण्य का फल बतलाते है।

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥

सम्सग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियसमात् ।
मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं न स करोति ॥ ४०४ ॥

अर्थ– सम्यग्दृष्टी के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टी पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। भावार्थ– कोई भी पुण्य कार्य कर उससे आगामी काल के भोगों की इच्छा करना या और कुछ चाहना निदान है, निदान नरक का कारण है। इसलिये उत्तम पुरुषों को निदान कभी नहीं करना चाहिये।

अकइयणियाणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो ।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥

अकृतनिदान सम्यग्दृष्टिः पुण्यं कृत्वा ज्ञानचरणस्थः ।
उत्पद्यते दिवि लोके शुभपरिणामः सुलेश्योऽपि ॥ ४०५ ॥

अर्थ– जिस सम्यग्दृष्टी पुरुष के शुभ परिणाम है, शुभ लेश्याएं है तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण करता है, ऐसा सम्यग्दृष्टी पुरुष यदि निदान नहीं करता है तो वह पुरुष मरकर स्वर्ग लोक में ही उत्पन्न होता है।

अंतरमुहुत्तमज्झे देहं चइऊण माणुसं कुणिमं ।
गिण्हइ उत्तमदेहं सुचरिय कम्माणु भावेण ।।

अन्तर्मुहुर्तमध्ये देह त्यक्त्वा मानुषं कुणिमम् ।
गृह्णाति उत्तमं देहं सुचरितकर्मानुभावेन ।। ४०६ ।।

अर्थ– ऊपर लिखा हुआ सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने पुण्य कार्य के प्रभाव से इस घृणित मनुष्य शरीर का त्याग कर अंतर्मुहूर्त में ही स्वर्ग में जाकर उत्तम शरीर प्राप्त कर लेता है ।

चम्मं रुहिरं मंसं मेज्जा अट्ठि च तह वसा सुक्कं ।
सिम्मं पित्तं अंतं मुत्तपुरीसं च रोमाणि ।।

चर्म रुधिर मांसं मेदोऽस्थि च तथा वसां शुक्रम् ।
श्लेष्म पित्तं अंत्रं मत्रं पुरीषं च रोमाणि ।। ४०७ ।।

णह दंत सिरण्हारु लाला सेउयं च णिमिस आलस्सं ।
णिद्दा तण्हा य जरा अंगे देवाण ण हि अत्थि ।।

नख दंत शिरानारुलालाः स्वेदकं च निमेषं आलस्यम् ।
निद्रा तंद्रा च जरा अंगे देवानां न हि सन्ति ।। ४०८ ।।

अर्थ– चर्म (चमडा) रुधि, मांस, मेदा, हड्डी, चर्बी, शुक्र, (वीर्य) कफ, पित्त, आंतें, मल, मूत्र, रोम, नख, दांत, शिरा, (नाडी नसें) नारु, लार, परीना, नेत्रों की टिमिकार, आलस्य, निद्रा, तंद्रा और बुढापा ये सब देवों के शरीर में कभी नहीं होते ।

सुइ अमलो वरवण्णो देहो सुह फास गंधसंपण्णो ।
बाल रवि तेयसरिसो चारुसरूवो सदा तरुणो ।।

शुचिः अमलो बरवर्णः देहः शुभस्पर्शगंधसम्पन्नः ।
बालरवितेजः सदृशः चारुस्वरुपः सदा तरुणः ।। ४०९ ।।

अणिमा महिमा लहिमा पावइ पागम्म तइ य ईसत्तं ।
वसयत्त कामरूवं एत्तियाई गुणो हि संजुत्तो ।।

अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं तथा चेशित्वम् ।
वशित्वं कामरूपं एतैः गुणैः संयुक्तः ॥ ४१० ॥

देवाण होइ देहो अइउत्तमेण पुग्गलेण संपुण्णो ।
सहजाहरण णिउत्तो अइरम्मो होइ पुण्णेण ॥

देवाना भवति देहोऽत्युत्तमेन पुग्दलेन सम्पूर्णः ।
सहजाभरणनियुक्तोऽतिरम्योभवति पुण्येन ॥ ४११ ॥

अर्थ– देवों का शरीर पुण्य कर्म के उदय से अत्यंत पवित्र होता है, अत्यंत निर्मल होता है, अत्यंत सुंदर वर्ण होता है, उनके शरीर का स्पर्श गंध अत्यंत शुभ होता है, उगते हुए सुर्य के तेज के समान उनका तेज होता है, उनका शरीर अत्यंत सुंदर और सदा काल तरूण अवस्था को धारण करता है, अणिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशत्व वशित्व कामरूप इन आठों गुणों से सुशोभित रहता है। अत्यंत उत्तम पुद्गलों से बना होता है। सब प्रकार से पूर्ण होता है। अत्यंत मनोहर होता है और अपनी स्थिती के अनुसार नियत समय पर हृदय से उत्पन्न हुए अमृत से परिपुष्ट होता है। देवों को ऐसा उत्तम शरीर पुण्य कर्म के उदय से ही प्राप्त होता है। ऊपर जो अणिमा महिमा आदि देवों के, शरीर के गुण बतलाये है उनका अर्थ इस प्रकार है। छोटे से छोटे शरीर को बना लेने की शक्ति होना अणिमा है, मेरु पर्वत से भी बडा शरीर बनाने की शक्ति होना महिमा है, वायु से भी हलका शरीर बनाने की शक्ति होना लघिमा है, पृथ्वी पर ठहर कर भी अपनी उंगली के अग्रभाग से मेरु पर्वत के शिखर को भी स्पर्श करने की शक्ति होना प्राप्ति है, जल में भूमि के समान गमन करने की शक्ति होना तथा भूमि मे जल के समान डूबना उछलना आदि की शक्ति होना प्राकाम्य है, तीनों लोकों की प्रभुता प्राप्त कर लेने की शक्ति होना ईशित्व है, समस्त जीवों को वश करने की शक्ति होना वशित्व है, तथा एक साथ अनेक रूप धारण कर लेने की अनेक शरीर बना लेने की शक्ति होना कामरूपत्व है। इस प्रकार देवों के शरीर में आठ ऋद्धियां होती है।

उप्पण्णो कणयमए कायक्कंतिहिं भासिये भवणे ।
पेच्छंतो रयणमयं पासायं कणय दित्तिल्लं ॥

उत्पन्नः कनकमये कायकान्तिभिः भासिते भवने ।
पश्यन् रत्नमयं प्रासादं कनक दीप्तिम् ॥ ४१२ ॥

अर्थ– इस प्रकार अपने पुण्य कर्म के उदय से वह जीव स्वर्ग में अपने शरीर की कांति से सुशोभित होने वाले सुवर्णमय भवन में वह देव उत्पन्न होता है। वहां पर वह सुवर्ण की कांति से सुशोभित ऐसे रत्नमय भवनों को देखता है।

अणुकूलं परियणयं तरलियणयणं च अच्छराणिवहं ।
पिच्छंतो णमिय सिरं सिर कइय करंजली देवे ॥

अनुकूलं परिजनकं तरलितनयनं च अप्सरोनिवहम् ।
पश्यन् नमित शीर्षान् शिरःकृतकरांजलीन् देवान् ॥ ४१३ ॥

अर्थ– वहां पर वह अपने परिजनों को अपने अनुकूल देखता है, जिनके सुंदर नेत्र अत्यंत चंचल है, ऐसी अप्सराओं के समूह के देखता है तथा जिन के मस्तक नम्रीभूत हो रहे है और जिन्होंने अपने हाथ जोड कर अपने मस्तक पर रख लिये है, ऐसे देवों को देखता है।

णिसुणंतो थोत्तसए सुर वर सत्थेणविरइए ललिए ।
तुं वुरु गाइयगीए वीणासद्देण सुइसुहए ॥

निःशृण्वन् स्तोत्रशतान् सुर वर सार्थेन विरचितान् ललितान् ।
तुम्बुरु गीतगीतान् वीणा शद्धेन श्रुति सुखदान ॥ ४१४ ॥

अर्थ– इसके सिवाय वह उत्पन्न हुआ देव अनेक उत्तम देवों के द्वारा बनाये हुए सैकडों सुंदर स्तोत्रों को सुनता है तथा कानों को सुख देने वाले और तुंवर जाति के देवों के द्वारा वीणा के साथ गाये हुए गीतों को सुनता है।

चिंतइ किं एवड्ढं मज्झ पउत्तं इमं पि किं जायं ।
किं ओ लग्गइ एसो अमरगणो विणयसंपण्णो ॥

चिन्तयति किमेतावन् मम प्रभुत्वं इदमपि किं जातम् ।
किमुत लगति एषः अमरगणः विनयसम्पन्नः ॥ ४१५ ॥

अर्थ– तदनंतर वह उत्पन्न हुआ देव अपने मन में चितवन करता है कि क्या यह सब मेरा प्रभुत्व है अथवा यह सब क्या है ? अथवा ऐसा मालूम होता है कि विनय को धारण करने वाले ये सब देव गण है ।

कोहं इह कस्सावोकेण विहाणेण इयं गहं पत्तो ।
तविओ को उग्गतवो केरिसियं संजमं विहियं ॥

कोऽहं इह कथमागतः केन विधानेन इदं गृहं प्राप्तः ।
तप्तं किमुग्रतपः कीदृशं संयमं विहितम् ॥ ४१६ ॥

अर्थ– तदनंतर वह देव फिर चितवन करता है कि मैं कौन हूं ? मैं इस भवन मे क्यों आ गया और किस प्रकार आ गया । मैंने ऐसा कौनसा उग्र तपश्चरण धारण किया था अथवा कौनसा संयम पालन किया था जिससे कि मैं यहां आकर उत्पन्न हुआ हूं ।

किं दाणं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काय सु भत्तीए ।
जेणाहं कयपुरण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥

किं दानं मया दत्तंकीदृश पात्राणं कया सुभक्त्या ।
येनाहं कृतपुण्य उत्पन्नो देवलोके ॥ ४१७ ॥

अर्थ– वह देव फिर भी चितवन करता है कि क्या मैंने पहले भवमें दान दिया था और दान भी दिया था तो कैसे पात्रको दिया था और किस उत्तम भक्ति से दिया था । जिससे मैं पुण्य उपार्जन कर इस देव लोक में आकर उत्पन्न हुआ हूं ।

इय चिंततो पसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण ।
जाणइ सो आइयभव विहियं धम्मप्पहावं च ॥

इति चिन्तयन् प्रसारयति अवधिज्ञानं तु भवस्वभावेन ।
जानाति स अतीत भवं विहितं धर्मप्रभावं च ॥ ४१८ ॥

अर्थ– इस प्रकार चितवन करता हुआ वह देव अपने साथ उत्पन्न हुए भवप्रत्यय अवधि ज्ञान को फैलाता है और उस अवधि ज्ञान से वह अपने पहले भवको जान लेता है तथा पहले भवमे उसने जो धर्म प्रभा–

वना की थी जिससे कि वह देव हुआ था, उसको भी जान लेता है।

पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो।
वंदेइ जिणावराणं णंदिसर पहुइ सव्वाइं॥

पुनारपि तमेव धर्मं मनसा श्रद्दधाति सम्यग्दृष्टिः सः।
वन्दते जिनवरान् नन्दीश्वरप्रभृतिसर्वान्॥ ४१९॥

अर्थ– तदनंतर वह सम्यग्दृटी देव फिर भी अपने मन में उसी धर्म का श्रद्धान करता है और पंच मेरु नंदीश्वरद्वीप आदि के अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करता है, उनमें विराजमान जित प्रतिमाओं की वंदना करना है और विदेह क्षेत्र के जिनेन्द्रदेव की भी वंदना करता है।

इह वहुकालं सग्गे भोगं भुंजंतु विविह रमणीयं।
चइऊण आउस खए उप्पज्जइ मच्च लोयम्मि॥

इति वहुकालं स्वर्गे भोगं भुंजानः विविधरमणीयम्।
च्युत्वा आयुः क्षये उत्पद्यते मर्त्यलोके॥ ४२०॥

अर्थ– इस प्रकार वह जीव स्वर्ग से जाकर वहुत काल तक अनेक प्रकार के सुन्दर भोगों का अनुभव करता है। तदनंतर आयु पूर्ण होने पर वहां से च्युत होता है और इस मनुष्य लोक मे आकर जन्म लेता है।

उत्तम कुले महंतो वहुजण णमणीय संपयापउरे।
होऊण अहियरूवो वल जोव्वण रिद्धिसंपुण्णो॥

उत्तम कुले महति वहुजन नमनीये सम्पदाप्रचुरे।
भूत्वा अधिकरूपः वल यौवनर्धिसम्पूर्णः॥ ४२१॥

अर्थ– मनुष्य लोक में भी आकर वह वहुत महत्व शाली उत्तम कुल में उत्पन्न होता है तथा ऐसे कुल में उत्पन्न होता है जिसको वहुत से लोग मानते है नमस्कार करते है और जिसमे वहुतसी संपदा होती है। इसके सिवाय उसका वहुत सुन्दर रुप होता है और वह वल ऋद्धि यौवन आदि से परिपूर्ण होता है।

तत्थवि विविहे भोए णरखेत्तभवे अणोवमे परमे ।
भुंज्जित्ता णिविण्णो संजमयं तेव गिण्हेई ॥

तत्रोपि विविधान् भोगान् नरक्षेत्र भवाननुपमान् परमान् ।
भुक्त्वा निविण्णः संयमं चैव गृह्णाति ॥ ४२२ ॥

अर्थ– उस मनुष्य लोक में भी उत्पन्न होकर वह जीव मनुष्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले सर्वोत्कृष्ट अनुभव तथा अनेक प्रकार के भोगों का अनुपम करता है और फिर संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर संयम धारण कर लेता है ।

लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा ।
पाविय केवल णाणं जह खाइय संजमं सुद्धं ॥

लब्धं यदि चरमतनं चिरकृतपुण्येन सिद्धयति नियमात् ।
प्राप्य केवलज्ञानं यथाख्यात संयमं शुद्धम् ॥ ४२३ ॥

अर्थ– यदि वह जीव अपने चिर काल के संचित किये हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नाम के शुद्ध चारित्र को धारण कर तथा केवल ज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है ।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥

तस्मात्सम्यदृष्टेः पुण्यं मोक्षस्य काकणं भवति ।
इति ज्ञात्वा गृहस्थः पुण्यं चार्यतु यत्नेन ॥ ४२४ ॥

अर्थ– इस ऊपर लिखे कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टी का पुण्य मोक्ष कारण होता है यही समझ कर गृहस्थों को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये ।

आगे पुण्य के कारण बतलाते है ।

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य ।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाय ॥

पुण्यस्य कारणं स्फुटं प्रथमं सा भवति देवपूजा च ।
कर्तव्या भक्त्या श्रावक वर्गेण परमया ॥ ४२५ ॥

अर्थ– पुण्य के कारणों में सबसे प्रथम भगवान् जिनेंद्रदेव की पूजा करना है, इस लिये समस्त श्रावकों को परम भक्ति पूर्वक भगवान् जिनेंद्रदेव की पूजा करना चाहिये ।

अब आगे पूजा की विधि कहते हैं:–

फासुय जलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइ गंपि तं ठाणं ।
इरियावहं च सोहिय उवविसियं पडिमआसेण ॥

प्रासुक जलेन स्नात्वा निवेश्य वस्त्राणि गन्तव्यं तत्स्थानम् ।
ईर्यापथं च शोधयित्वा उपविश्य प्रतिमासनेन ॥ ४२६ ॥

अर्थ– पूजा करने वाले गृहस्थ को सबसे पहले प्रासुक जल से स्नान करना चाहिये शुद्ध वस्त्र पहनाना चाहिये फिर पूजा करने के स्सान पर जाना चाहिये तथा जाते समय ईयापथ शुद्धि से जाना चाहिये और वहां जाकर पद्मासन से बैठना चाहिये ।

पुज्जाउवयरणाइ य पासे सण्णिहिय मंतपुव्वेण ।
ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥

१- पद्मासनसमासीनो नासाग्रन्यस्तलोचनः ।
मौनी वस्त्रावृतास्योऽयं पूजां कुर्याज्जिनेशिनः ॥

अर्थात्– पूजाकरने वाला पद्मासन से बैठ कर पूजा करे अपनी दृष्टि नासिक पर रक्खे, मौन धारण करे, और वस्त्र से अपना मुख ढक लेवे ।

२- ओं ह्रीं अमृते अमृतो द्भवे अमृत वार्षिणि अमृतं श्रावय श्रावय स. सं क्लीं क्लीं वलू भ्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय हं झं झवीं क्ष्वीं ह सः असि आ उ सा हँ नमः स्वाहा । यह अमृत स्नान मंत्र है । ओं ह्रीं झ्वीं क्ष्वीं वं मं हं सं तं पं द्रां द्रीं ह सः स्वाहा यह आचमन मंत्र है ।

पूजोपकरणानि च पार्श्वे संन्निधाय मंत्रपूर्वेण ।
स्नानेन स्नात्वा आचमनं करोतु मंत्रेण ॥ ४२७ ॥

अर्थ– तदनंतर पूजा के समस्त उपकरण अपने पास रखना चाहिये फिर मंत्र स्नान करना चाहिये और फिर मंत्र पूर्वक आचमन करना चाहिय ।

आसणठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्व तु झाइए अप्पा ।
सिखि मंडल मज्झत्थं जालामयजलियणियदेहं ।

आसनस्थानं कृत्वा सम्यक्त्वपूर्वं तु ध्यायतु आत्मानम् ।
शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहम् ॥ ४२८ ॥

अर्थ– अग्नि मंडल के मध्य में अपना आसन लगा कर बैठे और फिर सम्यक् रीति से परमात्मा का ध्यान करे । उस ध्यान मे अग्नि-मंडल से निकलती हुई सौ ज्वालाओं से अपना शरीर जल रहा है ऐसा चितवन करना चाहिये ।

सबसे पहले अग्निमंडलका चितवन करना चाहिये एक त्रिकोण आकार का यंत्र बनाना चाहिये उसके तीनों ओर सौ रेफ या रकार बनाना चाहिये । उन रकारों के ऊपर आधे रकार का आकार और बनाना चाहिये । इसको अर्द्ध रेफ की ज्वाला कहते है । ऐसे रेफों से व्याप्त अग्निमंडल के मध्य मे अपने शरीर को स्थापन करना चाहिये तथा ध्यान कर अपने शरीर के मल को दग्ध करना अर्थात्–जलाना चाहिये । उसकी विधि इस प्रकार है " ओं ह्रीं अर्हं भगवते जिनभास्कराय बोधसहस्र किरणैर्मम किरणेन्धनस्य द्रव्यं शोषयामि धे धे स्वाहा ।" दाभ के छोटे पूले को दीपक से सेक लेना चाहिये और फिर उस दाभ को अग्निमंडल में भस्म कर देना चाहिये । सो ही लिखा है–

अग्नि मंडलमध्यस्थं रेफैर्ज्वालाशताकुलैः ।
सर्वांगदेशजैर्ध्यात्वा ध्यान दग्धं वपुर्मलम् ॥

अर्थात्– अग्निमंडल के मध्य में बैठ कर सौ रेफ ज्वालाओं से व्याप्त होकर तथा सब शरीर से ध्यान के द्वारा शरीर के मल को जलाना चाहिये ।

पूजा करने वाले को दर्भासन पर बैठकर ऊपर लिखा मंत्र पढ कर अपने पाप संबंधी पाप मल को जलाने के लिये दाभको दीपकसे जला नर अग्नि मंडल पर रखना चाहिये। फिर ओं ह्रीं अर्हं श्रीजिन-प्रभुजिनायकर्मभस्मविधूनने कुरु कुरु स्वाहा" इस मंत्र को पढ कर उस जली हुई दाभ की भस्म पर जल धारा देकर उसको बुझा देना चाहिये फिर पंच परम गुरु मुद्रा धारण करनी चाहिये। फिर अ सि आ उ सा इनका न्यास करना चाहिये अर्थात्-इनको स्थापन करना चाहिये। फिर जल मंडल यंत्र बनाकर उसके ऊपर झं वं हवः पः इन अमृत बीजों को स्थापन कर अपने मस्तक पर जल छोडना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है-किसी तांबे के पात्र मे (गोल कटोरा आदि में) जल भर कर उसमें अनामि का (तीसरी उंगली) उंगली से जल मंडल यंत्र लिखना चाहिये। सो हि लिखा है-" झ ठं स्वरावृतं तोयं मंडल द्वयवेष्टितम्।"

फिर उस जल मंडल में आचमनी (छोटी चमची) रखकर " ओं ह्रीं अमृते अमृतो द्भवे अमृतं स्रावय स्रावय सं सं क्लीं क्लीं ब्लूं ब्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय द्रावय हं झं झ्वीं क्ष्वीं हं सः अ सि आ उ सा अर्हं नमः स्वाहा " यह मंत्र पढ कर आचमनी से जल लेकर मस्तक पर डालना चाहिये और इस प्रकार तीन बार करना चाहिये। यह अमृत स्नान है। फिर अपने दोनों हाथों की कनिष्ठा (सबसे छोटी) अंगुली से लेकर अनुक्रम से अंगूठे पर्यंत मूल की रेखा से ऊपर की रेखा तक पंच नमस्कार का न्यास करना अर्थात्- स्थापन करना चाहिये। उसकी विधि उस प्रकार है- ओं ह्रीं णमो अरहंताणं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं अनामिकाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो आइरिआणं मध्यमाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं तर्जिनीभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं अंगुठाभ्यां नमः, इस प्रकार अलग अलग मंत्र पढ कर दोनों ही हाथों की उंगलियों की मूल रेखा से लेकर ऊपर के पर्वतक अंगूठा लगाकर अलग अलग नमस्कार करना चाहिये। इसको कर न्यास कहते है।

फिर " ओं ह्रीं अर्हं वं मं सं तं पं असि आ उ सा हस्त संपुटं करोमि स्वाहा " यह मंत्र पढकर दोनों हाथ मिलाकर कमल की कर्णिका

के समान संपुट रूप करना चाहिये अर्थात् हाथ जोडना चाहिये तथा दोनों हाथों के अंगूठों को ऊंचा खडा रखना चाहिये। फिर नीचे लिखे मंत्र पढ कर अंग न्यास करना चाहिये उसकी विधि इस प्रकार है। 'ओ ह्रीं णमो अरहंताणं स्वाहा हृदि, यह मंत्र पढकर उन जुडे हुए हाथों के खडे अंगूठो को हृदय मे लगाना चाहिये। ओं ह्रीं णमो सिद्धांणं स्वाहा ललाटे, ओं ह्रीं णमो आयरियाणं स्वाहा शिरसी, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं स्वाहा शिरोदक्षिण भागे, ओं ह्रीं णमो लोए सव्व साहूणं स्वाहा शिरोपश्चिमदेशे, इन मंत्रों को पढ कर दोनों हाथों के अंगूठो को अनुक्रम से हृदय, ललाट, मस्तक, दांई और बाई ओर नमस्कार पूर्वक स्पर्श करना चाहिये, उस समय हाथ जुडे ही रखने चाहिये। यह अंग न्यास है, अर्थात् अपने शरीर और हाथों मे मत्र पूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्थापन करना है। इसके बाद इस विधि से और इन्ही ऊपर लिखें मंत्रों से दूसरा अंग न्यास करना चाहिये। उसके स्थान ये हैं – ओं ह्रीं णमो अरहंताणं स्वाहा शिरो मध्ये, ओं ह्रीं णमो सिद्धांणं स्वाहा शिरो अग्रभागे, ओं ह्रीं णमो आइरीयाणं स्वाहा शिरो नैऋत्यां, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं स्वाहा शिरो वायव्याम्, ओं ह्रीं णमो लोए सव्व साहूणं शिरो ईशानो। इस प्रकार शिर के मध्य मे, शिर के आगे, शिर की नैऋत्य दिशा में, शिर की वायव्य दिशा में और शिर की ईशान दिशा मे अंगन्यास करे। फिर तीसरा अंगन्यास ऊपर लिखे मंत्र पढकर अनुक्रम से दाहिनी भुजा, नाभि, दांई कांख और बाई कांख मे करे। यथा ओं ह्रीं णमो अरहंताणं स्वाहा दक्षिण भुजायाम्, ओं ह्रीं णमो सिद्धांणं वाम भुजायां. ओं ह्रीं णमो आयरीआणं नाभौ, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं दक्षिण कुक्षौ, ओं ह्रीं णमो लोए सव साहूणं वामकुक्षौ। तदनंतर बाये हाथ की तर्जनी अंगूली में पंच मंत्र को स्थापन कर पूर्व दिशाको आदि लेकर दशों दिशाओं मे नीचे लिखे मंत्र पढ कर सरसो क्षेपण करनी चाहिये। ओं क्षों स्वाहा पूर्वस्यां, ओं क्षीं स्वाहा आग्नेये, ओं क्षुं स्वाहा दक्षिणे, ओं क्षें स्वाहा नैऋत्ये, ओं क्षों स्वाहा पश्चिमे, ओं क्षों स्वाहा वायव्ये, ओं क्षौं उत्तरे, ओं क्षं स्वाहा ईशाने, ओं क्षः स्वाहा अधः ओं क्षः स्वाहा ऊर्ध्व। इस प्रकार दशां दिशाओं में सरसों स्थापन करनी चाहिये। फिर ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रुं, ह्रैं, ह्रौं, ह्रें, ह्रं, ह्रः स्वाहा' इस मंत्र को

पढ कर दशों दिशाओं मे सरसों क्षेपण करनी चाहिये यह शून्य बीज है इस प्रकार दशों दिशाओं का बंधन करना चाहिये। फिर मंत्र को जाननेवाले श्रावक को मंत्र पूर्वक कवच और कर न्यास करना चाहिये। इसकी विधि इस प्रकार है– ओं ह्रीं दर्शाय नमः शिरसि, ओं ह्रीं शिखाय वषट् कवचाय हूं अस्त्राय फट् यह मंत्र पढ कर पृथक् पृथक् मंत्रों से मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। चोटी का स्पर्श कर चोटी मे गांठ बांधनी चाहिये। फिर कंधे से लेकर समस्त शरीर को दोनों हाथों से स्पश कर फिर दोनों हाथों से ताली बजाकर शब्द करना चाहिये। फिर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के मंत्र ये हैं– ओं ह्रीं णमो अरहंताणं अर्हद्भ्यो नमः इसको इकईस बार जपना चाहिये। ओं ह्रीं णमो सिद्धांणं सिद्धेभ्यो नमः स्वाहा इसको भी इकईस बार जपना चाहिये। इन मंत्रों के द्वारा पद्मासन से कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार सकली करण विधान के द्वारा अपना मन शुद्ध करना चाहिये। शौच दो प्रकार है एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर। जल मिट्टी आदि से तो बाह्य शौच करना चाहिये और मंत्र से आभ्यंतर शौच करना चाहिये यह सकली करण विधि है।

पावेण सह संदेह झाणो डज्झंतयं खु चिंततो।
बंधउ संतीमुद्दा पंच परमेट्ठिणामाय ॥

पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन्।
बध्नातु शान्तिमुद्रां पंच परमेष्ठि नाम्नीम् ॥ ४२९ ॥

अर्थ– उस ध्यान में " मेरा शरीर मेरे पापों के साथ जल रहा है " ऐसा चिंतवन करना चाहिये और फिर पांचों परमेष्ठियों की वाचक ऐसी शांत मुद्रा बनानी चाहिये।

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरसि धरिऊण।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहिं सवदयं अमयं ॥

अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा।
ता मुद्रां पुनः चिन्तयतु धाराभिः स्रवदमृतम् ॥ ४३० ॥

अर्थ– उस गुरु मुद्रा को मस्तक पर रख कर पांचों स्थानों मे अमृताक्षरों का निवेश करो। जिसकी धारा से अमृत झर रहा है इस प्रकार उस गुरु मुद्रा को फिर चिंतवन करो।

पावेण सह सरीरं दड्ढं जं आसि झाण जलणेण।
तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण मंतेण ॥

पापेन सह शरीरं पग्धं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन।
तज्जातं यत्क्षारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण ॥ ४३१ ॥

अर्थ– उस ध्यान की ज्वाला से जो पापों के साथ शरीर जल गया था और उससे जो क्षार वा राख उत्पन्न हुई थी उसको उसी मंत्र से धो डालो।

पडिदिवसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविह जोएण।
तं णिद्दहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो ॥

प्रति दिवसं यत्पापं पुरुषः आस्रवति त्रिविध योगेन।
तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः ॥ ४३२ ॥

अर्थ– यह पुरुष अपने मन वचन काय तीनों योगों से जो प्रति दिन पाप कर्मों का आस्रव करता है उस आस्रव से आने वाले समस्त पाप कर्मों को वह पुरुष ऊपर लिखे अनुसार ध्यान धारण कर शीघ्र ही नाश कर देता है।

जं सुद्धो तं अप्पा सकायरहिओ य कुणइ णहु किं पि।
तेण पुणो णियदेहं पुण्णाण्णवं चिंतए झाणी ॥

यः शुद्धः आत्मा स्वकायरहितश्च करोति न हि किमपि।
तेन पुनर्निजदेहं पुण्यार्णवं चिन्तयेत् ध्यानी ॥ ४३३ ॥

अर्थ– इस प्रकार जो अपनी आत्मा अपने शरीर से रहित होकर अत्यंत शुद्ध हो चुका है वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता इसलिये उस ध्यान करने वाले पुरुष को अपना शरीर एक पुण्य के समुद्र रूप चिंतवन करना चाहिये। भावार्थ– उस ध्यान करने वाले पुरुषने जो अपने शरीर को पाप सहित दग्ध करने रूप चिंतवन किया था उससे शरीर

और पाप नष्ट हो जाने पर वह आत्मा शुद्ध और शरीर रहित चितवन मे आगया। तथा शरीर रहित शुद्ध आत्मा कुछ कर नहीं सकता। इसलिये वह फिर अपने शरीर को एक पुण्य के सागर के समान चितवन करता है।

उट्ठाविऊण देह संपुण्णं कोडि चंद संकासं।
पच्छा सयली करण कुणओ परमेट्ठिमंतेण॥

उत्थाप्य देहं सम्पूर्णं कोटि चन्द्र संकाशम्।
पश्चाच्छकलीकरणं करोतु परमेष्ठिमन्त्रेण॥ ४३४॥

अर्थ– तदनंतर करोडों चन्द्रमाओं के समान निर्मल और देदीप्यमान अपने शरीर को चितवन करता हुआ तथा शरीर को पूर्ण रूप से चितवन करता हुआ उस ध्यान से उठ बैठना चाहिये और फिर पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रों से उस पुरुष को सकली करण करना चाहिये। सकली करण की विधि पहले लिख चुके है।

अहवा खिप्पउ साहा णिस्सेउ करंगुलीहिं वामेहिं।
पाए णाही हियए मुहे य सीसे य ठविऊणं॥

अथवा क्षिपतु शेषां निवेशयतु करांगुलैः वामैः।
पादे नाभ्यां हृदये मुखे च शिरसि च स्थापयित्वा॥ ४३५॥

अर्थ– अथवा दशों दिशाओं में सरसों स्थापन करना चाहिये तथा बायें हाथ की अंगुलियों से करन्यास करना चाहिये अर्थात् पैरों में नाभि मे हृदय में मुख में और मस्तक पर बांये हाथ की उंगलियों को रख कर पाचों स्थानों मे पंच परमेष्ठी की स्थापना करना चाहिये। यदि साहा के स्थान में सेहा पाठ है तो सरसों के स्थान में शेषाक्षत लेना चाहिये। यह सब विधि तथा आगे लिखा अंग न्यास सब पीछे सकली करण में लिखा है।

अंगे णासं किच्चा इंदो हं कप्पिऊण णियकाए।
कंकण सेहर मुद्दो कुणओ जण्णोपवीयं च॥

अंगे न्यासं कृत्वा इन्द्रोऽहं कल्पयित्वा निजकाये।
कंकणं शेखरं मुद्रिकां कुर्यात् यज्ञोपवीतं च॥ ४३६॥

अर्थ– तदनंतर अंगन्यास करना चाहिये। फिर अपने शरीर में 'मैं इन्द्र हूं' ऐसी कल्पना करनी चाहिये और कंकण मुकुट मुद्रिका और यज्ञोपवीत पहनना चाहिये।

पीढं मेरुं कप्पिय तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा।
पच्चक्खं अरहंत चित्ते भावेउ भावेण॥

पीठं मेरुं कल्पयित्वा तस्योपरि स्थापयित्वा जिनप्रतिमाम्।
प्रत्यक्षं अर्हन्तं चित्ते भावयेत् भावेन॥ ४३७॥

अर्थ– तदनंतर स्थापन किये हुए सिंहासन में मेरु पर्वत की कल्पना करनी चाहिये, उस सिंहासन पर भगवान जिनेंद्रदेव की प्रतिमा विराजमान करना चाहिये और फिर अपने चित्त मे अपने निर्मल भावों से ये साक्षात् भगवान् अरहंत देव है ऐसी भावना करनी चाहिये।

कलस चउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं।
घय दुद्ध दहिय भरियं णव सयदलछण्णमुहकमलं॥

कलश चतुष्कं स्थापयित्वा चतुर्ष्वपि कोणेषु नीरपरिपूर्णं।
घृतदुग्धदधिभृतं नवशतदलच्छन्नमुखकमलम्॥ ४३८॥

अर्थ– तदनंतर चारों कोनों में जल से भरे हुए चार कलश करने चाहिये तथा मध्य मे पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिये। इनके सिवाय घी दूध दही इनसे भरे हुए कलश भी स्थापन करने चाहिये। इन सब कलशों के मुख पर नवीन सौ दल वाले कमल रखने चाहिये।

आवाहिऊण देवे सुरवइ सिहिकाल णेरिए वरुणे।
पवणे जक्खे ससूली सपियसवाहणे ससत्थे य॥

आहुय देवान् सुरपतिशिखिकालनैर्ऋत्यान् वरुणान्।
पवनान् यक्षान् सशूलिनः सप्रियसवाहनान् सशस्त्रांश्च॥४३९॥

अर्थ– तदनंतर इन्द्र अग्नि यम नैर्ऋत वरुण पवन कुबेर ईशान धरणीन्द्र और चन्द्र इन दश दिक्पालों की स्थापना कर अर्घ्य चढाना चाहिये। इन दशों दिक्पालों को उनकी पत्नी वाहन और शस्त्रों सहित स्थापना करनी चाहिये।

दाऊण पुज्जदव्व वलि चरुयं तह य जण्णभायं च ।
सव्वेसिं मंते हि य वीयक्खर णाम जुत्तेहिं ॥

दत्वा पूजाद्रव्यं वलिं चरुकं तथा च यज्ञभागं च ।
सर्वेषां मंत्रैश्च बीजाक्षरनामयुक्तैः ॥ ४४० ॥

अर्थ– इन सब दिक्पालों को पूजा द्रव्य वलि नैवेद्य यज्ञभाग देना चाहिये । सबका बीजाक्षर सहित अलग अलग नाम लेकर मंत्र पूर्वक आह्वानन स्थापन सन्निधीकरण कर यज्ञ भाग पूजा द्रव्य और नैवेद्य देना चाहिये । इनके स्थापन करने आदि के मत्र ये है । ओं ह्रीं आं क्रौं प्रशस्त वर्ण सर्व लक्षण संपूर्ण स्वायध वाहन युवती सचिन्ह सहित इन्द्र देव अत्र आगच्छ आगच्छ संवौषट, अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः, अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ओं आं क्रों ह्रीं इन्द्र देवाय इद्रं अर्घ्यं पाद्यं गंधं पुष्पं दीपं धूपं चरुं वलिं स्वस्तिकं अक्षतं यज्ञभागं च यजामहे यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यतामिति स्वाहा । यह मंत्र पढ कर अलग अलग देवों को स्थापन करना चाहिये । इन्द्र को पूर्व दिशा में स्थापन कर बांई ओर से आठों दिशाओं मे आठ देव अधो दिशामे धरणीन्द्र ऊर्ध्व दिशा में चन्द्र को स्थापन करना चाहिये । शेष विधि अभिषेक पाठ मे से कर लेनी चाहिये ।

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स ।
णीर घय खीर दहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे ॥

उच्चार्य मंत्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदेवस्य ।
नीरघृतक्षीरदधिकं क्षिपेत् अनुक्रमेण जिनशीर्षे ॥ ४४१ ॥

अर्थ– तदनंतर देवाधिदेव भगवान् अरहंत देव का अभिषेक करना चाहिये । वह अभिषेक अनुक्रम से जल घी दूध दही आदि पदार्थों से मंत्रों का उच्चारण करते हुए भगवान् के मस्तक परसे करना चाहिये ।

ण्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधोदयं च वंदित्ता ।
सवलहणं च जिणिंदे कुणऊ कस्सीर मलएहिं ॥

स्नपनं कारयित्वा पुनः अमलं गन्धोदकं च वन्दित्वा ।
उद्वर्तनं च जिनेन्द्रे कुर्यात् काश्मीरमलयं : ॥ ४४२ ॥

अर्थ– इस प्रकार अभिषेक कर निर्मल गंधोदक की वंदना करनी चाहिये और फिर काश्मीर केसर तथा चंदन आदि से भगवान् का उद्वर्तन करना चाहिये । अभिषेक के अनन्तर चन्दन केसर आदि द्रव्यों की धूप बना कर उससे प्रतिमा का उवटन करना चाहिये । फिर कोण कलशों से तथा पूर्ण कलश से अभिषेक करना चाहिये । यह विधि अत्यंत संक्षेप से कही है । इसकी पूर्ण विधि अभिषेक पाठ से जान लेनी चाहिये ।

आलिहउ सिद्धचक्कं पट्टे पव्वेहिं णिरुसुगंधेहिं ।
गुरु उवएसेण फुडं संपएणं सव्वमंतेहिं ॥

आलिखेत् सिद्धचक्रं पट्टेद्रव्यैः निसुगन्धैः ।
गुरुपदेशेन स्फुटं संपन्नं सर्वमंत्रैः ॥ ४४३ ॥

अर्थ– तदनंतर किसी वस्त्र पर या किसी थाली में वा किसी पाट पर अत्यंत सुगंधित द्रव्यों से सिद्ध चक्र का मंत्र लिखना चाहिये । तथा गुरु के उपदेश के अनुसार उसे स्पष्ट रीति से सर्व मंत्रों से पूर्ण रूप देकर लिखना चाहिये ।

आगे उसमें बनाने की विधि बतलाते है ।

सोल दल कमल मज्झे अरिहं विलिहे इबिंदुकलसहियं ।
वंभेण वेढइत्ता उवरिं पुणु माय बीएण ॥

षोडशदल कमल मध्ये अर्हं विलिखेत् विंदुकलसहितम् ।
ब्रह्मणा वेष्टयित्वा उपरि पुनः मायाबीजेन ॥ ४४४ ॥

सोलस सरेहि वेढउ देह वियप्पेण अट्ठ वग्गा वि ।
अट्ठेहि दलेहिं सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥

षोडश स्वरैः वेष्टय देहविकल्पेन अष्टवर्गानपि ।
अष्टभिर्दलैः सुपदं अर्हद्भ्यो नमः सहितम् ॥ ४४५ ॥

मायाए तं एवं तिउणं वेढेह अंकुसारूढं ।
कुणह धरामंडलयं बाहिरयं सिद्धचक्कस्स ॥

मायया तत्सर्वं त्रिगुणं वेष्टयेत् अंकुशारुद्धम् ।
कुर्यात् धरामण्डलकं बाह्यं सिद्धचक्रस्य ।। ४४६ ।।

अर्थ– एक सोलह दल का कमल बनाना चाहिये इसके मध्य में कर्णिका पर विंदु और कला सहित ॐ लिखना चाहिये । फिर उसको व्रह्न स्वरों से वेष्टित करना चाहिये ।

अर्थात् उससे चारों ओर सोलह स्वर लिखना चाहिये । फिर उन सबको माया बीज से वेष्टित करना चाहिये अर्थात् तीन रेखाओं से वेष्टित करना चाहियें । तदनंतर सोलह दल का कमल बनाना चाहिये जिसमें आठ दल हों और आठ वर्ग हों । आठों वर्गों में सोलह स्वर तथा कवर्ग चवर्ग आदि अक्षर हों तथा आठों दलों मे ' अर्हद्भ्यो नमः ' लिखना चाहिये । इन सबको तीन माया रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये । ऊपर की ओर अंकुश से आरुद्ध करना चाहिये । तथा फिर चारों ओर बाहर धरा मंडल बना देना चाहिये ।

सिद्ध चक्र का विधान पूजा में इस प्रकार लिखा है –

ऊर्ध्वोधोरयुतं सविंदुसपरं व्रह्मस्वरावेष्टितं ।
वर्गापूरितदिग्गताम्बुजदलं तत्संधितत्त्वान्वितम् ।।

अंतःपत्र व्रटेष्वनाहतयुतं ॐ कार सवेष्टितं ।
देवं ध्यायति यः स मुक्ति सुभगो वैरीभकंठीरवः ।।

अर्थात्–जिसके ऊपर और नीचे दोनों स्थानों में 'र' कार है तथा जो विंदु अर्थात् अर्धचंद्रकार कला सहित ऐसा 'स' से आगे का अक्षर 'ह' कार मध्य में लिखना । जिस ह कार के ऊपर र कार हो नीचे र कार हो और अर्द्ध चन्द्र वा अर्ध विंदु ऊपर हो ऐसा ॐ मध्य में लिखना चाहिये । उस ॐ के चारो ओर व्रह्न स्वर अर्थात् सोलह स्वर लिखना चाहिये । इतना सब तो वी चकी कर्णिका में लिखना चाहिये । फिर उस वर्णिका के चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में आठ संधियां बना कर उन संधियों के मध्य में अष्ट दल आकार का कमल बनाना चाहिये । उन अष्ट दलो में अनुक्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

१

इय संखेवं कहियं जो पूयइ गंध दीव धूवेहिं ।
कुसुमेहि जवइ णिच्चं सो हणइ पुराणयं पावं ॥

इति संक्षेपेण कथितं यः पूजयति गन्ध दीप धूपैः ।
कुसुमैः जपति नित्यं स हन्ति पुराणकं पापम् ॥ ४४७ ॥

अर्थ– इस प्रकार संक्षेप से सिद्ध चक्र का विधान कहा । जो पुरुष गंध दीप धूप और फूलों से इस यंत्र की पूजा करता है तथा नित्य इसका जप करता है वह पुरुष अपने संचित किये हुए समस्त पापों का नाश कर देता है।

जो पुणु वड्ढद्धारो सव्वो भणिओ हु सिद्धचक्कस्स ।
सो एइ ण उद्धिरिओ इण्हि सामग्गि ण हु तस्स ॥

त थ द ध न प फ व भ म य र ल व श ष स ह ल्ल क्षः इस क्रम से लिखना चाहिये । तथा इन्हीं दलों मे सोलह स्वरों में से प्रत्येक दल में दो स्वर लिखना चाहिये तथा इन्हीं दलों के अंत भाग में अनाहत मंत्र लिखना चाहिये । तथा उन आठ दलों के मध्य में जो आठ संधियां है उनको तत्त्व से सुशोभित करना चाहिये । " णमो अरहंताणं " इस मंत्र को तत्त्व कहते है । अर्थात् आठो संधियों में णमो अरहंताणं लिखना चाहिय । फिर तीन वलय देकर भूमंडल से वेष्टित करना चाहिये फिर क्षिति बीज और इन्द्रायुध लिखना चाहिये । इस प्रकार यंत्र रचना कर सिद्धचक्र का ध्यान करना चाहिये ।

१ जो जीव इस सिद्ध चक्र का ध्यान करता है वह श्रेष्ठ मोक्ष पदको प्राप्त होता है । यह सिद्ध चक्रदेव शत्रुरूपी हाथियों को जीतने के लिये सिंह के समान है ।

अनाहत का लक्षण–

उ विन्द्वाकार हरोर्ध्वरेफ विन्द्वानवाक्षरं । मालाघः स्पन्दिपीयूष विन्दुं विदुरनाहतम् ॥ उ, अनुस्वार, ईकार, ऊर्ध्व रकार, हकार, हकार, निम्न रकार अनुस्वार ईकार इन नौ अक्षरों से अनाहत मंत्र बनता है।

चः पुनः वृहदुद्धारो सर्वो भणितो हि सिद्धचक्रस्य ।
सोऽत्र न उद्धर्त्तव्यः इदानीं सामग्री न च तस्य ॥४४८॥

अर्थ– इसके सिवाय एक सिद्ध चक्र का वृहत् उद्धार और भी है, महा उद्धार वा महा पूजा है जो अन्य शास्त्रो में कही है परंतु उसका उद्धार वा महा सिद्ध चक्र पूजा इस समय नहीं करना चाहिये । क्योंकि इस समय उसकी पूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं होती ।

आगे शान्ति चक्र विधान कहते है ।

जइ पुज्जइ को वि णरो उद्धारित्ता गुरूवएसेण ।
अट्ठ दल विउण तिउणं चउग्गुणं वाहिरे कंजे ॥

यदि पूजयति कोपि नर उद्धार्य गुरूपदेशेन ।
अष्ट दल द्विगुण त्रिगुणं चतुर्गुणं वाह्येकंजे ॥ ४४९ ॥

मज्झे अरिहं देवं पंचपरमेट्ठिमंतसंजुत्तं ।
लहि ऊण कण्णियाए अट्ठदले अट्ठदेवीओ ॥

मध्ये अर्हं देवं पंचपरमेष्ठिमंत्रयुक्तम् ।
लिखित्वा कर्णिकाया अष्टदले अष्टदेवीः ॥ ४५० ॥

सोलह दलेसु सोलह विज्जा देवीउ मंतसहियाओ ।
चउवीसं पत्ते सु य जक्खा जक्खी य चउवीसं ॥

षोडश दलेषु षोडश विद्यादेवीः मंत्र सहिताः ।
चतुर्विंशति पत्रेषु च यक्षान् यक्षीश्च चतुर्विंशतिम् ॥ ४५१ ॥

वत्तीसा अमरिंदा लिहेह वत्तीस कंज पत्तेसु ।
णिय णिय मंत पउत्ता गणहर वलयेण वेढेइ ॥

द्वात्रिंशतममरेन्द्रान् लिखेत् द्वात्रिंशत्कंजपत्रेषु ।
निज निज मंत्र प्रयुक्तान् गणधर वलयेन वेष्टयेत् ॥ ४५२ ॥

सत्तपयारा रेहा सत्त वि विलिहेह वज्जसंजुत्ता ।
चउरंसो चउ दारा कुणह पयत्तेण जुत्तीए ॥

सप्तप्रकाराः रेखाः सप्तापि विलिखेत् वज्र संयुक्ताः ।
चतुरंशांश्चतुर्द्वारान् कुर्यात् प्रयत्नेन युक्तया ॥ ४५३ ॥

शान्ति चक्र यंत्रोद्धारः-

मध्य मे कर्णि का लिखना चाहिये फिर वलय देकर उसके वाहर चार दिशा और चारों विदिशाओं मे अष्टदलाकार कमल वनाना चाहिये। फिर उसके वाहर वलय देकर सोलह दल का कमल बनाना चाहिये। फिर उसके बाहर वलय देकर चौवीस दलका कमल वनाना चाहिये। फिर उसके वाहर वलय देकर वत्तीस दल का कमल बनाना चाहिये। उसके वाहर वलय देकर पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर इन चारों दिशाओं मे भद्र के आकार चार द्वार वा दरवाज बनाना चाहिये। फिर एक एक द्वार के दोनों ओर तीन तीन त्रिशुलाकार वज्र लिखना चाहिये। इस प्रकार चारों ओर के उन आठ त्रिशूलों के चौवीस क्षोभ (यक्षों के स्थान) करने चाहिये। फिर चारों विदिशाओं के खल के वाहर दो दो अलग अलग क्षिति मंडल के लिय त्रिशूलाकार वज्र वनाना चाहिये और उसके आठवज्र लिखना चाहिये। इस प्रकार क्षिति मंडल सहित शांति चक्र यंत्र का उद्धार करना चाहिये।

सबसे पहले कर्णिका के मध्य भाग से " ओं ऱ्हीं अर्हद्भ्यो नमः" लिखना चाहिये। फिर उसी कर्णि का मे इस मंत्र के पूर्व की ओर 'ओं ऱ्हीं सिद्धेभ्यो नमः' यह मत्र लिखना चाहिये। फिर उसकी दक्षिण दिशा में 'ओं ऱ्हीं सूरिभ्यो नमः' लिखना चाहिये। पश्चिम की ओर 'ओं ऱ्हीं पाठकेभ्यो नमः' लिखना चाहिये। उत्तर की ओर के दल में 'ओं ऱ्हीं साधुभ्यो नमः लिखना चाहिये। तदनंतर उसी कर्णिका में चार विदिशाओं के चार दलों मे से अग्नि कोण के दल में " ओं ऱ्हीं सम्यग्दर्शनाय नमः " नैऋत कोण में " ओं ऱ्हीं सम्यग्ज्ञानाय नमः " वायव्य कोण मे 'ओं ऱ्हीं सम्यक् चारित्राय नमः' और ईशान कोण में "ओं ऱ्हीं सम्यक्तपसे नमः" लिखना चाहिये। यह कर्णिका मे बने हुए नौ कोठों का उद्धार है।

इस कर्णिका के बाहर जो अष्ट दलाकार कमल है उसमे से पूर्व के दल मे 'ओं ऱ्हीं जयायै स्वाहा' दक्षिण के दल में 'ओं ऱ्हीं विजयायै स्वाहा' पश्चिम के दल मे 'ओं ऱ्हीं अजितायै स्वाहा' उत्तर के दल में ओं ऱ्हीं अपराजितायै स्वाहा' लिखना चाहिये। फिर अग्नि

अर्थ– इसके सिवाय गुरु के उपदेश से शांति चक्र का उद्धार कर उसकी भी पूजा करनी चाहिए। जो इस प्रकार है:– बीच में कर्णिका रखकर वलय देकर उसके बाहर आठ दल का कमल बनावे फिर वलय देकर सोलह दल का कमल बनाये फिर वलय देकर उसके बाहर चौबीस दल का कमल बनावे फिर वलय देकर बत्तीस दल का कमल बनावे। उसके मध्य में कर्णिका पर मंत्र सहित अरहंत परमेष्ठी लिखे। चारों दिशाओं में अन्य परमेष्ठियों को लिखे विदिशाओ में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप लिखे। बाहर आठ दलों मे जया आदि

कोण में 'ओं ह्रीं जंभायै स्वाहा, नैऋत कोण में 'ओं ह्रीं मोहायै स्वाहा' वायव्य कोण में 'ओं ह्रीं स्तंभायै स्वाहा' तथा ईशान कोण में 'ओं ह्रीं स्तंभिन्यै स्वाहा' लिखना चाहिए, इन सब मंत्रों को प्रणव माया बीज पूर्वक होमांत लिखना चाहिए। इस प्रकार कर्णिका के बाहर का अष्ट दल कमल भर देना चाहिए।

उसके बाहर वलय के बाहर सोलह दल का कमल है उसमे पूर्व दिशासे प्रारंभ कर अनुक्रम से सोलह विद्या देवियों के नाम लिखना चाहिए। यंथा– ओं ह्रीं रोहिण्यै स्वाहा १ ओं ह्रीं प्रज्ञप्त्यै स्वाहा २ ओं ह्रीं वज्रशृंखलायै स्वाहा ३ ओं ह्रीं वज्रांकुशायै स्वाहा ४ ओं ह्रीं अप्रतिचक्रायै स्वाहा ५ ओं ह्रीं पुरुषदक्षायै स्वाहा ६ ओं ह्रीं काल्यै स्वाहा ७ ओं ह्रीं महाकाल्यै स्वाहा ८ ओं ह्रीं गांधार्यै स्वाहा ९ ओं ह्रीं गौर्यै स्वाहा १० ओं ह्रीं ज्वालामालिन्यै स्वाहा ११ ओं ह्रीं वैरा-ट्यै स्वाहा १२ ओं ह्रीं अच्युतायै स्वाहा १३ ओं ह्रीं अपरा जितायै स्वाहा १४ ओं ह्रीं मानसी दैव्यै स्वाहा १५ ओं ह्रीं महा मानसी देव्यै स्वाहा १६ इस प्रकार सोलह कमल दल भर देने चाहिए।

तदनंतर सोलह दल कमल के बाहर चौवीस दल का कमल है उसमे पूर्व दिशा से प्रारंभ कर अनुक्रम से चौवीस शासन देवियों का स्थापना करना चाहिये। यथा– ओं ह्रीं चक्रेश्वरी देव्यै स्वाहा १ ओं ह्रीं रोहिण्यै स्वाहा २ ओं ह्रीं प्रज्ञप्त्यै स्वाहा ३ ओं ह्रीं वज्रशृंखलायै स्वाहा ४ ओं ह्रीं पुरुषदत्तायै स्वाहा ५ ओं ह्रीं मनोवेगायै स्वाहा ६ ओं

ह्रीं काल्यै स्वाहा ७ ओं ह्रीं महाकाल्यै स्वाहा ८ ओं ह्रीं ज्वाला मालिन्यै स्वाहा ९ ओं ह्रीं मानव्यै स्वाहा १० ओं ह्रीं गौर्यै स्वाहा ११ ओं ह्रीं गांधार्यै स्वाहा १२ ओं ह्रीं वैराट्यै स्वाहा १३ ओं ह्रीं अनन्त मत्यै स्वाहा १४ ओं ह्रीं मानसी देव्यै स्वाहा १५ ओं ह्रीं महा मानसी देव्यै स्वाहा १६ ओं ह्रीं जयायै स्वाहा १७ ओं ह्रीं विजयायै स्वाहा १८ ओं ह्रीं अपराजितायै स्वाहा १९ ओं ह्रीं बहुरुपिण्यै स्वाहा २० ओं ह्रीं चामुंडायै स्वाहा २१ ओं ह्रीं कूष्मांडिन्यै स्वाहा २२ ओं ह्रीं पद्मावत्यै स्वाहा २३ ओं ह्रीं सिद्धायिन्यै स्वाहा २४ इस प्रकार चौवीस दल कमल को भर देना चाहिये।

चौवीस दल कमल के बाहर वलय के वाद वत्तीस दल कमल है। उसमे भी पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर अनुक्रम से वत्तीस इन्द्रों को ब्रह्म माया बीज से प्रारंभ कर होमांत लिखना चाहिये अर्थात् जिसके आदि मे ओं ह्रीं यह ब्रह्म और माया बीज हो तथा मध्य मे चतुर्थी विभक्ति सहित देवी वा इन्द्र का नाम हो और अंत मे होमांत अर्थात् होम के अंत मे कहे जाने वाला स्वाहा शब्द हो इस प्रकार सव देव देवियों को स्थापन करना चाहिए। यथा ओं ह्रीं असुरेन्द्राय स्वाहा १ ओं ह्रीं नागेन्द्राय स्वाहा २ ओं ह्रीं विद्युदिन्द्राय स्वाहा ३ ओं ह्रीं सुपर्णेन्द्राय स्वाहा ४ ओं ह्रीं अग्नीन्द्राय स्वाहा ५ ओं ह्रीं वातेन्द्राय स्वाहा ६ ओं ह्रीं स्तनितेन्द्राय स्वाहा ७ ओं ह्रीं उदधीन्द्राय स्वाहा ८ ओं ह्रीं द्वीपेन्द्राय स्वाहा ९ ओं ह्रीं दिगिन्द्राय स्वाहा १० ओं ह्रीं किन्नरेंद्राय स्वाहा ११ ओं ह्रीं किंपुरुषेन्द्राय स्वाहा १२ ओं ह्रीं महोरगेन्द्राय स्वाहा १३ ओं ह्रीं गंधर्वेन्द्राय स्वाहा १४ ओं ह्रीं यक्षेन्द्राय स्वाहा १५ ओं ह्रीं राक्षसेन्द्राय स्वाहा १६ ओं ह्रीं भूतेन्द्राय स्वाहा १७ ओं ह्रीं पिशाचेन्द्राय स्वाहा १८ ओं ह्रीं चन्द्रेन्द्राय स्वाहा १९ ओं ह्रीं आदित्येन्द्राय स्वाहा २० ओं ह्रीं सौधर्मेन्द्राय स्वाहा २१ ओं ह्रीं ईशानेन्द्राय स्वाहा २२ ओं ह्रीं सानत्कुमारेन्द्राय स्वाहा २३ ओं ह्रीं माहेन्द्राय स्वाहा २४ ओं ह्रीं ब्रह्मेन्द्राय स्वाहा २५ ओं ह्रीं लांतवेन्द्राय स्वाहा २६ ओं ह्रीं शुक्रेन्द्राय स्वाहा २७ ओं ह्रीं शतारेन्द्राय स्वाहा २८ ओं ह्रीं आनतेन्द्राय स्वाहा २९ ओं ह्रीं प्राणतेन्द्राय स्वाहा ३० ओं ह्रीं आरणेन्द्राय स्वाहा

आठ देवियों का लिखे। सोलह कमलों में मंत्र सहित सोलह विद्या देवियों को लिखे, चौवीस कमलों में चौवीस यक्षियों को लिखे, वत्तीस कमलो में वत्तीस इन्द्रों को लिखे। इन सबको अपने अपने मंत्र सहित लिखना चाहिये। इस प्रकार सात रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये तथा सातों ही रेखाएं वज्र सहित होनी चाहिये। चारों ओर चार द्वार करना चाहिये। बाहर प्रत्येक दिशा में छह छह यक्षों का निवेश करना चाहिये। इस प्रकार इस यंत्र का उद्धार करना चाहिये।

---

३१ ओं ह्रीं अच्युतेन्द्राय स्वाहा ३२ इस प्रकार वत्तीस दल कमल को भर देना चाहिये।

तदनंतर चारो दिशाओ के चारों द्वारों के ओर लिखे हुए चौवीस वज्रों मे गोमुख आदि चौवीसो यक्षों को वेद शक्ति बीज सहित होमांत लिखना चाहिये। इन सबको पूर्व दिशा से प्रारंभ कर पश्चिम की ओर होते हुए अनुक्रम से लिखना चाहिये। इस प्रकार एक एक दिशा में छह छह यक्ष लिखना चाहिये। यथा ओं ह्रीं गोमुखाय स्वाहा १ ओं ह्रीं महायज्ञाय स्वाहा २ ओं ह्रीं त्रिमुखाय स्वाहा ३ ओं ह्रीं यज्ञेश्वराय स्वाहा ४ ओं ह्रीं तुंबुरवे स्वाहा ५ ओं ह्रीं कुसुमाय स्वाहा ६ ओं ह्रीं वरनंदिने स्वाहा ७ ओं ह्रीं विजयाय स्वाहा ८ ओं ह्रीं अजिताय स्वाहा ९ ओं ह्रीं ब्रह्मेश्वराय स्वाहा १० ओं ह्रीं कुमाराय स्वाहा ११ ओं ह्रीं षण्मुखाय स्वाहा १२ ओ ह्रीं पाताळाय स्वाहा १३ ओं ह्रीं किन्नराय स्वाहा १४ ओं ह्रीं किंपुरुषाय स्वाहा १५ ओं ह्रीं गरुडाय स्वाहा १६ आ ह्रीं गंधर्वाय स्वाहा १७ ओं ह्रीं महेंद्राय स्वाहा १८ ओं ह्रीं कुवेराय स्वाहा १९ ओं ह्रीं वरुणेन्द्राय स्वाहा २० ओं ह्रीं विद्युत्प्रभाय स्वाहा २१ ओ ह्रीं सर्वाह्नाय स्वाहा २२ ओं ह्रीं धरणेन्द्राय स्वाहा २३ ओं ह्रीं मातंगाय स्वाहा २४ इस प्रकार चारों दिशाओं में चौवीस यक्षों को लिखना चाहिये।

तदनंतर पूर्वादिक चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में तथा पूर्व और पश्चिम में प्रणव माया बीज आदि होमांतयुक्त इन्द्रादिक दश दिक्पालों को स्थापन करना चाहिये। तथा ओं ह्रीं इन्द्राय स्वाहा

१ पूर्वे, ओं ह्रीं अग्नीन्द्राय स्वाहा २ आग्नेय्याम्, ओं ह्रीं यमाय स्वाहा ३ दक्षिणे, ओं ह्रीं नैऋत्याय स्वाहा ४ नैऋत्य दिशायां, ओं ह्रीं वरुणाय स्वाहा ५ पश्चिमे, ओं ह्रीं पवनाय स्वाहा ६ वायव्याम्, ओं ह्रीं कुबेराय स्वाहा ७ उत्तरे, ओं ह्रीं ईशानाय स्वाहा ८ ईशाने, ओ ह्रीं धरणीन्द्राय स्वाहा ९ पूर्वे, ओं ह्रीं सोमाय स्वाहा १० पश्चिमे ।

तदनंतर–पूर्वादिक चारों दिशाओं यथा चारों विदिशाओं मे और दुवार पूर्व दिशाओं मे इस प्रकार नौ स्थानों में प्रणवपूर्वक स्वाहा पर्यंत आदित्यादिक नव ग्रहों कों लिखना चाहिये और उनकों पूर्व दिशा से प्रारंभ कर अनुक्रम से पश्चिम की ओर घूमते हुए पूर्व दिशा तक लिखना चाहिये । यथा ओं ह्रीं आदित्याय स्वाहा १ ओं ह्रीं सोमाय स्वाहा, ओं ह्रीं भौमाय स्वाहा, ओं ह्रीं बुधाय स्वाहा, ओं ह्रीं बृहस्पतये स्वाहा, ओं ह्रीं शुक्राय स्वाहा ओं ह्रीं शनैश्चराय स्वाहा ओं ह्रीं राहवे स्वाहा, ओं ह्रीं केतवें स्वाहा ।

एवं जंतुद्धारं इत्थं मइ अक्खियं समासेण ।
सेसं किंपि विहाणं णायव्वं गुरु पसाएण ॥

एवं यंत्रोद्धारं इत्थं मया कथितं समासेन ।
शेषं किमपि विधानं ज्ञातव्यं गुरु प्रसादेन ॥ ४५४ ॥

अर्थ– इस प्रकार मैंने यह यंत्रोद्धार का स्वरुप अत्यंत संक्षेप से कहा है । इसका शेष विधान वा विस्तार गुरुओं के प्रसाद से जान लेना चाहिये ।

अट्ठ विह अच्चणाए पुज्जेयव्वं इमं खु णियमेण ।
दव्वेहिं सुअंधेहि य लिहियव्वं अइपवित्तेहिं ॥

अष्टविधार्चनया पूजितव्यं इदं खलु नियमेन ।
द्रव्यैः सुगन्धैश्च लेखितव्यं अति पवित्रैः ॥ ४५५ ॥

अर्थ– इन यंत्रों को पवित्र धातुओं पर अत्यंत पवित्र और सुगंधित द्रव्यों से लिखना चाहिये । तदनंतर नियमपूर्वक आठों द्रव्यों से प्रति दिन पूजा करना चाहिये ।

आगें इसका फल बतलाते है ।

जो पुज्जइ अणवरयं पावं णिद्दहइ आसिभव वद्धं ।
पडिदिणकयं च विहुणइ बंधइ पउराइं पुण्णाइं ॥

यः पूजयति अनवरतं पापं निर्दहति पूर्वभववद्धम् ।
प्रतिदिनंकृतं च विद्धिनोति वध्नाति प्रचुराणि पुण्यानि ॥४५६॥

अर्थ– जो पुरुष इन यंत्रों की प्रतिदिन पूजा करता है वह अपने पूर्व भवों में संचित किये हुए समस्त पापों को जला देता है नष्ट कर देता है। तथा प्रति दिन के पापों को भी नष्ट कर देता हे। इसके साथ ही वह बहुत अधिक मात्रा मे पुण्य कर्मों का संचय करता है।

इह लोए पुण मता सव्वे सिज्झंति पढिय मित्तेण ।
विज्जाओ सव्वाओ हवंति फुडु साणुकूलाओ ॥

इह लोके पुनर्मंत्राः सर्वे सिध्यन्ति पठितमात्रेण ।
विद्याः सर्वा भवन्ति स्फुटं सानुकूलाः ॥ ४५७ ॥

अर्थ– इसके पठन करने मात्र से पाठ करने में इस लोक में भी समस्त मंत्र सिद्ध हो जाता है तथा जितनी विद्याएं है वे सब स्पष्ट रीति से अपने अनुकूल हो जातीं है।

गह भूय डायणीओ सव्वे णस्सति तस्स णामेण ।
णिव्विसयरणं पयडइ सुसिद्ध चक्कप्पहावेण ॥

ग्रहभूतपिशाचिन्यः सर्वा नश्यन्ति तस्य नाम्ना ।
निर्विषीकरणं प्रकटयति सुसिद्ध चक्रप्रभावेन ॥ ४५८ ॥

अर्थ– ग्रहभूत डाकिनी पिशाच्च आदि सिद्ध चक्र का नाम लेने से ही सब नष्ट हो जाते है। तथा इसी सिद्ध चक्र के प्रभाव से समस्त प्रकार के विष दूर हो जाते है। निर्विषीकरण प्रकट हो जाता है।

फिर सबके बाहर 'ओं ह्रीं आं क्रों अनावृताय स्वाहा' यह मंत्र लिख कर अनावृत यक्ष को स्थापन करना चाहिये तदनतर भूमंडल देकर अष्ट वज्र सहित क्षिति बीज और अष्ट इन्द्रायुध के बीजकर सहित लिखना चाहिये। इस प्रकार यह यंत्र विधि है।

वसियरणं आइट्ठी थंभं णेहं च संति कम्माणि ।
नानाजराणां हरणं कुणेइ तं झाणजोएण ॥

वशीकरणं आकर्षिट स्तम्भनं स्नेहं शान्ति कर्म ।
नानाजराणां हरणं करोति तद्ध्यासयोगेन ॥ ४५९ ॥

अर्थ– इन यंत्र मंत्रों का ध्यान करने से वशीकरण आकर्षण स्तंभन शांति कर्म स्नेह आदि सब मंत्र सिद्ध हो जाते है । इन्हीं मंत्रों का ध्यान करने से वशीकरण हो जाता है जिसको आकर्षण करना चाहो वह आकर्षित हो जाता है जिसका स्तंभन करना चाहो इसका स्तंभन हो जाता है रुक जाता है जिसको शांत करना चाहो वह शांत हो जाता है बुढापा दूर हो जाता है तथा और भी अनेक प्रकार के लाभ हो जाते है ।

पहरंति ण तस्स रिउणा सत्तू मित्तत्तणं च उवयादि ।
पुज्जा हवेह लोए सुवल्लहो णरवरिंदाण ॥

प्रहरन्ति न तस्य रिपवः शत्रुः मित्रत्वं च उपयाति ।
पूजा भवति लोके सुवल्लभो नरवरेन्द्राणाम् ॥ ४६० ॥

अर्थ– इस यंत्र मंत्र का ध्यान करने वाले पुरुष को उसका कोई भी शत्रु मार नहीं सकता, उसके सब शत्रु मित्र के समान हो जाते है, संसार मे उसकी पूजा प्रतिष्ठा होती है और वह पुरुष राजा महाराजाओं का तथा इन्द्रों का भी प्रिय वा वल्लभ होता है ।

किं बहुणा उत्तेण य मोक्खं सोक्खं च लब्भई जेण ।
केत्तिय मेत्तं एयं सुसाहियं सिद्ध चक्केण ॥

किं बहुना उक्तेन च मोक्षः सौख्यं च लभ्यते येन ।
कियन्मात्रमेतत् सुसाधितं सिद्धचक्रेण ॥ ४६१ ॥

अर्थ– अथवा बहुत कहने से क्या ? जिस सिद्ध चक्र के प्रताप से इस मनुष्य को मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त होते है फिर भला ये संसारिक लाभ उसके सामने क्या पदार्थ है अर्थात् कुछ भी नहीं ।

आगे पंच परमेष्ठी चक्र को कहते है ।

अहवा जइ असमत्थो पुज्जइ परमेट्ठिपंचकं ।
तं पायडं खु लोए इच्छिय फलदायगं परमं ।

अथवा यद्यसमर्थः पूजयेत्परमेष्ठिपंचकं चक्रम् ।
तत्प्रकट खलु लोके इच्छितफलदायक परमम् ॥ ४६२ ॥

अर्थ– अथवा जो कोई पुरुष इन मंत्रों के बनाने में वा पूजा अर्चा करने में असमर्थ हो तो उसको पंच परमेष्ठी चक्र की पूजा करनी चाहिये। वह पंच परमेष्ठी चक्र भी इस लोक में सर्वोत्कृष्ट इच्छानुसार फलको देने वाला है।

आगे पंच परमेष्ठी चक्र का यन्त्रोद्धार बतलाते है।

सिररेह भिण्ण सुण्णं चंदकला विंदुएण संजुत्तं ।
मत्ताहिय उवरगयं सुवेढियं कामबीएण ॥

शिरोरेफभिन्नशून्यं चन्द्रकलाविन्दुकेन संयुक्तम् ।
मात्राधिकोपरिगतं सुवेष्टितं कामबीजेन ॥ ४६३ ॥

चामदिसाइणयारं मयार सविसग्ग दाहिणे भाए ।
बहि अट्ठ पत्र कमलं तिउणं वेढेइ मायाए ॥

वाम दिशायां नकारं मकार सविसर्गं दक्षिणे भागे ।
बहिरष्टपत्रकमलं त्रिगुणं वेष्टयेत् मायया ॥ ४६४ ॥

पणमंति मुत्तिमेगे अरहंत पयं दलेसु सेसेसु ।
धरणीमंडल मज्झे झाएह सुरच्चियं चक्कं ॥

प्रणव इति मतिमेकस्मिन् अर्हत्पदं दवेषु शेषेषु ।
धरणीमंडलमध्ये ध्यायेत्सुरार्चितं चक्रम् ॥ ४६५ ॥

अह एउणवण्णासे कोट्ठे काऊण विउलरेहाहिं ।
अइरोइ अक्खराइं कमेण विण्णिसहं सव्वाइं ॥

---

१ बहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर में कही भी इसका यन्त्र नहीं मिला तथा विना यन्त्र के इन पद्यों का अर्थ भी नहीं लग सका इसके लिये हम क्षमा प्रार्थी है।

अथवा एकोनपंचाशान् कोष्ठान् कृत्वा विपुलरेखाभिः ।
अतिरोच्यक्षराणि क्रमेण विनिवेशय सर्वाणि ॥ ४६६ ॥

ता णिसदं जहयारं मज्झिम ठाणेसु ठाइ जुत्तीए ।
वेढइ वीएण पुणो दलमंडल उयरमज्झत्थं ॥

तावत् निवेशय यथाकारं मध्यमस्थानेषु स्थापत्य युक्त्या ।
वेष्टय बीजेन पुनः इलामण्डलोदरमध्यस्थम् ॥ ४६७ ॥

अथवा अनेक रेखाओं से एक उनचास कोठे का यन्त्र बनाना चाहिये । मध्य में पंच परमेष्ठी का नाम देना चाहिये । तथा फिर अनुक्रम से अम्ल वर्यू आम्ल वर्यू इस प्रकार समस्त अक्षरों के मन्त्र लिखना चाहिय । जैसा कि यन्त्र में लिखा है । फिर तीन रेखाओं से धरा मण्डल लिखना चाहिये । इस प्रकार यन्त्र बनता है ।

एए जंतुद्धारे पुज्जइ परट्ठिपंच अहिहाणे ।
इच्छइ फलदायारो पावघणपडलहंतारो ॥

एतान् यंत्रोद्धारान् पूजयेत् परमेष्ठिपंचाभिधानान् ।
इच्छित फलदातृन् पापघनपटलहन्तृन् ॥ ४६८ ॥

अर्थ– ये यंत्रोद्धार पंच परमेंष्ठी वाचक है इनकी पूजा करने से इच्छानुसार फल की प्राप्ति होती है, तथा पापरुपी घने बादलों के समूह सब नष्ट हो जाते है । इसलिये इन यंत्रों के द्वारा पंच परमेंष्ठी की पूजा प्रति दिन करनी चाहिये ।

अट्ठविहच्चण काउं पुव्व पउत्तम्मि ठावियं पडिमा ।
पुज्जेह तग्गयमणो विविहहि पुज्जाहिं भत्तीए ॥

अष्टविधार्चनां कृत्वा पूर्वप्रोक्ते स्थापितां प्रतिमाम् ।
पूजयेत् तद्गतमनाः विविधाभिः पूजाभिः भक्त्या ॥ ४६९ ॥

अर्थ– इस प्रकार अष्ट द्रव्य से यंत्रों के द्वारा पंच परमेष्ठी की पूजा करके पहले अभिषेक के लिये विराजमान की हुई प्रतिमा में अपना मन लगाकर भक्ति पूर्वक अनेक प्रकार के द्रव्यों से अभिषेक बाद उन प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिये ।

आगे अष्ट द्रव्यों के नाम और उनसे होनेवाली पूजा का फल बतलाते है।

पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्ण जलधारा।
भिंगारणाल णिग्गइ भमंतभिंगेहिं कव्वुरिया ॥

प्रशमति रजः अशेषं जिनपद कमलेषु दत्तजलधारा।
भृंगारनालनिर्गता भ्रमद्भृंगैः कर्बुरिता ॥ ४७० ॥

अर्थ– सबसे पहले जल की धारा देकर भगवान की पूजा करनी चाहिये। वह जल की धारा शृंगार (झारी) की नाल से निकलनी चाहिये तथा वह जल इतना सुगंधित होना चाहिये कि उस पर भ्रमर आजांय और जल धारा के चारों ओर घूमते हुए उन भ्रमरों से वह जल की धारा अनेक रंग की दिखाई देने लगे ऐसी जल की धारा भगवान के चरण कमलों पर पडनी चाहिये। इस प्रकार जल की धारा से भगवान की पूजा करनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते है अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म शांत हो जाते है।

चंदणसुअन्ध ले ओ चिणवर चरणेसु जो कुणि भविओ।
लहइ तणूविक्कि रिय सहावसुयंधयं अमलं ॥

चन्दन सुगंध लेपं जिणवर चरणेषु यः करोति भव्यः।
लभते तनुं वैक्रियिकं स्वभावसुगन्धकं अमलम् ॥ ४७१ ॥

अर्थ– जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों पर जिन प्रतिमा के चरण कमलों पर) सुगंधित चन्दन का लेप करता है उसको स्वर्ग में जाकर अत्यन्त निर्मल और स्वभाव से ही सुगंधित वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है। भावार्थ– चन्दन से पूजा करने वाला भव्य जीव स्वर्ग में जाकर उत्तम देव होता है।

पुण्णाण पुज्जे हि य अक्खए पुन्जेहि देवपयपुरओ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवत्तित्तं ॥
पूर्णैः पूजयेच्च अक्षतपुंजैः देवपद पुरतः।
लभ्यन्ते नव निधानानि सु अक्षयानि चक्रवर्तित्वम् ॥ ४७२ ॥

अर्थ– जो भव्य जीव भगवान जिनेंद्रदेव के सामने पूर्ण अक्षतों के पुंज चढाता है अक्षतों से भगवान की पूजा करता है वह पुरुष चक्रवर्ती का पद पाकर अक्षय रूप नव निधियों को प्राप्त करता है। चक्रवर्ती को जो निधियां प्राप्त होती है उनमें से चाहे जितना सामान निकाला जाय निकलता ही जाता है कम नहीं होता।

अलि चुंविएहिं पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहि।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवर वणेहिं॥

अलि चुम्बितैः पूजयति जिनपद कमलं च जातिमल्लिकैः।
स भवति सुरवरेन्द्रः रमते सुरतरुवरवनेषु॥ ४७३॥

अर्थ– जो भव्य पुरुष भगवान जिनेंद्रदेव के चरण कमलों की जिन पर भ्रमर घूम रहे है ऐसे चमेली मोगरा आदि उत्तम पुष्पों से पूजा करता है वह स्वर्ग में जाकर अनेक देवों का इन्द्र होता है और वह वहां पर चिरकालतक स्वर्ग में होने वाले कल्प वृक्षों के वनों में (बगीचों मे) क्रीडा किया करता है।

दहिखीर सप्पि संभव उत्तम चरुरगहि पुज्जए जो हु।
जिणवरपाय पओरुह सो पावइ उत्तमे भोए॥

दधि क्षीर सर्पिः सम्भवोत्तम चरुकैः पूजयेत् योहि।
जिनवर पादपयोरुहं स प्राप्नोति उत्तमान् भोगान्॥ ४७४॥

अर्थ– जो भव्य पुरुष दही दूध घी आदि में बने हुए उत्तम नैवेद्य से भगवान जिनेंद्रदेव के चरण कमलों को पूजा करता है उसे उत्तमोत्तम भोगों की प्राप्ति होती है।

कप्पूर तेल्ल पयलिय मंद मरुपहयणडिदीवेहिं।
पुज्जइ जिण पय पोमं ससि सूरवि सम तणुं लहई॥

कर्पूर तैल प्रज्वलित मन्द मरुत्प्रहतनटितदीपैः।
पूजयति जिन पद्मं शशिसूर्यसम तनुं लभते॥ ४७५॥

अर्थ– जो दीपक कपूर घी तेल आदि से प्रज्वलित हो रहा है औ मन्द मन्द वायु से नाच सा रहा है ऐसे दीपक से जो भव्य पुरुष

भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है वह पुरुष सूर्य चन्द्रमा के समान तेजस्वी शरीर को धारण करता है।

सिल्लारस अयरु मिस्सिय णिग्गइ धूवेहिं वहल धूमेहिं।
धूवइ जो जिण चरणेस लहई सुहवत्तणं तिजए॥

शिलारसागुरुमिश्रितनिर्गतधूपैः वहलधुम्रैः।
धूपयेद्यः जिनचरणेसलभते शुभवर्तनं त्रिजगति॥ ४७६॥

अर्थ– जिससे बहुत भारी धूआं निकल रहा है और जो शिलारस (शिलाजीत) अगुरु चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई है ऐसी धूप अग्नि में खेकर भगवान जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों को धूपित करता है वह तीनों लोकों में उत्तम पद को प्राप्त होता है। धूप को अग्नि में खेना चाहिये और उससे निकला हु धूंआं दायें हाथ से भगवान की ओर करना चाहिये।

पक्केहिं रसड्ढ समुज्जलेहिं जिणचरणपुरओ।
णाणा फलेहिं पावइ पुरिसो हिय इच्छियं सुफलं॥

पक्वैः रसाढयैः समुज्वलैः जिनवरचरणपुरः।
नानाफलैः प्राप्नोति पुरुषः हृदयेप्सितं सुफलम्॥ ४७७॥

अर्थ– जो भव्य पुरुष अत्यंत उज्वल रससे भरपूर ऐसे अनेक प्रकार के पके फलों से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के सामने समर्पण कर पूजा करता है वह अपने हृदय अनुकूल उत्तम फलों को प्राप्त होता है।

इय अठ्ठभेय अच्चण काऊं पुण जवइ मूलविज्जा य।
जा जत्थ जहा उत्ता सयं च अठ्ठोत्तरं जावा॥

इति अष्टभेदार्चनं कृत्वा पुनः जपेत् मूलविद्यां च।
यां यत्र यथोक्तां शतं चाष्टोत्तरं जाप्यम्॥ ४७८॥

अर्थ– इस प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिये तदनंतर मूल मन्त्र का जप करना चाहिये। जिस पूजा में जो मूल मन्त्र बतलाया है उसी मन्त्र को एक सौ आठ बार जपना चाहिये।

आगे किस रुप से भगवान का ध्यान करना चाहिये सो बतलाते है।

किच्चा काउस्सग्गं देवं झाएह समवसरणत्थं ।
लद्धठ्ठ पाडिहेरं णवकेवल लद्धि संपुण्णं ॥

कृत्वा कायोत्सर्गं देवं ध्यायेत् समवसरणस्थम् ।
लब्धाष्ट प्रातिहार्यं नवकेबललब्धिसम्पूर्णम् ॥ ४७९ ॥

अर्थ– तदनन्तर कायोत्सर्ग कर भगवान जिनेन्द्र देव का ध्यान करना चाहिये। आगे किस रुप से ध्यान करना चाहिये सो बतलाते है। भगवान समवसरण में विराजमान है आठों प्राति हार्यों से सुशोभित है यथा नौ केवल लब्धियों से परिपूर्ण है। अशोक वृक्ष का होना देवों के द्वारा पुष्प वृष्टी का होना, देवों के द्वारा बाजे बजना, सिंहासन, समर, छत्र भामंडल का होना दिव्य ध्वनी का होना ये आठ प्राति हार्य कहलाते है। अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान क्षायिक ज्ञान क्षायिक लाभ क्षायिक भोग क्षायिक उपभोग क्षायिक वीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ लब्धियां कहलाती हैं।

आगे और भी बतलाते है।

णठ्ठ चउ घाइ कम्मं केवल णाणेण मुणिय तियलोयं ।
परमेठ्ठी अरिहंतं परमत्थं परम झाणत्थं ॥

नष्ट चतुर्घाति कर्माणं केवल ज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकम् ।
परमेष्टिनमर्हन्तं परमात्मानं परमध्यानस्थम् ॥ ४८० ॥

अर्थ– जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये है जो अपने केवल ज्ञान से तीनो लोकों कों प्रत्यक्ष जानते है जो अरहंत पद में विराजमान है, परम परमेंष्ठी है परमात्मा है और परम वा सर्वोत्कृष्ट ध्यान में लीन है। ऐसे भगवान अरहंत देव का ध्यान करना चाहिये।

झाणं झाऊण पुणो मज्झाणिय वंदणत्थ काऊण ।
उवसंहरिय विसज्जे जे पुव्वावाहिया देवा ॥

ध्याने ध्वात्वा पुनः माध्याहिनकवंदनामत्र कृत्वा ।
उपसंहृत्य विसर्जयेत् यान् पूर्वमाहूतान् देवान् ॥ ४८१ ॥

अर्थ– इस प्रकार अरहंत भगवान का ध्यान कर माध्यान्हिक वंदना करनी चाहिये । तदनतर उपसंहार कर पहले आव्हान किये हुए देवों का विसर्जन करना चाहिये ।

आगे पूजा का फल कहते है ।

एण विहाणेण पुडं पुज्जा जो कुणइ भत्ति संजुत्तो ।
सो डहइ णियं पावं बंधइ पुण्णं तिजय खोहं ॥

एतद् विधानेन स्फुटं पूजां यः करोति भक्तिसंयुक्तः ।
सदहति निजं पापं बध्नाति पुण्यं त्रिजगत्क्षोभम् ॥ ४८२ ॥

अर्थ– इस प्रकार जो भव्य पुरुष भक्ति सहित ऊपर लिखी विधि के अनुसार भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वह अपने समस्त पापों को नाश कर देता है तथा तीनो लोकों को क्षोभ उत्पन्न करने वाले पुण्य का बंध करता है ।

उप्पज्जइ दिवलोए भुंजइ भोए मणिच्छिए इठ्ठे ।
बहुकालं चविय पुणो उत्तम मणुयत्तणं लहई ॥

उत्पद्यते स्वर्गलोके भुंक्ते भोगान् मन इच्छितान् इष्टान् ।
बहुकालं च्युत्वा पुनः उत्तममनुष्यत्वं लभते ॥ ४८३ ॥

अर्थ– तदनंतर आयु पूर्ण होनें पर वह स्वर्गलोक मे उत्पन्न होता है, वहां पर अपने मन की इच्छानुसार अनेक प्रकार के इष्ट भोगों का अनुभव करता है तथा चिरकाल तक उन भोगो का अनुभव करता रहता है । आयु पूर्ण होनेपर वहां से च्युत होता है और मनुष्य लोक मे आकर उत्तम मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है ।

होऊण चक्क वट्टी चउदह रयणेहि णव णिहाणेहिं ।
पालिय छक्खंडधरा भुंजिय भोए णिरुगरिठ्ठा ॥

भूत्वा चक्रवर्ती चतुर्दशरत्नैर्नव निधानैः ।
पालयित्वा षट्खण्डधरां भुक्त्वा भोगान् निर्गरिष्ठान् ॥ ४८४ ॥

अर्थ– उत्तम मनुष्य शरीर को पाकर वह चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है चौदह रत्न और नौ निधियों को प्राप्त करता है छहों खंड पृथ्वी का पालन करता है और उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करता है।

संपत्त बोहि लाहो रज्जं परिहरिय भविय णिग्गंथो ।
लहिऊण सयलसंजम धरिऊण महव्वया पंच ॥

संप्राप्तबोधिलाभः राज्यं परिहृत्य भूत्वा निर्ग्रंथः ।
लब्ध्वा सकलसंयमं धृत्वा महाव्रतानि पंच ॥ ४८५ ॥

अर्थ– तदनंतर वह संसार शरीर और भोगों से विरक्त होकर रत्नत्रय को धारण करता है. राज्य का त्याग कर दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करता है सकल संयम को धारण करता है और पंच महाव्रतों को धारण करता है।

लहिऊण सुक्कझाणं उप्पाइय केवलं वरं णाणं ।
सिज्झेइ णट्ठकम्मो अहिसेयं लहिय मेरुम्मि ॥

लब्ध्वा शुक्लध्यानं उत्पाद्य केवलं वरं ज्ञानम् ।
सिध्यति नष्टकर्मा अभिषेकं लब्ध्वा मेरौ ॥ ४८६ ॥

अर्थ– पंच महाव्रत धारण कर वह शुक्ल ध्यान को धारण करता है चारों घातिया कर्मों को नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है। यदि वह फिर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो वहां से आकर तीर्थंकर होकर मेरु पर्वत पर अपना अभिषेक कराता है और फिर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त कर अनेक जीवों को मोक्षमार्ग में लगाकर मोक्ष प्राप्त करता है।

इय णाउण विसेसं पुण्णं आयरइ कारणे तस्स ।
पावहणं जाम सयलं संजमयं अप्पमत्तं च ॥

इति ज्ञात्वा विशेषं पुण्यं अर्जयेत् कारणं तस्य ।
पापघ्नं यावत् सकलं संयमं अप्रमत्तं च ॥ ४८७ ॥

अर्थ– यह सब पुण्य की विशेष महिमा समझकर जबतक सकल संयम प्राप्त न हो जाय तब तक समस्त पापों को नाश करने वाले और

मोक्ष के कारण भूत ऐसे विशेष पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

आगे विशेष पुण्य के लिये और क्या क्या करना चाहिये सो कहते है।

भावह अणुव्वयाइं पालह सीलं च कुणह उववासं।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जह अणवरय दाणाइं॥

भावयेत् अणुव्रतानि पालयेत् शीलं च कुर्यादुपवासम्।
पर्वणि पर्वणि नियमं दद्यात् अनवरतं दानानि॥ ४८८॥

अर्थ– ऐसे विशेष पुण्य को उपार्जन करने के लिये अणुव्रतों को पालन करना चाहिये, गुणव्रत शिक्षाव्रत रूप शीलों का पालन करना चाहिये। प्रत्येक पर्व के दिन उपवास करना चाहिये और नियम पूर्वक निरन्तर दान देना चाहिये।

अभय पयाणं पढमं विदियं तह होइ सत्थ दाणं च।
तइयं ओसह दाणं आहारदाणं चउत्थं च॥

अभयप्रदानं प्रथमं द्वितीयं भवति शास्त्रदानं च।
तृतीयं त्वौषदानं आहारदानंचतुर्थं च॥ ४८९॥

अर्थ– दान के चार भेद है पहला अभयदान, दूसरा शास्त्रदान, तीसरा औषधदान और चौथा आहार दान।

आगे इन दानों का फल बतलाते है।

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरुणं।
सो णिब्भओ तिलोए उत्तस्सो होइ सव्वेसिं॥

सर्वेषां जीवानां अभयं यो ददाति मरण भीरुणाम्।
स निर्भयः त्रिलोके उत्कृष्टो भवति सर्वेषाम्॥ ४९०॥

अर्थ– जो जीव अपने मरने से भयभीत हो रहे है ऐसे समस्त जीवों को जो अभयदान देता है वह पुरुष तीनो लोकों में निर्भय होता है और सब मनुष्यों मे उत्कृष्ट होता है।

सुयदाणेण प लब्भइ मइ सुइ णाणं च ओहिमणणाणं ।
बुद्धितवेणय सहियं पच्छा वर केवलं णाणं ॥

श्रुतदाणेण च लभते मतिश्रुज्ञानं च अवधि मनोज्ञानम् ।
बुद्धि तपोभ्यां च सहितं पश्चाद्वरकेवलं ज्ञानम् ॥ ४९१ ॥

अर्थ– जो पुरुष शास्त्रदान देता है, जिनागम को पढ़ाता है वह पुरुष मति ज्ञान श्रुतज्ञान दोनों को पूर्ण रुप से प्राप्त करता है, बुद्धि और तपश्चरण के साथ साथ अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान को प्राप्त करता है।

ओसहदाणेण णरो अतुलिम बलपरक्कमोमहासत्तो ।
वाहि विमुक्क सरीरो चिराउ सो होइ तेयठ्ठो ॥

औषधदानेन नरोऽतुलितबलपराक्रमो महोसत्वः ।
व्याधि विमुक्त शरीरश्चिरायुः स भवति तेजस्थः ॥ ४९२ ॥

अर्थ– जो पुरुष औषध दान देता है वह अतुलित वा सर्वोत्कृष्ट बल और पराक्रम को धारण करता है महाशक्ति को धारण करता है, वह चिरायु होता है, तेजस्वी होता है और उसका शरीर समस्त रोग व्याधियों से रहित होता है।

दाणस्साहारं फलं को सक्कइ वण्णिऊण भुवणयले ।
दिण्णेण जेण भोओ लब्भंति मणिच्छियासव्वे ॥

दानस्य आहारस्य फलं कः शक्नोति वर्णयितुं भुवनतले ।
दत्तेन येन भोगा लभ्यन्ते मन इच्छिताः सर्वे ॥ ४९३ ॥

अर्थ– इन तीनों लोकों में आहार दान के फल को वर्णन करने के लिये भला कौन समर्थ है। भावार्थ– आहार दान के फल को कोई

ज्ञानवान् ज्ञानदानेण निर्भयोऽभय दानतः ।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत ॥

अर्थ– यह जीव ज्ञान दान से ज्ञाती होता है, अभयदान से निर्भय होता है अन्नदान से सुखी होता है और औषधदान से निरोग होता है।

कह ही नहीं सकता क्योंकि आहार दान के देने से अपने मन की इच्छा नुसार समस्त उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है।

दायारो वि य पत्तं दाण विसेसो तहा विहाणं च ।
एए चउ अहियारा णायव्वा होंति भव्वेण ॥

दातापि च पात्रं दानविशेषस्तथा विधानं च ।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति भव्येन ॥ ४९४ ॥

अर्थ– भव्य जीवों को सबसे पहले दान देने के चार अधिकार समझ लेने चाहिये। दाता, पात्र, दान, देने योग्य द्रव्य और देनें की विधि ये चार अधिकार है।

दान देने वाले को दाता कहते है जिसको दान दिया जाता है वह पात्र कहलाता है, दान में जो द्रव्य दिया जाता है वह दान विशेष है और दान देने के नियमों को विधि कहते है।

दायारो उवसंतो मणवय काएण संजुओ दच्छो ।
दाणे कयउच्छाहो पयडय वर छग्गुणो अमये ॥

दाता उपशान्तो मनीवचल कायेन संयुक्तो दक्षः ।
दाने कृतोत्साहः प्रकटित बरषड्गुणः अमयः ॥ ४९५ ॥

अर्थ– जो भव्य जीव शांत परिणामों को धारण करता है, जो मन वचन काय से दान देने में लगा हो अत्यन्त चतुर हो, दान देने में जिसका उत्साह हो, जो मद वा अभिमान रहित हो और दातां के छह गुणों से सुशोभित हो ऐसा भव्य जीव दात गिना जाता है।

भत्ती तुठ्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ ।
विउणाण तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे ॥

भक्तिः तुष्टिः क्षमाश्रद्धा सत्वं च लोभपरित्यागः ।
विज्ञानं तत्काले सप्तगुणाः भवन्ति दातरि ॥ ४९६ ॥

अर्थ– जिनको दान देना है उनमें जिसकी भक्ति हो, दान दने में जिसको संतोष हो, क्षमा को धारण करने वाला हो, देव शास्त्र गुरु में

वा पात्र में श्रद्धा रखता हो, दान देने की शक्ति रखता हो, जिसके लोभ का त्याग हो और दान देने में क्या क्या करना चाहिये इस बात का जिसको पूरा ज्ञान हो वही उत्तम दाता कहलाता है। भावार्थ-दाता मे ये सात गुण अवश्य होने चाहिये।

आगे पात्रों के भेद बतलाते है।

तिविहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तमं जहण्णं च।
उत्तम पत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया॥

त्रिविधं भणन्ति पात्रं मध्यमं तथोत्तमं जघन्यं च।
उत्तमपात्रं साधुः मध्यमपात्रं च श्रावका भणिताः॥ ४९७॥

अविरइ सम्मादिट्ठी जहण्ण पत्तं तु अक्खियं समये।
णाउण पत्तविसेसं दिज्जइ दाणाइ भत्तीए॥

अविरत सम्यग्दृष्टिः अधन्यपात्रं तु कथितं समये।
ज्ञात्वा पात्रविशेषं दद्यात् दानानि भक्त्या॥ ४९८॥

अर्थ– पात्र तीन प्रकार के है उत्तम पात्र मध्यम पात्र और जघन्य पात्र। इनमें उत्तम पात्र रत्नत्रय को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि है मध्यम पात्र अणुव्रती श्रावक हे और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष है। ऐसा शास्त्रों मे निरूपण किया है। इसलिये भव्य जिवों को इन पात्रों के भेद और विशेषता समझकर भक्ति पूर्वक दान देना चाहिये।

आगे जैसा पुरुष जैसे पात्र को दान देता है उसको वैसा ही उत्तम फल मिलता है यही दिखलाते है।

मिच्छादट्ठी दुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावइ वर भोए फुड उत्तम भोय भूमीसु॥

मिथ्यादृष्टिः पुरुषो दानं यो ददाति उत्तमे पात्रे।
स प्राप्नोति वर भोगान् स्फुटं उत्तमभोगभूमीषु॥ ४९९॥

अर्थ– यदि कोई मिथ्यादृष्टी पुरुष किसी उत्तमपात्र को दान

देता है तो वह पुरुष उत्तम भोगभूमि के उत्तम भोगों को प्राप्त होता है।

मज्झिम पत्ते मज्झिम भोयभूमीसु पावए भोए ।
पावइ जहण्ण भोए जहण्ण पत्तस्स पाणेण ॥

मध्यमपात्रे मध्यमभोगभूमिषु प्राप्नोति भोगान् ।
प्राप्नोति जघन्यभोगान् जघन्यपात्रस्य दानेन ॥ ५०० ॥

अर्थ– यदि मिथ्या दृष्टि पुरुष किसी मध्यम पात्र को दान देता है तो वह मध्यम भोग भूमि के भोगों को प्राप्त होता है और यदि वही मिथ्या दृष्टि पुरुष किसी जघन्य पात्र को दान देता है तो वह जघन्य भोग भूमि में जन्म लेकर वहां के भोगों का अनुभव करता है।

आगे फलों में यह न्यूनाधिकता क्यों होती है सो बतलाते है।

उत्तम छित्ते बीयं फलइ जहा लक्ख कोडि गुण्णेहिं ।
दाणं डत्तम पत्ते फलइ तहा किमिच्छ भणिएण ॥

उत्तम क्षेत्रे बीजं फलति यथा लक्षकोटि गुणैः ।
दानं उत्तमपात्रे फलति तथा किमिच्छभणितेन ॥ ५०१ ॥

अर्थ– जिस प्रकार उत्तम पृथ्वीपर बोया हुआ बीज लाखों गुणा या करोडों गुणा फलता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान इच्छानुसार फलको देता है।

समादिट्ठो पुरिसो उत्तम पुरिसस्स दिण्ण दाणेण ।
उववज्जइ दिव लोए हवइ स महद्धिडओ देओ ॥

सम्यग्दृष्टिः पुरुषः उत्तम पुरुषस्य दत्तदानेन ।
उत्पद्यते स्वर्गलोके भवति स महर्द्धिको देवः ॥ ५०२ ॥

अर्थ– यदि कोई सम्यग्दृष्टी पुरुष उत्तम पात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग लोक में जाकर महा ऋद्धियों को महा विभूतियों को धारण करने वाला उत्तम देव होता है।

जह णीरं उच्छुगयं कालं परिणवइ अमिय रूवेण ।
तह दाणं वर पत्ते फलेइ भोएहिं विविहे हिं ॥

यथा नीरमिक्षुगतं काले परिणमति अमृतरूपेण ।
तथा दानं परपात्रे फलति भोगैः विविधैः ॥ ५०३ ॥

अर्थ– जिस प्रकार ईख के खेत में दिया हुआ पानी अपने समय पर अमृतरुप (मीठे रसरुप) परिणत हो जाता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान अपने समय पर अनेक प्रकार के भोगों से फलत है।

उत्तमरयणं खु जहा उत्तम पुरिसासियं च बहुमुल्लं ।
तह उत्तम पत्तगयं दाणं णिउणेहि णायत्वं ॥

उत्तमरत्नं खलु यथा उत्तम पुरुषाश्रितं च बहुमूल्यम् ।
तथोत्तमपात्रगतं दानं निपुणैः ज्ञातव्यम् ॥ ५०४ ॥

अर्थ– जिस प्रकार कोई उत्तम रत्न किसी उत्तम पुरुष के आश्रय से बहूमुल्य माना जाता है उसी प्रकार किसी उत्तम पात्र को दिया हुआ दान विद्वान लोगों के द्वारा सर्वोत्तम माना जाता है ऐसा समझना चाहिये ।

किंचिवि वेयमयं पत्तं किंचिवि पत्तं तवोभयं परमं ।
तं पत्तं संसारे तारकयं होइ णियमेण ॥

किं किंचिदपि वेदमयं किंचिदपि पात्रं तपोमयं परमम् ।
तत्पात्रं संसारे तारकं भवति नियमेन ॥ ५०५ ॥

अर्थ– अन्य प्रकार से पात्रों के और भी दो भेद है । एक तो थोडे वा बहुत वेद को जानने वाले को वेदमय पात्र और दूसरे थोडा बहुत परमोत्कृष्ट तपश्चरण करने वाले को तपोमय पात्र ऐसे पात्र के दो भेद है, ये दोनों प्रकार के पात्र नियम पूर्वक संसार से पार कर देने वाले होते है ।

आगे वेद क्या है और वेदमय पात्र कैसे होते है सो दिखलाते है ।

वेओ किल सिद्धंतो तस्सट्ठा णवपयत्थ छद्दव्वं ।
गुण मग्गणठाणाबिय जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥

वेदः किल सिद्धातः तस्योर्थानःव पदार्थ षड् द्रव्याणि ।
गुणमार्गणा स्थानात्यपि च जीवस्थानानि सर्वाणि ॥ ५०६ ॥

परमप्पयस्स रूवं जीव कम्माण उहय सब्भावं ।
जो जाणइ सविसेसं वेयमयं होइ तं पत्तं ॥

परमात्मनो रुपं जीवकर्मणोरुभयोः स्वभावम् ।
यो जानाति सविशेषं वेदमयं भवति तत्पात्रम् ॥ ५०७

अर्थ– वेद शब्द का अर्थ सिद्धांत शास्त्र है, जो पुरुष सिद्धांत शास्त्रों को तथा उसके अर्थ को जानता है, नौ पदार्थों के स्वरुप को छहों द्रव्यों के स्वरुप को जानता है, समस्त गुणस्थान, मार्गणा स्थान और जीवस्थानों को जानता है, परमात्माके स्वरुप को जानता है, जीवों का स्वभाव कर्मों का स्वभाव और कर्म विशिष्ट जीवो का स्वभाव जानता है तथा इन सबका स्वरुप विशेष रीति से जानता है उसको वेदमय पात्र कहते है ।

बहिरब्भंतर तवसा कालो परिखवइ जिणोवएसेण ।
दिढ बंभचेर णाणी पत्तं तु तवोमयं भणियं ॥

बाह्याभ्यन्तरतपसा कालं परिक्षिपति जिनोपदेशेन ।
दृढब्रह्मचर्यो ज्ञानी पात्रं तु तपोमयं भणितम् ॥ ५०८ ॥

अर्थ– जो पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए बाह्य और अभ्यंतर तपश्चरण के द्वारा अपना समय व्यतीत करता है तथा जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को दृढता के साथ पालन करता है और सम्यग्ज्ञान को धारण करता है उसको तपोमय पात्र कहते है । इस प्रकार वेदमय और तपोमय दो प्रकार के पात्र बतलाये । आगे उदाहरण देकर पात्र–दान का फल बतलाते है ।

जह णावा णिच्छिदा गुणमइया विविह रयण परिपुण्णा ।
तारइ पारावारे बहु जलयर संकडे भीमे ॥

यथा नौः निश्छिद्रा गुणमया त्रिविधरत्न परिपूर्णा ।
तारयति पारावारे बहुजलचर संकटे भीमे ॥ ५०९ ॥

तह संसार समुद्दे जाइ जरामरण जलयरा किण्णे ।
दुक्ख सहस्साबत्ते तारेइ गुणाहियं पतं ॥ ५१० ॥

तथा संसार समुद्रे जातिजरामरणजलचराकीर्णे ।
दुःखसहस्रा वर्ते तारयति गुणाधिकं पात्रम् ॥ ५१० ॥

अर्थ– जिस प्रकार अनेक प्रकार के रत्नों से भरी हुई और नाव में होने वाले अनेक गुणों को धारण करने वाली बिना छिद्रवाली नाव अनेक जलचर जीवों से भरे हुए और अत्यंत भयानक ऐसे समुद्र से पार कर देती है उसी प्रकार अधिक अधिक गुणों से सुशोभित होने वाला पात्र जो जन्म जरा मरण रूपी विकट जलचर जीवों से भरा हुआ है और जिसमें हजारों दुःखरूपी भंवर पड रहे है ऐसे इस संसार समुद्र से भव्य जीवों को पार कर देता है । इस प्रकार संक्षेप से पात्रों का स्वरूप बतलाया ।

आगे दानमें देने योग्य द्रव्य को बतलाते है ।

कुच्छिगयं जस्सउणं जीरइ तवझाणबंभ चरिएहिं ।
सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं ॥ ५११ ॥

कुक्षिगतं यस्यान्नं जीर्यते तपो ध्यान ब्रह्मचर्यैः ।
तत्पात्रं निस्तारयति आत्मानं चैव दातारम् ॥ ५११ ॥

अर्थ– जिसका जो अन्न पेटमें पहुंचने पर तपश्चरण ध्यान और ब्रह्मचर्य रादि के द्वारा सुखपूर्वक जीर्ण हो जाय पच जाय वही अन्न पात्र को भी ससार से पार कर देता है और दान देने वाले दाता को भी संसार से पार कर देता है ।

एरिस पत्तम्मि वरे दिज्जइ आहारदाणमणवज्जं ।
पासुय सुद्धं अमलं जोग्गं मणदेह सुक्खयरं ॥ ५१२ ॥

एनादृश पात्रे वरे दद्यात् आहारदान मनवद्यम् ।
प्रासुकं शुद्धं अमलं योग्यं मनोदेहसुखकरम् ॥ ५१२ ॥

अर्थ– इस प्रकार कहे हुए उत्तम पात्रों को निरन्तर आहार दान देना चाहिये । वह आहार निर्दोष हो प्रासुक हो, शुद्ध हो, निर्मल हो,

योग्य हो और मन तथा शरीर को सुख देने वाला हो ।

कालस्स य अणुरूवं रोयारोयत्तणं च णाऊणं ।
दायव्वं जह जोग्गं आहारं गेहवंतेण ॥ ५१३ ॥

कालस्य चानुरूपं रोगारोगत्वं च ज्ञात्वा ।
दातव्यं यथायोग्यं आहारं गेहवता ॥ ५१३ ॥

अर्थ– गृहस्थों को यथा योग्य ऐसा आहार दान देना चाहिये जो समय वा ऋतुओं के अनुकूल हो, तथा जिसमे रोग वा नीरोगता का भी विचार हो ।

पत्तस्सेस सहावो जं दिण्णं दायगेण भत्तीए ।
तं कर पत्ते सोहिय गहियव्वं विगइरायेण ॥ ५१४ ॥

पात्रस्यैष स्वभावो यद्दत्तं दायकेन भक्त्या ।
तत्कर पात्रे शोधियित्वा गृहीतव्य विगतरागेण ॥ ५१४ ॥

अर्थ– पात्रका भी यह स्वभाव होना चाहिए कि दाता ने जो भक्तिपूर्वक दान दिया है उसको कर पात्र में लेना चाहिये और उसको शोधकर बिना किसी राग द्वष के ग्रहण कर लेना चाहिये ।

आगे दाता का भी स्वभाव बतलाते है ।

दायारेण पुणो विय अप्पाणो सुक्ख मिच्छमाणेण ।
देयं उत्तम दाणं विहिणा वरणीय सत्तीए ॥ ५१५ ॥

दात्रा पुनरपि च आत्मनः सुखमिच्छता ।
देयं उत्तमदानं विधिना वार्णितशक्त्या ॥ ५१५ ॥

अर्थ - जो दाम देने वाला दाता अपने आत्मा को सुख पहुँचना चाहता है उसको विधि पूर्वक ऊपर कही हुई शक्ति के अनुसार उत्तम दान देना चाहिये ।

आगे लोभी दाता के लिये कहते है ।

जो पुण हंतइ धण कणइ मुनिहिं कुभोयणु देइ ।
जम्मि जम्मिदालिददहण पुट्ठि ण तहो छंडेइ ॥ ५१६ ॥

यः पुनः सतिधन कनके मुनिभ्यः कुभोजनं ददासि ।
जन्मनि जन्मनि दारिद्र्य दहनंपृष्ठं न तस्य त्यजति ॥ ५१६ ॥

अर्थ– जो पुरुष अन्न धन आदि के होते हुए भी मुनियों को कुभोजन देता है उसकी पीठ को दरिद्रता अनेक जन्मों तक भी नहीं छोडती अर्थात् वह अनेक जन्म तक दरिद्री बना रहता है ।

आगे आहार दान के लाभ बतलाते हैं ।

देहो पाणा रुवं विज्जा धम्मं तवो सुहं मोक्खं ।
सव्वं दिण्णं णियमा हवेइ आहारदाणेण ॥

देहः प्राणाः रुपं विद्या धर्मः तपः सुखं मोक्षः ।
सर्वं दत्तं नियमात् भवेत् आहारदानेन ॥ ५१७ ॥

अर्थ– शरीर, प्राण, रुप, विद्या, धर्म, तप, सुख और मोक्ष ये सब आहार के ऊपर निर्भर है । इस लिये जो भव्य पुरुष यतियों को आहार दान देता है वह नियम से शरीर, प्राण, रुप, विद्या, धर्म, तप, सुख मोक्ष आदि सबका दान देता है ऐसा समझना चाहिये ।

भुक्खं समा णहु वाही अण्णसमाणं य ओसहं णत्थि ।
तम्हा अहार दाणे आरोगत्तं हवे दिण्णं ॥

बुभुक्षासमो नहि व्याधिः अन्नसमाण च औषधं नास्ति ।
तस्मादाहारदानेन आरोग्यत्वं भवेद्दत्तम् ॥ ५१८ ॥

अर्थ– इस संसार में भूख के समान अन्य कोई व्याधि नहीं है और अन्न के समान कोई औषधि नहीं है । इस लिये जो भव्य आहार दान देता है वह पुरुष आरोग्य दान भी देता है ऐसा अवश्य समझना चाहिये ।

आहार मओ देहो आहारेण विणा पडेइ णियमेण ।
तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण ॥

आहार मयो देहः आहारे बिना पतति नियमेन ।
तस्मात्येता ऽऽ हारो दत्तो देहो भवेत्तेन ॥ ५१९ ॥

अर्थ– यह शरीर आहार मय है अन्न का कीडा है। यदि इसको आहार न मिले तो नियम से शिथिल होकर गिर पडता है। इस लिये जिसने ऐसे शरीर के लिये आहार दिया उसने उस शरीर को ही दिया ऐसा समझना चाहिये।

ता देहो ता पाणा ता रुवं ताम णाण विण्णाणं।
जामा हारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो॥

तावद्देहस्तावत्प्राण स्तावद्रूपं तावद्ज्ञान विज्ञानम्।
यावदाहारो प्रविशति देहे जीवानां सुखकरः॥ ५२०॥

अर्थ– इस संसार मे जब तक जीवों को सुख देने वाला आहार इस शरीर में रहता है तब तक ही यह शरीर है तब तक ही प्राण रहते है तबतक ही रुप रहता है, तबतक ही ज्ञान रहता है और तब तक ही विज्ञान रहता है। बिना आहार के ये सब नष्ट हो जाते है।

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रय सडणं।
रय णासेण य णाणं णाणे मुक्खो जिणोभणई॥

आहाराशने देहो देहन तपस्तपसा रजः सटनम्।
रजोनाशेन च ज्ञानं ज्ञाने मोक्षो जिनो भणति॥ ५२१॥

अर्थ– आहार ग्रहण करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर की स्थिती रहने से तपश्चरण होता है, तपश्चरण से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मो का नाश होता है, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है।

आगे आहारदान से चारों दानों का फल मिलता है ऐसा कहते है।

चउविहदाणं उत्तं जे तं सयलमवि होइ इह दिण्णं।
सविसेसं दिण्णेणय इक्केणाहारदाणेण॥

चतुर्विधदानं उक्तं यत् तत् सकलमपि भवति इह दत्तम्।
सविशेष दत्तेन च एकेनाहार दानेन॥ ५२२॥

अर्थ– जो पुरुष विशेष रीति से एक आहार दान को ही देता है वह उस एक आहार दान से ही समस्त चारों दान दिये, ऐसा समझा जाता है।

आगे यही बात दिखलाते है ।

भुक्खा कय मरणभयं णांसइ जीवाण तेण तं अभयं ।
सो एव हणइ वाही उसहं फुडअत्थितेण आहारो ॥ ५२३ ॥

बुभुक्षाकृत मरण भयं नाशयति जीवानां तेन तदभयम् ।
स एव हन्ति व्याधि औषधं स्फुटमस्ति तेनाहारः ॥ ५२४ ॥

अर्थ– देखो भूख की पीडा अधिक होनें से मरने का भय होता है इसलिये आहार दान देने से अभयदान की भी प्राप्ति होती है। तथा भूख ही सबसे प्रबल व्याधि है। और वह आहार दान से नष्ट होती है। इसलिए आहार दान देने से ही औषध दान समझना चाहिये।

आयाराई सत्थं आहारबलेण पढइ णिस्सेसं ।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ॥ ५२४ ॥

आचारादि शास्त्रं आहारबलेन पठति निःशेषम् ।।
तस्मात तच्छ तदानं दत्तं आहार दानेन ॥ ५२४ ॥

अर्थ– इस आहार के ही बलसे आचार आदि समस्त शास्त्रों का पठन पाठन होता है इसलिये एक आहार दान देने से ही शास्त्र दान का भी फल मिल जाता है। इस प्रकार एक आहार दान से चारों के फल मिल जाते है।

आगे आहार दान का और भी महत्व बतलाते है।

हय गयगो दाणाइं धरणीरय कणय आण दाणाइं ।
तित्तिं ण कुणंति सया जह तित्तिं कुणइ आहारो ॥ ५२५ ॥

हयगज गोदानानि धरणी रत्नकनक यानदानानि ।
तृप्तिं न कुर्वन्ति सदा यथा तृप्तिं करोति आहारः ॥ ५२५ ॥

अर्थ– घोडा हाथी और गायों का दान, पृथ्वी, रत्न, अन्न, वाहन

आदि का दान देने से दान लेने वालों को उतनी तृप्ति नहीं होती जितनी तृप्ति सदाकाल आहार दान देने से होती है।

आगे और भी कहते है।

जह रयणाण वइरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरू।
तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायव्वो ॥ ५२६ ॥

यथा रत्नानां वज्रं शैलेषु च उत्तमो यथा मेरुः।
तथा दानानां प्रवरः आहारो भवति ज्ञातव्यः ॥ ५२६ ॥

अर्थ– जिस प्रकार समस्त रत्नों में वज्र रत्न उत्तम है, और समस्त पर्वतों में मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार समस्त दानों में आहार-दान सबसे उत्तम है ऐसा समझना चाहिये।

आगे आहार दान देने की विधि बतलाते है।

सो दायव्वो पत्ते विहाण जुत्तेण सा विही एसा।
पडिगह मुच्चठ्ठाणं पादोदय अच्चणं पणामं च ॥ ५२७ ॥

तत् दातव्य पात्रे विधान युक्तेन स विधिरेषः।
प्रतिग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च ॥ ५२७ ॥

मणवयण कायसुद्धी एसणसुद्धी य परम कायव्वा।
होइ फुडं आयरणं णवविहं पुव्व कम्मेण ॥ ५२८ ॥

मनो वचन काय शुद्धि रेषण शुद्धिश्च परमा कर्तव्या।
भवति स्फुटमाचरणं नवविधं पूर्वकर्म णा ॥ ५२८ ॥

अर्थ– वह आहार दान पात्र को ही देना चाहिये और विधि-पूर्वक ही देना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है! प्रतिग्रह उच्च-स्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय और आहार शुद्धि इस प्रकार नवधा (नौ प्रकार) भक्ति पूर्वक आहार देना चाहिये।

जब मुनि अपने समय पर वा श्रावकों के घर भोजन बन जाने के समय पर चर्या के लिये निकलते है तब वे प्रायः श्रावकों के घर के सामने होकर निकलते है। जिससमय मुनि अपने घर के सामने आवें

उस समय श्रावक को कहना चाहिये कि हे स्वामिन् नमोस्तु नमोस्तु तिष्ठ तिष्ठ

आहार जलं शुद्धं वर्तते अर्थात् हे स्वामिन् नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु इस प्रकार तीनवार हाथ जोडकर मस्तक झुकाकर नमस्कार करना चाहिये कि महाराज यहां ठहरिये ठहरिये आहार जल शुद्ध है। इतना कहने पर जब वे खडे होजांय तो तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये और फिर कहना चाहिये कि महाराज घर पधारिये। इतना कहकर उस श्रावक को आगे चलना चाहिये। इसको प्रतिग्रह कहते है। घर जाकर उनको किसी ऊंचे स्थान पर पाटा या कुरसी पर विठाना चाहिये। महाराज इस पर विराजो ऐसा कहकर विठाना चाहिये। इसको उच्चस्थान कहते है। तदनंतर प्रासुक गर्म जल से किसी थाली में उनके पैर धोने चाहिये और चरणोदक को मस्तक पर एक अर्घ्य देकर उन मुनि की पूजा करनी चाहिये इसको अर्चन कहते है। इसके अनन्तर कहना चाहिये कि महाराज मेरा मन शुद्ध है वचन शुद्ध है शरीर शुद्ध है और आहार शुद्ध है। आप चौका में पधारिये। इतने कहने पर वे चौका में चले जाते है। मुनि खडे होकर आहार लेते है इसलिये उनको खडे होने के लिए एक पाटा बिछा रखना चाहिये जो हिले नहीं तथा उसके सामने किसी छोटी सी ऊंची चौकी पर या छोटी मेजपर एक बडा भगोना या तसला रखाना चाहिये जिसमे थोडी सूखी घास रक्खी हो यदि आहार लेते समय हाथ से पानी गिरे तो उसी में गिरे और घास रखने से इधर उधर छींटे नहीं जाते यह नवधा भक्ति है और यथा योग्य सब ही पात्रों के लिये होती है।

एवं विहिणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्ध भत्तीए।
वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च णिस्सारं ॥ ५२९ ॥

एवं विधिना युक्तं देयं दानं त्रिशुद्धि भक्तया।
वर्जयित्वा कुत्सितपात्रं तथा चापात्रं च निसारम् ॥ ५२९ ॥

अर्थ– इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक तथा मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक पात्रों को दान देना चाहिये, तथा कुत्सित पात्र वा कुपात्र

और अपात्र इन दोनों को कभी दान नहीं देना चाहिये। क्योंकि इन दोनों को दान देना निःसार है।

आगे कुत्सित पात्रों को कहते है।

जं रयणत्तय रहियं मिच्छमय कहियधम्म अणुलग्गं।
जइ विहु तवइ सुघोरं तहावितं कुच्छियं पत्तं ॥ ५३० ॥

तद्रत्नत्रयरहितं मिथ्यामत कथित धर्मानुलग्नम्।
यद्यपि हि तप्यते सुघोरं तथापि तत् कुत्सितं पात्रम् ॥ ५३० ॥

अर्थ– जो पुरुष रत्नत्रय से रहित है और मिथ्या मत मे कहे हुए धर्म मे लीन रहता है ऐसा पुरुष चाहे जितना घोर तपश्चहरण करे तथापि वह कुत्सित पात्र वा कुपात्र ही कहलाता है।

आगे अपात्र को कहते है।

जस्स ण तवो ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वर गुणो कोई।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥ ५३१ ॥

यस्य न तपो न चरणं न चापि यस्यास्ति वरगुणः कोऽपि।
तज्जानीयादपात्रमफलं दानं कृतं तस्य ॥ ५३१ ॥

अर्थ– जो न तो तपश्चरण करता है, न किसी प्रकार का चारित्र पालन करता है और न उसमें कोई अन्य श्रेष्ठ गुण है ऐसा पुरुष अपात्र कहलाता है ऐसे अपात्र को दान देना सर्वथा व्यर्थ है। उसका कोई फल नहीं होता है।

ऊसर रिवत्ते वीयं सुक्खे रुक्खे य णीर अहिसेओ।
जह तह दाणमपत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई ॥ ५३२ ॥

ऊपर क्षेत्रे वीजं शष्के वृक्षे च नीराभिषेकः।
यथा तथा दानमपात्रे दत्तं खलु निरर्थकं भवति ॥ ५३२ ॥

अर्थ– जिस प्रकार ऊसर पृथ्वीपर बोया हुआ वीज व्यर्थ जाता है और सूके हुए वृक्ष में पानी देना व्यर्थ जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ दान सर्वथा व्यर्थ जाता है।

आगे कुपात्रो को दिये हुए दान का फल बतलाते है ।

कुच्छिय पत्ते किंचि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु ।
कुच्छिय भोयधरासु य लवणंवुहि कालउवहीसु ॥ ५३३ ॥

कुत्सितपात्रे किंचिदपि फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सित भोग धरासु च लव णाम्बुधि कालोदधिषु ॥ ५३३ ॥

अर्थ– कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का कुत्सित ही फल मिलता है और वह उस कुपात्र दान के फलसे कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है खोटे तिर्यंचों में उत्पन्न होता है और लवणोदधि तथा कालोदधि समुद्र में होने वाली कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है ।

आगे उन कुभोगभूमियों को और उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को कहते है ।

लवणे अडयालीसा काल समद्दे य तित्तियाचे व ।
अंतरदीवा भणिया कुभोग भूमीय विक्खाया ॥ ५३४ ॥

लवणे अष्ट चत्वारिंशत् कालसमुद्रे च तावन्त एव ।
अन्तर्द्वीपा भणिता; कुभोग भूम्यः विख्याताः ॥ ५३४ ॥

अर्थ– लवणोदधि समुद्र में अडतालीस अंतर्द्वीप है और कालोदधि समुद्र में भी अडतालीस अंतर्द्वीप है । इस प्रकार इन छियानवें अंतर्द्वीपों मे कुभोग भूमियां है ।

उप्पज्जंति मणुस्सा कुपत्तदाणेण तत्थभूमीसु ।
जुवलेण गेहरहिया णग्गा तरुमूलिणिवसंति ॥ ५३५ ॥

उत्पद्यन्ते मनुष्याः कुपात्रदानेन तत्र भूमिषु ।
युगलेन गृहरहिता नग्नाः तरुमूले निवसन्ति ॥ ५३५ ॥

अर्थ– जो मनुष्य कुपात्रों को दान देता है वह मनुष्य इन कुभोग भूमियों मे मनुष्य होकर उत्पन्न होता है । वहां पर सब मनुष्य युगलिया (स्त्री पुरुष दोनों साथ साथ) उत्पन्न होते है, उनके रहने के लिये घर

नहीं होते वृक्षों के नीचे रहा करते है और नग्न रहते है।

पल्लोवम आउस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्चं।
तरुपल्लव पुप्फरसं फलाण रसं चेव भक्खंति ॥ ५३६ ॥

पल्योपमायुषः वस्त्राभरणेन वर्जिता नित्यम्।
तरुपल्लव पुष्परसं फलानां रसं चैव भक्षयन्ति ॥ ५३६ ॥

अर्थ– इन मनुष्यों की आयु एक पल्य की होती है तथा ये लोग सदा काल वस्त्राभरण से रहित होते है और वृक्षों के पत्ते, फूलों का रस और फलों का रस भक्षण करते रहते है।

दीवे कहिं पि मणु या सक्कर गुड खंड सण्णिहा भूमी।
भक्खंति पुट्ठि जणया अइसरसा पुव्व कम्मेण ॥ ५३७ ॥

द्वीपे कुत्रापि मनुजाः शर्करा गुडखण्डसन्निभां भूमिम्।
भक्षयन्ति पुष्टिजनकां अतिसरसां पूर्वकर्मणा ॥ ५३७ ॥

किसी किसी द्वीप की भूमि गुड शक्कर और खांड के समान मीठी होती है, पौष्टिक होती है और अत्यन्त सरस होती है। इसलिये उन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने पूर्व कर्म के उदय से उसी भूमि की मिट्टी को खाकर रहते है।

केई गय सीह मुहा केई हरि महिस कवि कोल मुहा।
केई आदरिस मुहा केई पुण एय पाया य ॥ ५३८ ॥

केचित् गर्जासिंह मुखाः केचिद्धरिमहिष केपि कोलूकमुखा।
केचिदादर्शमुखाः केचित्पुनः एकपादाश्च ॥ ५३८ ॥

अर्थ– उन द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों मे कितने ही मनुष्यों के मुख हाथी के मुख के समान होते है कितने मनुष्यों के मुख सिंह के मुख के समान होते है, कितने ही भैंसा के से मुखवाले होते है कितने ही सूअर के से मुखवाले होते है और कितने ही मनुष्य बंदर के से मुख वाले होते है और कितने ही मनुष्य दर्पण के समान मुखवाले होते है। इसके सिवाय कितने ही मनुष्य एक पैर वाले होते है। तथा–

ससुक्कलि कण्णाविय कण्णद्यावरण दीह कण्णा य ।
लांगूलधरा अपरे अपरे मणुया अभासा य ॥ ५३९ ॥

शश शष्कुलिकर्णा अविच कर्णप्रवरर्णा दीर्घ कर्णाश्च ।
लांगूलधरा अपरे अपरे मनुष्या अभाषकाश्च ॥ ५३९ ॥

अर्थ– उन मनुष्यों मे से कितने ही मनुष्य खरगोश केसे कान वाले होते है, कितने ही पूरी के से कान वाले होते है कितने ही मनुष्यों के चौडे कान होते है और कितने ही मनुष्यों के लम्बे कान होते है। इनके सिवाय कितने ही मनुष्यों के पूंछ होंती है ओर कितने मनुष्य किसी भी प्रकार की भाषा नहीं बोलते ।

ए ए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवंति कुभोय भूमीसु ।
मणुसुतर वाहिरेसु अ असंख दीवेसु ते होंति ॥

एते नराः प्रसिद्धाः तिर्यंचोपि भवन्ति कुभोग भूमिषु ।
मानषोत्तर बाह्येषुच असख्य द्वीपेषु ते भवन्ति ॥ ५४० ॥

अर्थ– इन सब कुभोग भूमियों में मनुष्य ही होते है, तथा इनके सिवाय मानुषोत्तर पर्वत के बाहर असंख्यात द्वीपों में होनें वाली कुभोग भूमियों तिर्यंच भी होते है ।

सव्वे मंद कसाया सव्वे णिस्सेस वाहि परिहीणा ।
मारऊण वितरा विहु जोइसु भवणेसु जायंति ॥

सर्वे मन्दकषायाः सर्वे निःशेषव्याधिपरिहीनाः ।
मृत्वा व्यन्तरेष्वपि हि ज्योतिर्भवनेषु जायन्ते ॥ ५४१ ॥

अर्थ– ये सब मनुष्य और तिर्यन्च मंद कषायी होते है और सबके संपूर्ण व्याधियों से रहित होते है। वे सब मरकर कितने व्यंतर देवो में उत्पन्न होते है, और कितने ही ज्योतिषी और भवन वासी देवों में उत्पन्न होते है ।

तत्थ चुया पुण संता तिरियणरा पुण हवंति ते सव्वे ।
काऊण तत्थ पावं पुणोवि णिरयापहा होंति ॥

ततश्च्युताः पुनःसन्तः तिर्यग्नराः पुनः भवंति ते सर्वे ।
कृत्वा तत्र पापं पुनरपि नरकपथा भवन्ति ॥ ५४२ ॥

अर्थ– कुपात्र दान देने वाले मनुष्य जो मरकर कुभोग भूमि में उत्पन्न होते है और वहां से आकर भवन वासी व्यंतर ज्योतिषियों में उत्पन्न होते है वहां की भी आयु पूर्णकर वे फिर मनुष्य वा तिर्यंच होते है और वहां भी अनेक प्रकार के पापकर नरकमे जाकर पडते है।

चंडालभिल्ल छिपिय डोंव य कल्लाल एव माईणि।
दीसंति रिद्धि पत्ता कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥

चांडालभिल्लछिंपक डोम्ब कलवारा एवमादिकाः।
दृश्यन्ते ऋद्धिप्राप्ताः कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥ ५४३ ॥

अर्थ– वर्तमान में जो चांडाल भील छीपी डोम कलाल आदि निम्न श्रेणी के लोग धन और विभूती आदि से परिपूर्ण दिखाई देते है वे सब कुत्सित पात्रों को दान देने से ही धनी होते है। भावार्थ– निम्न श्रेणी के लोगों में धन विभूति का होना कुपात्र दान का ही फल है।

केई पुण गय तुरया गेहेरायाण उण्णई पत्ता।
दिस्संति मच्च लाए कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥

केचित्पुनः गजतुरगा गृहे राज्ञां उन्नतिं प्राप्ताः।
दृश्यन्ते मर्त्यलोके कुत्सित पात्रस्य दानेन ॥ ५४४ ॥

अर्थ– इस मनुष्य लोक मे राजाओं के घर जो कितने ही हाथी घोडे आदि उन्नति को प्राप्त हुए दिखाई देते है बहुत सुखी दिखाई देते है वह सब कुपात्र दान देने का फल समझना चाहिये।

केई पुण दिव लोए उववण्णा वाहणतणेण ते मणुया।
सोसंति जाइ दुक्खं पिच्छिय रिद्धी सुदेवाणं ॥

केचित्पुनः स्वर्गलोके उत्पन्ना वाहनत्वेन ते मनुजाः।
शोचन्ति जाति दुःखं प्रेक्ष्य ऋद्धिं सुदेवानाम् ॥ ५४५ ॥

अर्थ– कुपात्रों को दान देने वालों मे से कितने ही मनुष्य स्वर्ग-लोक में भी उत्पन्न होते है परन्तु वहां पर वे वाहन रूपसे उत्पन्न होते है अन्य बडे देवों के वाहन बनकर रहते है। इसलिये वे बडे देवों की ऋद्धियों को देखकर अपनी वाहन रूप जाति के दुःख का शोक करते रहते है।

णाऊण तस्स दोसं सम्माणह मा कया विसविणम्मि ।
परिहरह सया दूरं वुहियाण वि सविस सप्पं व ॥ ५४६ ॥

ज्ञात्वा तस्य दोषं सम्मानयेन्मा कदादिपि स्वप्ने ।
परिहरेत्सदा दूरं ज्ञात्वा सविषसर्पवत् ॥ ५४६ ॥

अर्थ– कुपात्रों को दान देने में अनेक प्रकार के दोष होते है उन सबको समझकर स्वप्न में भी उनका सन्मान नहीं करना चाहिये, तथा कभी किसी अवस्था में भी उनका सन्मान नहीं करना चाहिये। विषधर सर्प के समान कुपात्रों का त्याग तो दूर से ही कर देना चाहिये।

पत्थर मया वि दोणी पत्थर मप्पाणयं च वोलेई ।
जह तह कुच्छिय पत्तं संसारे चेव वोलेई ॥ ५४७ ॥

प्रस्तर मय्यपि द्रोणी प्रस्तरमप्यात्मानं च निमज्जयति ।
यथा तथा कुत्सितपात्र संसारे एव निमज्जयति ॥ ५४७ ॥

अर्थ– जिस प्रकार पत्थर की बनी हुई और पत्थरों से भरी हुई नाव उन पत्थरों को भी डुबो देती है और स्वयं भी डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी संसार समुद्र में डूब जाता है और दूसरों को भी डुबा देता है।

णावा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहि सलिलम्मि ।
बो लेइ तह कुपत्तं संसारमहोवही भीमे ॥ ५४८ ॥

नौर्यथा सछिद्रा परमात्मानं चोदधिसलिले ।
निमज्जयति तथा कुपात्रं ससारमहोदधौ भीमे ॥ ५४८ ॥

अर्थ– जिस प्रकार छिद्र सहित नाव समुद्र के जल मे अपने आप डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी इस संसार रूपी भयानक महा समुद्र मे अपने आप डूब जाता है।

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तारिणी वाहे ।
वुड्ढइ जह तह वुड्ढइ कुपत्त सम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥

लोहमये कुतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तारिणीवाहे ।
मज्जति यथा तथा मज्जति कुपात्रसम्मानकः पुरुषः ॥ ५४९ ॥

अर्थ- जिस प्रकार लोहे की बनी नाव में अवश्य डूब जाता है उसी प्रकार कुपात्रों का सन्मान करने वाला पुरुष भी इस संसार रूपी समुद्र मे अवश्य डूबता है।

णलहंति फलं गरुयं कुच्छिय पहुवित्त सेविया पुरिसा ।
जह तह कुच्छिय पत्ते दिण्णा दाणा मुणेयव्वा ॥ ५५० ॥

न लभन्ते फलं गुरुकं कुत्सितप्रभुत्व सेवकाः पुरुषाः ।
यथा तथा कुत्सितपात्रे दत्तानि दानानि मन्तव्यानि ॥ ५५० ॥

अर्थ– जिस प्रकार किसी कुत्सित स्वामी के आश्रित रहने वाले सेवक पुरुष को उसकी सेवा का अच्छा श्रेष्ठ फल नहीं मिलता उसी प्रकार कुत्सित पात्रो को दिया हुआ दान समझना चाहिये। भावार्थ– कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का फल भी श्रेष्ठ फल कभी नहीं मिल सकता।

णत्थि वय सील संजम झाणं तव नियम बंभचेरं च ।
एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लोय मज्झम्मि ॥ ५५१ ॥

नास्ति व्रतशीलसंयम ध्यानं तपोनियमब्रह्मचर्यं च ।
एवमेव भणंति पात्र आत्मानं लोकमध्ये ॥ ५५१ ॥

अर्थ– जो न तो व्रतों को पालन करते है न शीलों को पालन करते है, जिनके न संयम है न ध्यान है जो न किसी प्रकार का तपश्चरण करते है न किसी नियम का पालन करते है और न ब्रह्मचर्य का पालन करते है ऐसे लोग भी इस लोक मे अपने को पात्र कहते है।

आगे और भी कहते है।

मय कोह लोह गहिओ उद्धिय हत्थोय जायणा सीलो ।
गिह वावारासत्तो जो सो पत्तो कहं हवइ ॥ ५५२ ॥

मदक्रोध लोभगर्भित उत्थितहस्तश्च याचनाशीलः ।
गृहव्यापारासक्तः यः स पात्रं कथं भवति ॥ ५५२ ॥

अर्थ– भला विचार करने की बात है कि जो झूठमूठ ही अपने

बड़प्पन का अभिमान करते है जो क्रोधी है लोभी है हाथ उठाकर सर्वत्र मागते मांगते फिरते है और जो गृहस्थी के व्यापार मे सदा लगे रहते है ऐसे लोग पात्र कैसे हो सकते है अर्थात् कभी नहीं हो सकते ।

हिंसाइदोस जुत्तो अत्तरउद्देहिं गमिय अहरत्तो ।
क्रय विक्किय वदंतो इंदिय विसएसु लोहिल्लो ॥ ५५३ ॥

हिंसादिदोषयुक्त आर्तरौद्रैः गमिताहोरात्रः ।
क्रयविक्रयवर्तमानः इन्द्रिय विषयेषु लुब्धः ॥ ५५३ ॥

उत्तम पत्तं णिंदिय गुरुठाणे अप्पयं पकुव्वंतो ।
होउ पावेण गुरू वुड्डइ पुण कुगइ उवहिम्मि ॥ ५५४ ॥

उत्तमपात्रं निन्दित्वा गुरुस्थाने आत्मानंप्रकुर्वन् ।
भूत्वा पापेन गुरुः वुडति पुनः कुगत्युदधौ ॥ ५५४ ॥

अर्थ– जो पुरुष हिंपा झूठ चोरी आदि पापों मे लगा रहता है, रातदिन आर्तध्यान अथवा रौद्र ध्यान में लगा रहता है, संसार भर के सामानों को खरीदने और बेचने में लगा रहता है, और इद्रियों के विषयों मे अत्यन्त लोलुपता धारण करता है, इसके सिवाय जो उत्तम पात्रों की सदा निन्दा करता रहता है और गुरुओं के स्थान मे अपनी आत्मा को नियुक्त करता है अर्थात् अपने आप स्वयं गुरु बन बैठता है। इस प्रकार जो अपने ही पापों से अपने को गुरु मानता है वह मनुष्य नरक निगोद रूपी कुगतियों के समुद्र में अवश्य डूब जाता है ।

जो वोलइ अप्पाणं संसार महण्णवम्मि ।
सो अण्णं कह तारइ तस्सणुमग्गे जणे लग्गं ॥ ५५५ ॥

यः निमज्जयति आत्मानं संसारमहार्णवे गुरुके ।
स अन्यं कथ तारयति यस्यानुमार्गे जनलग्नम् ॥ ५५५ ॥

अर्थ– इस प्रकार अपने को गुरु मानने वाला पुरुष इस संसार रूपी महा भयानक समुद्र में अपने आत्मा को डुबा देता है। वह मिथ्या गुरु उस मिथ्या गुरु के पीछे पीछे लगे हुए मनुष्य को भला पार कैसे कर सकता है अर्थात् ऐसे गुरु के पीछे जो मनुष्य लगता है वह भी उसके

साथ साथ अवश्य डूबता है।

एवं पत्तविसेसं णाऊणं देह दाणमणवरयं ।
णिय जीव सग्गमोक्खं इच्छयमो पयत्तेण ॥ ५५६ ॥

एवं पात्र विशेषं ज्ञात्वा देहि दानमनवरतम् ।
निज जीव स्वर्गमोक्षावि च्छन् प्रयत्नेन ॥ ५५६ ॥

अर्थ– जो पुरुष अपने आत्मा को स्वर्ग मोक्ष में पहुँचाना चाहते है उनको चाहिये कि वे ऊपर लिये अनुसार पात्र अपात्रों के भेदों को अच्छी तरह समझ कर प्रयत्न पूर्वक सदाकाल उत्तम पात्रों को दान देते रहे।

आगे समर्थ होकर भी जो दान नहीं देता उसके लिये कहते है।

लहिऊण संपया जो देइणदाणाइं मोह संछण्णो ।
सो अप्पाणं अप्पे वंचेइ य णत्थि संदेहो ॥

लब्ध्वा सम्पत् यो ददाति न दानादि मोहसंच्छन्नः ।
स आत्मानं आत्मना वंचयति च नास्ति सन्देहः ॥ ५५७ ॥

अर्थ– जो पुरुष धन संपदा पाकर भी उसमे अत्यन्त मोह करता है और पात्रों को भी जान नहीं देता वह अपने ही आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को ठगता है इसमे किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

णय देइ णेय भुंजइ अत्थं णिखणेइ लोहसंछण्णो ।
सो तणकय पुरिसो इव रक्खइ सस्सं परस्सत्थे ॥

न च ददाति नैव भुंक्तेऽर्थं निक्षिपति लोभसंच्छन्नः ।
स तणकृत पुरुषः इव रक्षति सस्यं परस्यार्थे ॥ ५५८ ॥

अर्थ– जो धनी पुरुष न तो किसी को दान देता है न अपने भोगोपभोगों मे धन को लगाता है केवल तीव्र लोभ में पडकर उसकी रक्षा करता रहता है वह पुरुष घास-फुस के बने हुए पुरुषाकार पुतले के समान केवल दूसरों के लिये खेतों की रक्षा करता है। भावार्थ– बहुत से लोग घासफुस का पुतला बनाकर खेतों मे गाड देते है उसको देखकर

तथा उसको मनुष्य समझकर उस खेत में जानवर आकर नही खाते । इस प्रकार वह पुतला न तो दूसरों को खाने देता है और न स्वयं कुछ खाता है । उसी प्रकार जो न तो दान देता है और न स्वयं खाता पीता है वह पुरुष फुंस के पुतले के समान दूसरों के लिये धनकी रक्षा करता रहता है ।

किविणेण संचयधणं ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।
महुयरि इव संचियमहु हरंति अण्णे सपाणेहिं ॥

कृपणेन संचित धनं न भवति उपकारकं यथा तस्य ।
मधुकरेण इव संचितमधु हरन्यि अन्ये सपाणयः ॥ ५५९ ॥

अर्थ– जिस प्रकार मधुमक्खी अपने छत्ते मे मधु वा शहद को इकठ्ठा करती है परन्तु वह स्वयं उसका उपभोग नहीं करती । इसलिये दूसरे मनुष्य आकर उस छत्ते को तोडकर उसका इकठ्ठा किया हुआ शहद भी ले जाते है और सैंकडों हजारों मक्खियों को मार भी जाते है इसी प्रकार जो कृपण मनुष्य केवल धन को इकठ्ठा करता रहता है उसका धन उसके काम में कभी नहीं आता । वह दूसरे के ही काम आता है ।

आगे कृपण के लिये और भी कहते है ।

कस्स थिरा इह लच्छि कस्स थिरं जुव्वणं धणं जीवं ।
इय मुणिऊण सुपुरिसा दिंति सुपत्तेसु दाणाइं ॥

कस्य स्थिरेह लक्ष्मीः कस्य स्थिरं यौवनं धनं जीवितम् ।
इति ज्ञात्वा सुपुरुषा ददति सुपात्रेषु दानानि ॥ ५६० ॥

अर्थ– इस संसार मे लक्ष्मी किसके यहां स्थिर रही है, यौवन किसका स्थिर रहा है, धन किसका स्थिर रहा है और अर्थात् लक्ष्मी यौवन धन जीवन कभी किसी का स्थिर नहीं रहता । यही समझकर श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ पात्रों को सदा काल दान देते रहना चाहिये ।

आगे इसका कारण बतलाते है ।

दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं ।
लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्लहो पत्तलंभो व ॥

दुःखेन लभते वित्तं वित्ते लब्धेऽपि दुर्लभं चित्तम् ।
लब्धे चित्ते वित्ते सुदुर्लभः पात्रलाभश्च ॥ ५६१ ॥

अर्थ– इस संसार मे धन की प्राप्ति बडे दुःख से होती है यदि कदाचित किसी भाग्य विशेष से धन की प्राप्ति हो भी जाय तो चित्त मे दान देने की उत्सुकता होना अत्यन्त कठीन है। कदाचित चित्त में दान देने की उत्सुकता भी प्राप्त हो जाय और धन भी प्राप्त हो जाय तो दान देने के लिये किसी पात्रका लाभ होना अत्यन्त कठीन है।

चित्त वित्तं पत्तं तिडिअ वि भावेइ कहवि जइ पुरिसो ।
तोर लहइ अनुकूलं सयनं पुत्तं कलतं च ॥

चित्तं वित्तं पात्रं त्रीण्यपि प्राप्नोति कथमपि यदि पुरुषः ।
तर्हि न लभतेऽनुकूलं स्वजन पुत्रं कलत्रं च ॥ ५६२ ॥

अर्थ– यदि किसी शुभ कर्म के उदय से धन भी मिल जाय, चित्तमें दान देने की उत्सुकता भी प्राप्त हो जाय और पात्र मिलने का भी संयोग प्राप्त हो जाय तो दान देने के लिये अपने स्वजन परिजन पुत्र स्त्री आदि अपनें अनुकूल नही होते है।

पडिकूल माइ काऊं विग्घं कुव्वंति धम्म दाणस्स ।
उवएसंति पुवुद्धि दुग्गइगम कारया असुहा ॥

प्रतिकूलमादि कृत्वा विघ्न कुर्वन्ति धर्मदानस्य ।
उपदिशन्ति दुर्बुद्धि दुर्गतिगमनकारकामशुभाम् ॥ ५६३ ॥

अर्थ– यदि स्त्री पुत्र स्वजन आदि अपने प्रतिकूल हो जाते है तो फिर वे लोग धर्मस्थानों मे दान देने मे विघ्न करते है। तथा नरकादिक दुर्गतियों के कारण भूत और अत्यन्त अशुभ दुर्बुद्धि का उपदेश देते है। भावार्थ– प्रतिकूल होनें से पुत्रादिक धर्मस्थानों में तो दान का निषेध कर देते है और नरकादिक, दुर्गतियों में लेजानें वाले दान का वा ऐसे कार्यों का उपदेश देते है।

आगे और भी कहते है।

सो कह सयणो भण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।
दाऊण पाव बुद्धी हाडइ दुक्खायरे णरए ।।

स कथं स्वजनो भण्यते विघ्न यः करोति धर्मदाननाय ।
दत्वा पापबुद्धिं पातयति दुःखाकरे नरके ।। ५६४ ।।

अर्थ– विचार करने की बात है कि स्वजन होकर भी जो धर्म कार्यों में दिये हुए दान का निषेध करता है और पाप रुप बुद्धि का उपदेश देकर अनेक दुःखों से भरे हुए नरक में डालना चाहता है वह अपना स्वजन कैसे हो सकता है । भावार्थ– उसे तो पूर्ण शत्रू समझना चाहिये।

सो सयणो सो बंधू सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मे ।
जो धम्म विग्घयारी सो सत्तू णत्थि संदेहो ।।

स स्वजनः स बंधुः स मित्र यः सहायकः धर्मे ।
यो धर्म विघ्नकारी स शत्रुः नास्ति सन्देहः ।। ५६५ ।।

अर्थ– इस संसार में जो पुरुष अपने धर्म का पालन करनें मे सहायक होता है उसीको स्वजन समझना चाहिये उसीको बन्धु समझना चाहिये और उसीको मित्र समझना चाहिये । जो पुरुष धर्मकार्यों में विघ्न करता है धर्म पालन करने मे विघ्न करता है वह पुरुष शत्रु ही है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।

ते धण्णा लोयत तेहिं णिरुद्धाइं कुगई गमणाणि ।
वित्त पत्तं चित्तं पाविवि जहि दिण्ण दाणाइं ।।

ते धन्या लोक त्रये तैः निरुद्धानि कुगति गमनानि ।
वित्त पात्र चित्त प्राप्यापिः दत्तदानानि ।। ५६६ ।।

अर्थ– जिन पुरुषों को यथेष्ट धन का प्राप्ति हुई है चित्तमे दान दान देने की बुद्धि प्राप्त हुई है और सुपात्रों का लाभ भी प्राप्त हुआ है । इन तीनो संयोगो को पाकर जो सुपात्रों को दान देते रहते है वे पुरूष तीनो लोकों में धन्य समझे जाते है और ऐसे ही नरकादिक दुर्गतियों को सदा के लिये रोक देते है ।

मुणिभोयणेण दव्वं जस्स गयं जुव्वणं च तवयरणे ।
सण्णासेण य जीवं जस्स गयं किं गयं तस्स ।।

मुनि भोजनेन द्रव्यं यस्य गतं यौवन च तपश्चरणे ।
सन्यासेन तु जीवितं यस्य गतं किं गतं तस्य ॥ ५६७ ॥

अर्थ– जिस महापुरुष का धन मुनियों के भोजन कराने मे चला गया जिसकी युवावस्था तपश्चरण करने में चली गई और जिसका जीव सन्यास (समाधिमरण) धारण कर चला गया उसका क्या गया ? अर्थात उसका तो कुछ भी नही गया । भावार्थ– जिसने अपना धन पात्र दान में लगा दिया उसने आगे के जन्म के लिये अनन्त गुणी सम्पत्ति वा स्वर्ग सम्पदा प्राप्त करने का साधन बना लिया । तपश्चरण करते हुए जिसकी युवावस्था चली गई उसने उत्तम सुगन्धित देवों के शरीर को प्राप्त करने का या मोक्ष प्राप्त करनें का साधन बना लिया तथा जिसने समाधि मरण पूर्वक मरण किया उसने अजर अमर पद प्राप्त करने का साधन बना लिया । इस प्रकार ऐसे जीवों को थोडी सी विभूति के बदले अतुल विभूति प्राप्त होती है ।

आगे और भी दान देने की प्रेरणा करते है ।

जह जह वड्ढइ लच्छी तह तह दाणाइं देह पत्तेसु ।
अहवा हीयइ जह जह देह विसेसेण तह तह यं ॥

यथा यथा वर्द्धते लक्ष्मी: तथा तथा दानानि देहि पात्रेषु ।
अथवा हीयते यथा यथा देहि विशेषेण तथा तथाएव ॥ ५६८ ॥

अर्थ– इसलिये श्रावकों को उचित है कि यह धन जितना जितना बढता जाय उतना उतना ही सुपात्रों को अधिक दान देता जाय । यदि कदाचित धन घटता जाय तो जितना जितना घटता जाय उतना उतना ही विशेष रूपसे अधिक दान देता जाय । भावार्थ– लक्ष्मी के बढने पर तो अधिक दान देना स्वाभाविक ही है । परन्तु जब लक्ष्मी घटनें लगे तब समझना चाहिये कि यह लक्ष्मी अब तो जा रही है और चली ही जायगी इसलिये इसको और कामों में क्यों जाने दिया जाय इसको तो सुपात्र दान मे ही दे देना चाहिये । यही समझकर लक्ष्मी के घटने पर भी विशेषरीति से सुपात्रों को अधिक दान देना चाहिये ।

आगे जिनपूजा और पात्रदान न देनेवालों की दुर्गतियो का वर्णन करते है ।

जेहि ण दिण्णं दाणं ण चावि पुज्जा किया जिणिंदस्स ।
ते हीणदीण दुग्गय भिक्खंण लहंति जायंता ।।

यै नं दत्तं दानं न चापि पूजा कृता जिनेन्द्रस्य ।
ते हीन, दीन, दुर्गत, भिक्षां न लभन्ते याचमानाः ।। ५६९ ।।

अर्थ– जो पुरुष न तो कभी भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करते है और न कभी सुपात्रों को दान देते है वे पुरुष अत्यन्त दीन हीन हो जाते है उनकी अवस्था अत्यन्त दुर्गति रूप में परिणत हो जाती है और मांगने पर भी उनको भीख नहीं मिलती ।

पर पेसणाइ णिच्च करंति भत्तीए लहइ य णिय देहं ।
पूरंति ण णियय घरे परवस गासेण जीवंति ।।
पर पेषणादिकं नित्यं कुर्वन्ति भक्तया तथा च निजोदरम् ।
पूरयन्ति न जिनगृहे पर वशग्रासेन जीवान्ति ।। ५७० ।।

अर्थ– जिन जीवों ने कभी जिनेन्द्रदेव की पूजन नहीं की है और न कभी पात्रों को दान दिया है ऐसे जीव भक्ति पूर्वक दूसरों का अन्न पीस पीस कर अपना पेट भरते है । तो भी उनको पेट भरने योग्य अन्न अपने घर में नहीं मिलता है । वे पर वश होकर दूसरों के अन्न के टुकडों से ही जीवित रहते है

खंधेण वहंति णरं गासत्थं दीह पंथ समसंता ।
तं चेव विण्णवंता मुहकय कर विणय संजुत्ता ।।

स्कंधेन वहन्ति नर ग्रासार्थं दीर्घ पथ समासक्ताः ।
तमेव विनमन्तः मुखकृत कर विनय संयुक्ताः ।। ५७१ ।।

अर्थ– जो पुरुष जिन पूजा और पात्र दान नहीं करते वे जीव परलोक में जाकर अन्न के टुकडों के लिए मनुष्यों को अपने कंधों पर रहकर (पालकी डोली पीनस आदि मे बिठाकर) बहुत दूर दूर तक ले जाते है तथा अपने मुख की दीन आकृति बनाकर और हाथ जोडकर उसकी बहुत बडी विनय करते जाते है ।

पहु तुम्ह समं जायं कोमल अंण्णाइ सुठु सुहियाइं ।
हय मुह पियाइं काऊं मलंति पाया सहत्थेहिं ।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रभो युष्माभिः समं जातानि कोमलांगानि सुष्ठु सुभगानि ।
इति मुखप्रियाणि कृत्वा संवहन्ते पादान् स्वहस्ताभ्याम् ।५७२।

अर्थ– जिन पूजन और पात्र दान न करने वाले पुरुष परलोक मे अपने हाथ से दूसरों के पैर दावते फिरते है और मुंह से बडे मधुर शद्वों के द्वारा प्रिय शद्वों के द्वारा कहते जाते है कि हे प्रभो आपके शरीर के अंग बडे ही कोमल है, बडे ही श्रेष्ठ है और बहुत ही सुन्दर है।

रक्खंति गोगवाइं छेलयखर तुरय छेत्त खलिहाणं ।
वुण्णंति कप्प डाइं घडंति पिडउल्लयाइं च ।।

रक्षन्ति गोगवादिकं अजाखरतुरग क्षेत्रखलिनान् ।
कुर्वन्ति कर्पटादिकं घटते पिढरादिकानि ।। ५७३ ।।

अर्थ– दान पूजा न करने वाले पुरुष परभव में गाय भैंस बकरी गधा घोडा खेत खलिहान आदि की रखवाली करते रहते है और कितने ही लोग खाट पीढी आदि बढई के छोटे छोटे काम किया करते है ।

धावंति सत्थहत्था उण्हं च गणंति तह य सीयाइं ।
तुरय मुह फेण सित्ता रयलिता गलियपायेसा ।।

धावन्ति शस्त्र हस्ता उष्णं न गणयन्ति तथा च शीतादि ।
तुरग मुख फेन सिक्ता रजो लिप्ता गलित प्रस्वेदाः ।। ५७४ ।।

अर्थ– दान पूजा न करने वाले कितने ही जीव हाथमे शस्त्र लेकर दौडते है राजा महाराजाओं की सवारी के आगे आगे दौडते है उस समय न तो वे धूप वा गर्मी को गिनते है और न शीत वा ठंडक को गिनते है । उस समय उनका शरीर घोडों के मुख से निकलते हुए फेन से भर जाता है, धूल उनके शरीर पर लिपट जाती है और पसीने की धार बंध जाती है ।

पिच्छिय पर महिलाओ घणथण मय णयण चंद वयणाइं ।
ताडेइ णियंसीसं झूरइ हिययम्मि दीण मुहो ।।

प्रेक्ष्य परमहिलाः धनस्तन मदनयन चन्द्रवदनानि ।
ताडयति निजं शीर्षं झूरयति हृदये दीनमुखाः ॥५ ७५ ॥

पर संपया णिएऊं पमणइ हा किं मया ण दिण्णाइं ।
दाणाइं पर पत्ते उत्तमम भत्ती य जुत्तेण ॥

पर सम्पदः दृष्टवा प्रणमति हाकिं मया न दत्तानि ।
दानानि प्रवर पात्रे उत्तम भक्त्या युक्तेन ॥ ५७६ ॥

अर्थ– जिन पूजा और पात्र दान न देने वाले पुरुष परभव में जाकर इतने दीन दुखी होते है कि वे लोग जिनके स्तन अत्यन्त कठिन है जिनके नेत्रों मे मद छाया हुआ है और चन्द्रमा के समान जिनका सुन्दर मुख है ऐसी पर स्त्रियों को देखकर अपने मस्तक को धुना करते है और दीन मुख होकर अपने हृदय में रोया करते है। इसके सिवाय दूसरों की संपत्ति को देखकर वें लोग रो रो कर कहते है कि हाय हाय क्या हमनें पहले भव में उत्तम भक्ति पूर्वक उत्तम पात्रों को दान नही दिया था। यदि पहले भव में हमने भी पात्र दान दिया होता तो हमे भी ऐसी संपत्तियां अवश्य प्राप्त होती।

एवं णाऊण फुडं लोहो उवसानिऊण णियचित्ते ।
णिय वित्ताणुस्सारं दिज्जइ दाणं सुपत्तेसु ॥

एवं ज्ञात्वा स्फुटं उपशम्य निज चित्ते ।
निज वित्ता नुसारं देहि दानं सुपात्रेषु ॥ ५७७ ॥

अर्थ– इस प्रकार पात्र दान के फल को जानकर और पात्र दान न देने के फल को जानकर अपनें हृदय मे लोभ को दबाना चाहिये, लोभ नही करना चाहिये और अपने धन संपत्ति के अनुसार सुपात्रों को अवश्य दान देना चाहिये।

आगे कमाये हुए द्रव्य को किस प्रकार खर्च करना चाहिये सो कहते है।

जं उप्पज्जइ दव्वं तं कायव्वं च बुद्धिवंतेण ।
छहणायगयं सव्वं पढमो भावो हि धम्मस्स ॥

यदुत्पाद्यते द्रव्यं तत्कर्तव्यं च बुद्धिमता ।
षड्भागगतं सर्वं प्रथमो भागो हि धर्मस्य ॥ ५७८ ॥

अर्थ– बुद्धिमान गृहस्थों को उचित है कि वे जितना धन उत्पन्न करें उसके छह भाग करें । उसमे से पहला भाग धर्म के लिये निकाल दे ।

बीओ भावो गेहे दायव्वो कुडंब पोसणत्थेण ।
तइओ भावो भोए चउत्थओ सयण वग्गम्मि ॥

द्वितीयो भागो गृहे दातव्यः कुटुम्ब पोषणार्थम् ।
तृतीयो भागो भोगे चतुर्थः स्वजण वर्गे ॥ ५७९ ॥

अर्थ– दूसरा भाग अपने कुटुम्ब के भरण पोषण के लिये अपने घर वालों को देना चाहिये । तीसरा भाग अपनें भोगों के लिये रखना चाहिये और चौथा भाग अपनें स्वजन परिवार आदि के लिये रखना चाहिये ।

सेसा जे वे भावा ठायव्वा होंति ते वि पुरिसेण ।
पूज्जा महिमा कज्जे अहवा कालावकालस्स ॥

शेषौ यौ द्वौ भागौ स्थापनीयौ भवतः तावपि पुरुषेण ।
पूजामहिमा कार्ये अथवा कालापकालाय ॥ ५८० ॥

अर्थ– इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार चार भाग तो काममे लाने चाहिये । और शेष बचे हुए दो भाग उस पुरुष को जमा रखना चाहिये वे बचे हुए दोनों भाग भगवान जिनेंद्रदेव की विशेष पूजा करने में लगाना चाहिये अथवा किसी प्रभावना के कार्य में धर्म की महिमा बढाने के कार्य मे लगाना चाहिये । अथवा वे बचे हुए दोनों भाग किसी आपत्ती काल के लिये रख छोडना चाहिये ।

आगे लोभी पुरुषों के लिये आचार्य फिर समझाते है ।

अहवा णियं विढत्तं कस्स वि मा देहि होइ लोहिल्लो ।
सो को वि कुण उवाऊ जह तं दव्वं समं जाइ ॥

अथवा निजं वित्तं कस्यापि मा देहि भव लुब्धः ।
स कमपि कुरु उपायं तथा तद द्रव्यं समं याति ॥ ५८१ ॥

अर्थ– अथवा प्रत्येक गृहस्थ को अपना द्रव्य किसी को भी नहीं देना चाहिये और अत्यंत लोभी बनकर कोई भी ऐसा उपाय करना चाहिये जिसमे कि वह द्रव्य मरने के बाद भी अपने साथ चला चले ।

आगे कौनना द्रव्य अपने साथ जाता है और कौनसा नष्ट हो जाता है सो कहते है ।

तं दव्वं जाइ समं जं खीणं पुज्ज महिम दाणेहिं ।
जं पुण धरा णिहत्तं णट्ठं त्तं जाणि णियमेण ॥

तद्द्रव्यं याति समं यत् क्षीणं पूजा महिम दानैः ।
यत्पुनः धरानिचितं नष्टं तज्जानीहि नियमेन ॥ ५८२ ॥

अर्थ– जो द्रव्य भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा में खर्च होता है, जो द्रव्य धर्म की महिमा बढाने में, धर्म की प्रभावना करनें मे खर्च होता है और जो द्रव्य पात्र-दान में खर्च होता है वही द्रव्य परलोक मे अपने साथ जाता है । तथा जो द्रव्य पृथ्वी मे गाढ कर रख दिया जाता है । उसको नियम पूर्वक नष्ट हुआ समझो ।

आगे पृथ्वी मे गढा धन कैसे नष्ट होता है सो कहते है ।

सइ ठाणाओ मुल्लह अहवा भूसेहि णिज्जए तं पि ।
अह भाओ अह पुत्तो चोरो तं लेई अह राओ ॥

स्वयं स्थानं विस्मरति अथवा मूषकैः नीयते तदापि ।
अथ भ्राता अथ पुत्रः चोर स्तत् गृह्णाति अथ राजा ॥ ५८३ ॥

अर्थ– जो पुरुष पृथ्वी मे धन गाढ कर रखता है वह या तो स्वयं उस स्थान को भूल जाता है अथवा चुहे उस द्रव्य को लेकर दूसरे स्थान पर रख देते है, अथवा उसे भाई बन्धु ले जाते है अथवा पुत्र ले जाता वा चोर ले जाते है और इनसे भी बच रहता है तो उसे राजा ले लेता है ।

अथवा–

अहवा तरुणी महिला जायइ अण्णेण जार पुरिसेण ।
सह तं गिण्हिय दव्वं अण्णं देसंतर दुट्ठा ॥

अथवा तरुणी महिला याति अन्येन जारपुरुषेण ।
सह तद् गृहीत्वा द्रव्यं अनन्यद्देशान्तरं दुष्टा ॥ ५८४ ॥

अर्थ– अथवा अपनी दुष्ट तरुण स्त्री उस समस्त द्रव्य को लेकर किसी अन्य जार पुरुष के साथ दूर देशांतर को भाग जाती है । इस प्रकार अनेक प्रकार से वह गढा हुआ धन नष्ट हो जाता है ।

आगे द्रव्य का सदुपयोग बतलाते है ।

इय जाणिऊण णूणं देह सुपत्तेसु चहुविहं दाणं ।
जह कय पावेण सया मुच्चेह लिपेद् सुपुण्णेण ॥

इतिज्ञात्वा नूनं दीह सुपात्रेषु चतुर्विधं दानम् ।
यथाकृतपापेन मुच्यत लिप्पेत सुपुण्येन ॥ ५८५ ॥

अर्थ– इस प्रकार निश्चय रीति से समझ कर सुपात्रों के लिये चारों प्रकार का दान देना चाहिये । जिससे कि किये हुए पापों का नाश हो जाय और श्रेष्ठ पुण्य का उपार्जन हो ।

आगे दान से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल बतलाते है ।

पुण्णेण कुलं विउलं कित्ती पुण्णेण भमइ तियलोए ।
पुण्णेण रूपमतुलं सोहागं जोवणं तेयं ॥

पुण्येन कुलं विपुलं कीर्तिः पुण्येन भ्रमति त्रिलोके ।
पुण्येन रूपवतुल सौभाग्यं तेजः ॥ ५८६ ॥

अर्थ– इस संसार में पुण्य के उदय से उत्तम कुल की और बहुत से कुटुम्ब की प्राप्ति होती है, पुण्य के ही उदय से इस मनुष्य की कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है पुण्य से ही सर्वोत्तम उपमा रहित रूप प्राप्ति होती है, पुण्य से ही सुहाग की प्राप्ति होती है पुण्य से ही युवावस्था प्राप्त होती है और पुण्य से ही तेज की प्राप्ति होती है ।

पुण्णवलेणुव वज्जइ कहयवि पुरिसो य भोय भूमीसु ।
भुंजेइ तत्थभोए दह कप्पतरुब्भवे हिव्वे ॥

पुण्यबलेनोत्पद्यते कथमपि पुरुषश्च भोगभूमीयू ।
भुंक्ते तत्र भोगान् दशकल्पतरुद्भवान् दिव्यान् ॥ ५८७ ॥

अर्थ - पुण्य कर्म के उदय से ही यह जीव किसी प्रकार भोग भूमि में भी उत्तम पुरुष उत्पन्न होता है और वहां पर दश प्रकार के कल्प-वृक्षों से उत्पन्न हुए दिव्य भोगों का अनुभव करता है ।

गिह तरुवर बरगेहे भोयण रुक्खाय भोयणे सरिसे ।
कणयमय भायणाणिय भायण रुक्खा पयच्छन्ति ॥
गृहतरुवरा वरगृहानपि भोजन वृक्षाश्च भोजनानि सरसेनि ।
कनकमने भाजनानि च भाजन वृक्षा प्रयच्छन्ति ॥ ५८८ ॥

अर्थ- वहां पर दश प्रकार के कल्पवृक्ष है । उनमें से गृह जाति के कल्पवृक्ष उत्तम उत्तम घर देते है भोजन जाति के वृक्ष सरस भोजन देते है और भाजन जाति के वृक्ष सुवर्णमय पात्र वा बर्तन देते है ।

वत्थंगा वर वेत्थे कुसुमंगा दिंति कुसुम मालाये ।
दिंति सुयंध विलेवण विलेवणंगा महारुक्खा ॥

वस्त्रांगा वर वस्त्राणि कुसुमांगा ददाति कुसुममालाः ।
ददाति सुगंध विलेपनं विवेपनांगा महावृक्षाः ॥ ५८९ ॥

अर्थ- वस्त्रांग जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्र देते है पुष्पांग जाति के वृक्ष पुष्प वा पुष्पो की मालाएं देते है और विलेपनांग जाति के वृक्ष सुगंधित विलेपन उवटन आदि देते है ।

तूरंगा वर तूरे मज्जंगादिंति सरस मज्जाइं ।
आहारणंगा दिंतिय आहरणे कणममणि जडिए ॥

तूर्यांगा वर तौर्याणि मद्यांगा ददाति सरस मद्यानि ।
आभरणांगा ददति च आभरणानि कनकमणि जटितानि ॥५९०॥

अर्थ- वाद्यंग जाति के वृक्ष तुरई आदि अनेक प्रकार के बाजे देते है, मद्यांग जाति के वृक्ष सरस पौष्टिक मद्य (एक प्रकार का रस जो केवल पौष्टिक होता है) देते है और आभरणांग जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के मणियों से जडे हुए सुवर्णमय आभूषण देते है ।

दयणिदिणं ससि सूरा जह तह दीवंति जोइसारुक्खा ।
पायव दसप्पयारा चिंतियय दिंति मणुयाणं ॥

रजमी दिनयोः शशिसूरा तथा तथा दीप्यन्ते ज्योतिर्वृक्षाः ।
पादपा दशप्रकाराः चिन्तितं ददति मनुष्येभ्यः ॥ ५९१ ॥

अर्थ– ज्योतिष जाति के वृक्ष सूर्य चन्द्रमा के समान रात दिन प्रकाश करते रहते है । इस प्रकार भोगभूमियों मे दश प्रकार के कल्प-वृक्ष होते है जो मनुष्यों को चिंतवन करने मात्र से अपनी इच्छानुसार पदार्थ देते है ।

जरसोय वाहि वेअण कासं सासं च जिंभणं छिक्का ।
ए ए अण्णे दोसा णहवंति हु भोय भूमीसू ॥

जरा शोक व्याधि वेदना कासं श्वासनं जृम्भण क्षुतम् ।
एते अन्ये दोषा न भवन्ति हि भोग भूमिषु ॥ ५९२ ॥

अर्थ– बुढापा, व्याधि, वेदना, काम, श्वास, जंभाई, छींक आदि कितने ही दोष भोग भूमियों में नहीं होते है ।

सव्वे भोए दिव्वे भुंजित्ता आउसाव सा।णम्मि ।
सम्मादिट्ठी मणुया कप्पा वासेसु जायंति ॥

सर्वान् भोगान् दिव्यान् भुक्ता आयुरवसाने ।
सम्यग्दृष्टी मनुजाः कल्प वासिषु जायन्ते ॥ ५९३ ॥

अर्थ– इन भोग भूमियों मे जो सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्पन्न होते है वे सब दीर्घ काल तक वहां के दिव्य भोगों को भोगते रहते है और फिर आयु पूर्ण होने पर वे लोग मर कर कल्प वासी देव होते है ।

जे पुणु मिच्छादिट्ठी वितर भवने सुजोइसाहोंति ।
जम्हा मंद कसाया तम्हा देवेसु जायंति ॥

ये पुन मिथ्या दृष्टयः व्यन्तर भावनाः सुज्योतिष्का भवन्ति ।
यस्माद् मन्दकषायास्तस्माद्देवेषु जायन्ते ॥ ५९४ ॥

अर्थ– जो इन भोग भूमियों मे मिथ्या दृष्टि पुरुष उत्पन्न होते

है वे वहां के भोगों को भोग कर आयु के अन्त मे भवन वासी व्यन्तर वा दयोतिष्क देवों में उत्पन्न होते है। भोग भूमियों में उत्पन्न होने वाले जीव सब मंद कषाय वाले होते है इसलिये वे मर कर देव ही होते है।

केई समवसरणगया जोइस भावेण सुंवितरा देवा।
कहिऊण सम्भदंसण तत्थ चुया हुंति वा पुरिसा॥

केचित्समवसरणागता ज्योतिष्क भावनाः सुव्यन्तरा देवाः।
गृहीत्वा सम्यग्दर्शनं ततश्च्युता भवन्ति वा पुरुषाः॥ ५९५॥

अर्थ– उन भवन वासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों में से कितने ही देव भगवान के समव सरण मे जाकर सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते है और फिर वहां से आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्य होते है।

लहिऊण देस मंजम सयल वा होइ सुरोत्तमो सरगे।
भोत्तूण सुहे रम्मे पुणोवि अवयरइ मणुयत्ते॥

लब्ध्वा देश संयमं सकलं वा भवति सुरोत्तमः स्वर्गे।
भुक्त्वा शुभान् रम्यान् पुनरपि अवतरति मनुजत्वे॥ ५९६॥

अर्थ– मनुष्य होकर वे जीव देश संयम धारण करते है अथवा सकल संयम धारण कर स्वर्गों में उत्तम देव होते होने है। वहां पर वे मनोहर सुखों का अनुभव कर आयु के अन्त में फिर भी मनुष्य भव धारण करते है।

तत्थवि सुहाइं भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो।
सुक्कज्झाणं पाविय कम्म हणिऊण सिज्झेई॥

तत्रापि शुभान् भुक्त्वा दीक्षा गृहीत्वा भूत्वा निर्ग्रथः।
शुल्लध्यान प्राप्य कर्म हत्वा सिद्धति॥ ५९७॥

अर्थ– उस मनुष्य भव मे भी अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। तदनन्तर दीक्षा धारण कर निर्गथ अवस्था धारण करता है तथा शुक्ल ध्यान को धारण कर समस्त कर्मों का नाश करता है और अन्त में सिद्ध प्राप्त कर लेता है।

सिद्धंसरूवरूवं कम्म रहियं च होइ झाणेण ।
सिद्धावासी य णरो ण हवइ संसारिओ जीवो ।।

सिद्धं स्वरुपरुपं कर्म रहितं च भवति ध्यानेन ।
सिद्धावासी च नरो न भवति संसारी जीवः ।। ५९८ ।।

अर्थ– सिद्धों का स्वरूप शुद्ध आत्मस्वरूप होता है तथा शुक्ल ध्यान के द्वारा समस्त कर्मों से रहित हो जाता है। सिद्धस्थान मे रहने वाले समस्त सिद्ध परमेष्ठी जीव फिर कभी भी संसार नहीं आते है।

पंचमयं गुणठाणं एय कहिय मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं पमत्तविरयं तु छमयं ।।

पंचमं गुणास्थानं एतत्कथितं मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये प्रमत्तविरतं तु षष्ठमकम् ।। ५९९ ।।

अर्थ– इस प्रकार मैंने अत्यंत संक्षेप से पांचवे गुण स्थान का स्वरूप कहा। अब इस के आगे प्रमत्तविरत नाम के छठे गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ।

इस प्रकार विरता विरत नाम के पांचवे गुण स्थान का स्वरूप समाप्त हुआ

आगे छठे प्रमत्त संयत गुण स्थान का लक्षण कहते है।

इत्थेव तिण्णि भावा खय उव समाइ होंति गुणठाणे ।
पणदह हुंति पमाया पमत्त विरओ हवे तम्हा ।।

अत्रैव त्रयो भावाः क्षयोपशमादयः भवन्ति गुणस्थाने ।
पंचमदश भवन्ति प्रमादा प्रमत्तविरतो भवेतस्मात् ।। ६०० ।।

अर्थ– इस प्रमत्त विरत नाम के गुण स्थान मे औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तीनों प्रकार के भाव होते है, तथा पद्रह प्रमाद भी इसी गुण स्थान तक होते है इसलिये इस गुण स्थान को प्रमत्त विरत कहते है। भावार्थ–यद्यपि प्रमाद सब नीचे के गुण स्थानों में ही रहते है परन्तु नीचें के गुन स्थानों में पापों का सर्वथा त्याग नहीं

है इसलिये उन पापों के साथ प्रमाद भी रहते ही है। परन्तु इस छठे गुण स्थान मे पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है पंच महाव्रत धारण किये जाते है तथा उनके साथ प्रमाद भी रहते है पापों का त्याग होने पर भी प्रमादों का त्याग नहीं होता इसलिये इस गुण स्थानको प्रमत्त विरत कहते है।

आगे इस गुण स्थान का लक्षण कहते है।

वत्ताबत्त पमाए जो णिवसइ पमत्तसंजदो होइ।
सयल गुण सील कलिओ महव्वई चित्तलायरणो॥

व्यक्ताव्यक्त प्रमादे यो निवसति प्रमत्त संयतो भवति।
सकल गुणशील कलितो महाव्रती चित्रलाचरणः ६०१॥

अर्थ– जो मुनि अठ्ठाईस मूल गुणों को पालन करते है शील वा उत्तर गुणों को पालन करते है महाव्रतों का पालन करते है ऐसे मुनि अव व्यक्त वा अव्यक्त इस प्रमाद मे निवास करते है तब वे प्रमत्त संयत वा प्रमत्त संयमी मुनी कहलाते है। ऐसे मुनियों का चारित्र अत्यंत शुद्ध नही होता किन्तु अनेक रंगों से बने हुए चित्र के समान होता है।
भावार्थ– प्रमाद के होने से कुछ ना कुछ दोष उसमें लगे ही रहते है।

आगे प्रमादो को कहते है।

विकहा तहय कसाया इंदियणिद्दा तहय पणओ य।
चउ चउ पण मेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा॥

विकथास्तथा च कषाया इन्द्रियाणि निद्रा तथा च प्रणयश्च।
चतस्रः चत्वारः पंच एका एकः भवन्ति प्रमादहि पंचदशा।६०२।

अर्थ– चार विकथा चार कषाय पांच इंन्द्रियां निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते है।

भावार्थ– राजकथा, भोजन कथा, देश कथा, और चोर कथा ये चार विकथाएं कहलाती है। इन कथाओं के सुनने से वा कहने से पाप का बंध होता है इसलिये इनको विकथा कहते है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय है। ये भी पाप बंध के कारण है। पांचों इंद्रियो के विषय भी पाप बंध के कारण है निद्रा पाप बन्ध का कारण है ही। तथा स्नेह वा प्रणय भी पाप बन्ध का कारण है इसलिये इन सब को प्रमाद कहते है तथा इन्ही प्रमादों के कारण चारित्र की अत्यन्त शुद्धता नही होती। प्रमादों के कारण उनमें दोष वा अशुद्धी उत्पन्न हो ही जाती है।

आगे इस गुण स्थान मे कौनसा ध्यान होता है सो बतलाते है।

झायइ धम्मज्झाणं अहं पि य णो कसाय उदयाओ।
सज्झाय भावणाए उवसामइ पुणु वि झाणम्मि ॥

ध्यायति धर्म्य ध्यानं आर्तमपि नो कषायो दयात्।
स्वाध्याय भावनाभ्यां उपशाम्यति पुनरपि ध्याने ॥ ६०३ ॥

अर्थ– छठे गुण स्थान मे रहने वाले मुनि धर्मध्यान का चिंतवन करते है। तथा नो कषाय के उदय होने से उनके आर्तध्यान भी हो जाता है। तथापि स्वाध्याय और रत्नत्रय की भावना के कारण उसी ध्यान में वे उस आर्तध्यान का उपशम कर देते है। भावार्थ– मुनियों के आर्तध्यान कभी कभी होता है तथा तीन ही प्रकार का आर्तध्यान होता है निदान नाम का आर्तध्यान नही होता। यदि किसी मुनि के निदान नामका आर्तध्यान हो जाय तो फिर उस मुनि का छठा गुण स्थान ही छूट जाता है।

तज्झाण जाय कम्मं खवेइ आवासएहिं परिपुण्णो।
णिंदण गरहण जुत्तो पडिक्कमण किरियाहिं ॥

तद्ध्यान जातकर्म क्षिपति आवश्यकैः परिपूर्णः।
निन्दनगर्हण युक्तो युक्तः प्रतिक्रमण क्रियाभिः ॥ ६०४ ॥

अर्थ– छठे गुण स्थान में रहनें वाले वें मुनि अपने छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते है। तथा उन्ही आवश्यकों के द्वारा उस स्वल्प आर्तध्यान से उत्पन्न हुए कर्मों को नाश कर देते है। इसके सिवाय वे मुनि उस आर्तध्यान के कारण अपनी निन्दा करतें रहतें हैं और अपनी गर्हा करतें रहते है प्रतिक्रमण करतें रहतें है और अपनी समस्त क्रियाओं का पालन करते रहते है।

जाव पमाए वट्टइ जावथिरं थाइ णिच्चल झाणं ।
णिंदण गहण जुत्तो आवसइ कुणइ ता भिक्खू ॥

यावत्प्रमादे वर्तते यावन्न स्थिरं तिष्ठति निश्चल ध्यानम् ।
निन्दन गर्हण युक्तः आवश्यकानि करोति तावद् भिक्षुः ॥६०५॥

अर्थ– वे छठे गुणस्थान मे रहने वाले मुनि जबतक प्रमाद सहित रहते है जबतक उनका निश्चल ध्यान अत्यंत स्थिर नहीं होता है तब तक वे मुनि अपनी निन्दा करते रहते है गर्हा करते रहते है और छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते रहते है ।

छट्ठ मए गुणठाणे वट्टंतो परिहरेइ छावासं ।
जो साहु सोण मुणई परमायम सार संदोहं ॥

षष्ठमके गुणस्थाने वर्तमानः परिहरसि षडावश्यकानि ।
यः साधुः स न जानाति परमागमसारसन्दोहम् ॥ ६०६ ॥

अर्थ– जो साधु छठे गुणस्थान में रहकर भी छहों आवश्यकों को नहीं करता वह साधु परमागम के सार को नहीं समझता ऐसा समझना चाहिये । भावार्थ– छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों को छहों अवश्यक अवश्य करने चाहिये और प्रतिदिन ही करने चाहिये । इनको कभी नहीं छोडना चाहिये ।

आगे जो साधु आवश्यक नहीं करता उसके लिये कहते है ।

अहव मुणंतो छंडइ सव्वावासाइं सुत्तबद्धाइं ।
तो तेण होइ चत्तो सुआयमो जिणवादस्स ॥

समता वन्दना स्तोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया ।
व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट् ॥

समता धारण करना, वन्दना करना, स्तुति करना, प्रत्याख्यान वा त्याग करना' प्रति क्रमण करना और व्युत्सर्ग करना ये छह आवश्यक कहलाते है ।

अथवा जानन् त्यजति सर्वावश्यकानि सुत्रबद्धानि ।
तर्हितेन भवति त्यक्तः स्वागमो जिनवरेन्द्रस्य ।

आयमचाए चत्तो परमप्पा होइ तेण पुरिसेण ।
परमप्पय चायेण य मिच्छत्तं पोसियं होइ ।।

आगमे त्यक्ते त्यक्तः परमात्मा भवति तेन पुरुषेण ।
परमात्मनः त्यागेन मिथ्यात्वं पोषितं भवति ।। ६०८ ।।

अर्थ– अथवा जो साधु जान बूझ कर सिद्धांत सूत्रों मे कहे हुए आवश्यकों का त्याग कर देता है । छह आवश्यकों को नहीं करता वह साधु भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए आगम का ही त्याग कर देता है ऐसा समझना चाहिये तथा यह बात भी निश्चित है कि जिसने आगम का त्याग कर दिया उसने परमात्मा का भी त्याग कर दिया और परमात्मा का त्याग करनें से वह पुरुष मिथ्यात्व की ही पुष्टि करता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । भावार्थ– आगम सब भगवान जिनेन्द्र देवका कहा हुआ है इसलिये जो पुरुष आगम को नहीं मानता वह पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव को भी नहीं मानता वह पुरुष मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता है । इसलिये आगम की अवहेलना करना महापाप माना जाना है ।

एवं णाऊण सया जावण पावेहि णिच्चलं झाणं ।
मण संकप्प विमुक्कं तावासय कुणह वयसहियं ।।

एवं ज्ञात्वा सदा यावन्न प्राप्नोति निश्चलं ध्यानम् ।
मनः संकल्पविमुक्तं तावदावश्यकं कुर्यात् व्रतसहितम् ।।६०९।।

अर्थ- यही समझ कर मुनियों को उचित है कि जबतक मनके संकल्प विकल्पों से रहित होकर निश्चल ध्यान की प्राप्ति नहीं होती तब तक उनको छहों आवश्यक प्रतिदिन अवश्य करते रहना चाहिये तथा अपनें अन्य समस्त व्रतों का पालन करते रहना चाहिये ।

आगे आवश्यक आदि कार्यों का फल बताते है ।

आवासयाइ कम्मं विज्जावच्चं च दाण पूजाइं ।
जं कुणइ समदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर णिमित्तं ।।

आवश्यकादि कर्म वैयावृत्यं च दान पूजादि ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरा निमित्तम् ॥ ६१० ॥

जो सम्यग्दृष्टी पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकों का पालन करता है, व्रत नियम आदि का पालन करता है वैयावृत्य करता है, पात्र दान देता है और भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करता है उस पुरुष का वह सब कार्य कर्मों की निर्जरा का कारण माना जाता है।

जस्सण णहगामित्तं पायविलेवो ण ओसही लेवो ।
सो नावाइ समुद्दं तरेइ किमिच्छ भणिएण ॥

यस्य न नभोगामित्वं पादविलेपो न औषधिलेपः ।
स नौरिव समुद्रं तारयति किमिच्छ भणितेन ॥ ६११ ॥

अर्थ– जिनके न तो आकाश गामिनी ऋद्धि है, न पैरों को स्थिर कर आकाश मे चलने की वृद्धि है और न औषधि लेप ऋद्धि है तथापि वह नाव के समान भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देता है। भावार्थ– जिन मुनियों के कोई किसी प्रकार की वृद्धि नहीं है ऐसे साधारण मुनि भी अपने रत्नत्रय स्वरुप शरीर से अपने धर्मोपदेश से अनेंक भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देते है मुनियों की महिमा अपार वचनातीत है।

जा संकप्पो चित्ते सुहासुहो भोयणाइ किरियाओ ।
ताकुणउसोविकिरियं पडीकमणाईय णिस्सेसं ॥ ६१२ ॥

यावत्सकल्पश्चित्ते शुभाशुभः भोजनादि क्रियातः ।
तावत्करोतु तामपि क्रियां प्रतिक्रमणादिकां च निःशेषाम् ।६१२।

अर्थ– इस छठे गुणस्थान मे रहने वाले मुनियों के हृदय मे जब-तक शुभ संकल्प वा अशुभ संकल्प विकल्प होते रहते है और जब तक भोजनादिक क्रियाओं की प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उन मुनियों को प्रतिक्रमण आदि समस्त क्रियायें करते रहना चाहिये।

एसो पमत्त विरओ साहु मए कहिउ समासेण ।
एत्तो उड्ढं बोच्छं अप्पमत्तो णिसामेह ॥

एषः प्रमत्त विरतः साधुमया कथितः समासेन ।
इतः ऊर्ध्वं वक्ष्येऽप्रमत्तं निशामयत् ॥ ६१३ ॥

अर्थ– इस प्रकार मैंने प्रमत्त विरत नाम के छठे गुण स्थान का स्वरुप अत्यंत संक्षेप से कहा । अब इसके आगे अप्रमत्त विरत नाम के सातवे गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ, उसे सुनो ।

इस प्रकार प्रमत्त गुणस्थान का स्वरुप समाप्त हुआ ।

णट्ठासेसपमाओं वय गुणसीलेहि मंडिओ णाणी ।
अणुव समुओ अखवओ झाणणिलीणोहु अप्पमत्तो सो ॥

नष्टाशेष प्रमादो व्रतगुण शीलैर्मण्डितो ज्ञानी ।
अनुपशमकोऽक्षपको ध्यान विलीनोहि अप्रमत्तः ॥ ६१४ ॥

अर्थ– जिनके ऊपर लिखे प्रमाद सब नष्ट हो गये है जो व्रत शील गुणों से सुशोभित है जो सम्यग्ज्ञानी है, और ध्यान मे सदा लीन रहते है तथा जो न तो उपशम श्रणी मे चढ रहे है और न क्षपक श्रेणी में चढ रहे है ऐसे मुनि अप्रमत्त कहलाते है । भावार्थ– सातवे गुण स्थान वर्ती मुनि पांचों महाव्रतों को पालन करते है अट्ठाईस मूल गुणों को पालन करते है उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणी मे चढने के लिये सन्मुख रहते है तथा ध्यान मे ही लीन रहते है ।

पुवुत्ता जे भावा हवंति णिण्णेव तत्थ णायव्वा ।
मुक्खं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण इत्थेव ॥

पूर्वोक्ता ये भावा भवन्ति त्रय एव तत्र ज्ञातव्याः ॥
मुख्यं धर्म्यं ध्यानं भवेत् नियमेन अत्रैव ॥ ६१५ ॥

अर्थ– इस सातवे गुणस्थान में पहले कहे हुए औपशमिक भाव क्षायिक भाव और क्षायोपशमिक भाव तीनो भाव होते है । तथा इस गुणस्थान में नियम पूर्वक मुख्य रीति से धर्म ध्यान होता है ।

झायारो पुण झाणं झेयं तहवफलं च तस्सेव ।
ए ए चउ अहियारा णायव्वा होंति णियमेण ॥

ध्याता पुनर्ध्यान ध्येयं तथा वा फलं च तस्सैव ।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति नियमेन ॥ ६१६ ॥

अर्थ– इस गुण स्थान मे चार अधिकार बतलाये है ध्यान करने वाला ध्याता, चिंतवन करने रूप ध्यान, जिसका चिंतवन किया जाय ऐसा आत्मा ध्येय और उस ध्यान का फल । ये चार अधिकार नियम पूर्वक इस गुण स्थान में होते है ।

आगे ध्यान का लक्षण कहते है ।

आहारासणणिद्दा विजओ तह इंदियाण पंचण्हं ।
बावीस परि सहाणं कोहाईणं कसायाणं ॥

णिस्संगो णिम्मोहो णिग्गय वावार करण सुत्तड्ढो ।
दिढकाओ थिरचित्तो एरिसओ होइ झायारो ॥ ६१७ ॥

आहारासननिद्राणां विजयस्तथा इन्द्रियाणां पंचानाम् ।
द्वाविंशति परिषहानां क्रोधादिनां कषायाणाम् ॥

निःसंगो निर्मोही निर्गतव्यापार करण सूत्राढ्यः ।
दृढकायः स्थिरचित्तः एतादृशो भवति ध्याता ॥ ६१८ ॥

अर्थ– जिने आहार का विजय कर लिया है निद्रा का विजय कर लिया है, पांचों इन्द्रियों का विजय कर लिया है, जो बाईस परिषहों के विजय करने मे समर्थ है, जिसने क्रोधादिक समस्त कषायों का विजय कर लिया है दश प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार अन्तरंग परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है, मोह का सर्वथा त्याग कर दिया है, जिसने अपने समस्त इन्द्रियों के व्यापार का त्याग कर दिया है, जो सिद्धांत सूत्रों का जानकार है, जिसका शरीर अत्यंत दृढ *

---

* खेत धन घर धान्य सोना चांदी दासी दास वर्तन कुप्य (वस्त्रादिक) दश बाह्य परिग्रह है । हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा मिथ्यात्व स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसक वेद क्रोध मान माया लोभ ये चौदह अन्तरंग परिग्रह है ।

है और जिसका चित्त अत्यन्त स्थिर है, ऐसा साधु ध्यान करने योग्य ध्याता कहलाता है।

आगे ध्यान का स्वरूप कहते है।

चित्तणिरोहे झाणं चहुवियभेयं च तं मुणेयव्वं।
पिडत्थं च पयत्थं रुवत्थं रुववज्जियं चेव॥

चित्त निरोधे ध्यानं चतुर्विध भेद च तन्मन्तव्यम्।
पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूप वर्जितं चैव॥ ६१९॥

अर्थ– चित्त का निरोध करना ध्यान है अर्थात् चित्त मे अन्य समस्त चितवनों का त्याग कर किसी एक ही पदार्थ का चितवन करना, उस एक पदार्थ के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का चितवन न करना ध्यान कहलाता है। उस ध्यान के चार भेद है पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत।

आगे पिंडस्थ ध्यान को कहते है।

पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झठ्ठिओ हु णियअप्पा।
झाइज्जइ अइसुद्धो विप्फुरिओ सेय किरणठ्ठो॥

पिण्ड उच्यते देहस्तस्य मध्यस्थितो हि निजात्मा।
ध्यायते अति शुद्धो विस्फुरितः सित किरणस्थः॥ ६२०॥

अर्थ– यहां पर पिंड शब्द का अर्थ शरीर है, उस शरीर के मध्य में विराजमान अपने आत्मा का ध्यान करना चाहिये। तथा वह अपना आत्मा अत्यंत शुद्ध है, उसमे से सफेद किरणें निकल रही है और वह अत्यन्त दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे अपने आत्मा का चितवन करना चाहिये।

देहत्थो झाइज्जइ देहस्संबंध विरहिओ णिच्चं।
णिम्मल तेय फुरंतो गयणतले सूर विवेव॥ ६२१॥

जीवप्पदेसपचयं पुरिसायारं हि णिययदेहत्थं।
अमलगुणं झायंतं झाणं पिंडत्थ अभिदाणं॥ ६२२॥

देहस्थो ध्यायते देह सम्बन्ध विरहितो नित्यम् ।
निर्मल तेजसा स्फुरन् गगनतले सूर्य बिम्ब इव ॥ ६२१ ॥

जीव प्रदेश प्रचयं पुरुषाकारं हि निज देहस्थम् ।
अमल गुणं ध्यानम् ध्यानं पिण्डस्थामिधानम् ॥ ६२२ ॥

अर्थ– वह अपना शुद्ध आत्मा अपने शरीर मे विराजमान है तथापि उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह आत्मा अत्यंत निर्मल है और जिस प्रकार आकाश में सूर्य दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार वह आत्मा भी अपने तेज से दैदीप्यमान हो रहा है उस आत्मा के प्रदेशों का प्रचय वा समूह पुरुषाकार है वह प्रदेशों का समूह अपने ही शरीर में ठहरा हुआ है और उसमे अनेक निर्मल गुण भरे हुए है। इस प्रकार जो शरीर मे स्थित अपने आत्मा का ध्यान किया जाता है उसको पिंडस्थ ध्यान कहते है।

आगे रुपस्थ ध्यान का स्वरुप कहते है।

यारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देह बाहिरे तह य ।
अप्पा सुद्ध सहावो तं रुवत्थं फुडं झाणं ॥

यादृशो देहस्थो ध्यायते देह बाह्ये तथा परगतं च ।
आत्मा शुद्धस्वभावस्तद् रुपस्थं स्फुटं ध्यानम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ– ऊपर लिखे पिंडस्थ ध्यान मे अपने ही शरीर में स्थित अपने ही शुद्ध निर्मल और अत्यन्त दैदीप्यमान आत्मा का ध्यान करना बतलाया है उसी प्रकार शरीर के बाहर अपने ही शुद्ध निर्मल अत्यन्त दैदीप्यमान और शुद्ध स्वभाव आत्मा का ध्यान करना रुपस्थ ध्यान कहलाता है।

रूवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं ।
तं परगयं भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पंच परमेठ्ठी ॥

रूपस्थं पुनः द्विविधं स्वागतं तथा परगतं च ज्ञातव्यम् ।
तत्परगतं भण्यते ध्यायते यत्र पंच परमेष्ठी ॥ ६२४ ॥

अर्थ– इस रूपस्थ ध्याल के दो भेद है एक स्वागत आत्मा का

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ध्यान और दूसरा परगत आत्मा का ध्यान । जहां पर पंच परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है उस ध्यान को परगत रूपस्थ ध्यान कहते है । पंच परमेष्ठी का आत्मा अत्यंत शुद्ध है परन्तु वह अपने आत्मा से भिन्न है इसलिये उसको परगत रूपस्थ ध्यान कहते है ।

सगयं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा ।
णियदेहस्स बहित्थो फुरंत रवितेय संकासो ॥

स्वगतं तु रुपस्थं ध्यायते यत्र आत्मना आत्मा ।
निज देहाद्बहिःस्थः स्फुरद् रवितेजः संकाशः ॥ ६२५ ॥

अर्थ– जो अपना आत्मा सूर्य के तेज के समान अत्यन्त दैदीप्यमान है अत्यंत शुद्ध है निर्मल है ऐसा अपना आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपनें शरीर के बाहर ध्यान किया जाता है उसको स्वागत रुपस्थ ध्यान कहते है । इस प्रकार रुपस्थ ध्यान का स्वगत स्वरुप कहा ।

अब आगे पदस्थ ध्यान को कहते है ।

देवच्चणा बिहाणं जं कहियं तं देसविरयठाणम्मि ।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणंदेहिं ॥

देवार्चना विधानं यत्कथितं देश विरत स्थाने ।
भवति पदस्थं ध्यानं कथितं तद्वरजिनेन्द्रैः ॥ ६२६ ॥

अर्थ– पहले देश विरत वा विरता विरत गुण स्थान के स्वरूप में जो भावना जिनेन्द्रदेव की पुजन करना समवसरण में विराजमान अष्ट प्रतिहार्य सहित अनन्त चतुष्टय सहित भगवान अरहंत परमेष्ठी का ध्यान करना आदि बतलाया है वह सब पदस्थ ध्यान है ऐसा भगवान जिनेंद्रदेव ने कहा है ।

एक पय मक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुवसंबंध ।
तं पिय होइ पयत्थ झाणं कम्माण णिद्दहणं ॥

एक पद मक्षरं वा जाप्यते यत्पंच गुरु सम्बन्धम् ।
तदपि च भवति पदस्थं ध्यानं कर्मणां निर्दहनम् ॥ ६२७ ॥

अर्थ– पंच परमेष्ठी के बाचक एक पद के मन्त्र का जप करना

वा एक अक्षर मन्त्र का जप करना वा अधिक अक्षरों के मंत्र का जप करना भी पदस्थ ध्यान कहलाता है। यह पदस्थ ध्यान कर्मों के नाश करने का साधन है। भावार्थ– पणतीस सोल छप्पण चदु दुग मेगं च जवह झाएहु। परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरु वएसेण। अर्थात्–णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं यह पैंतीस अक्षर का मंत्र है। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्व-साधुभ्योनमः यह सोलह अक्षर का मंत्र है। अ सि आ उ सा यह पांच अक्षर का मंत्र है। अरहंत यह चार अक्षर का मंत्र है। सिद्ध यह दो अक्षर का मंत्र है आ यह एक अक्षर का मंत्र है। अ अरहंत का पहला अक्षर है, सि सिद्ध का पहला अक्षर है, आ आचार्य का पहला अक्षर है, उ उपाध्याय का पहला अक्षर है और सा साधु का पहला अक्षर है। इसी प्रकार ओं भी पंच परमेष्ठी का वाचक है।

अरहंसा असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढम क्खर णिप्पणो ओंकारो पंच परमेष्ठी ॥

अर्थ– अरहंत अशरीरा अर्थात् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और मुनि इन पांचों परमेष्ठियों का पहला अक्षर लेकर संधि करने से पंच परमेष्ठी का वाचक ओं सिद्ध हो जाता है। यथा अ–अ=आ, आ–आ=आ। आ+उ=ओ। ओ–म्=ओम्। इस प्रकार ओं पंच परमेंष्ठी का वाचक है।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान का स्वरूप कहा।

अब आगे रूपातीत ध्यान का स्वरूप कहते है।

णीय चिंतइ देहत्थं देह वहित्थं ण चिंतए किं पि।
ण सगय परगयरूवं तं गयरूवं णिरालेवं ॥

नच चिन्तयति देहस्थं देह वाह्यस्थं न चिन्तयेत् किमपि।
न स्वागत परगत रूपं तद्गतरूपं निरालम्वम् ॥ ६२८ ॥

अर्थ– जो न तो शरीर में स्थित शुद्ध आत्मा का चिंतवन करता न शरीर के वाहर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है न स्वगत आत्मा का

ध्यान करता है और न परगत पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है किन्तु विना किसी आलम्वन के किसी पदार्थ का ध्यान करता है अपने चित्त को अन्य समस्त चिनवनों से हटाकर किसी एक पदार्थ में लगता है वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।

जत्थ ण करणं चिंता अक्खर रूवं ण धारणा धेयं।
ण य वावारो कोई चित्तस्सय तं णिरालेवं॥

यत्र न करणं चिन्ता अक्षर रूपं न धारणा ध्येयम्।
न च व्यातारः कश्चिच्चेतस्य च तन्निरालम्बम्॥ ६२९॥

अर्थ– जिस ध्यान में किसी विशेष पदार्थ का चितवन नही करना पडता न किसी शद्ध वा अक्षर का चितवन करना पडता है, जिसमें न धारणा है न ध्येय है और न जिसमें मन का कोई व्यापार होता है। ऐसे ध्यान को निरावलम्व ध्यान कहते है। भावार्थ– निरालंव ध्यान करने वाला योगी अपने आत्मा को अपने ही आत्मा में लीन कर लेता है, अपने आत्मा के द्वारा उसी अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। वही निरालंव ध्यान कहलाता है।

इंदिय विसय वियारा जत्थ खयं जंति राय दोसं च।
मण वावारा सव्वे तं गयारूवं मुणेयव्वं॥

इन्द्रिय विषय विकारा यत्र क्षयं यान्ति रागद्वेषौच।
मनो व्यापाराः सर्वे तद्गतरूपं मन्तव्यम्॥ ६३०॥

अर्थ– जिस ध्यान मे इन्द्रियों के समस्त विकार नाश हो जाते है जिसमें राग द्वेष सव नष्ट हो जाते है और मन के व्यापार सव नष्ट हो जाते है उसको रूपातीत ध्यान कहते है। इस प्रकार रुपातीत ध्यान का स्वरुप है।

आगे ध्येय वा ध्यान करनें योग्य पदार्थ को कहते है।

धेयं तिविह पयारं अक्खररूवं तह अरूवंच।
रुवं परमेट्ठिगयं अक्खरयं तेसि मुच्चारं॥

गयरुवं जंझेयं जिणेहिं भणियं पि तं णिरालंबं।
सुण्णं पि तं ण सुण्णं जम्हा रयणत्तयाइण्णं॥ ६३२॥

ध्येय त्रिविध प्रकारं अक्षर रुपं तथाऽरुपं च ।
रुपं परमेष्ठिगतं अक्षरकं तेषामुच्चारणम् ॥ ६३१ ॥

गतरुपं यद्ध्येयं जिनैर्भणितमपि तन्निरालम्बम्
शून्यमपि तन्न शून्यं यस्माद् रत्नत्रयाकीर्णम् ॥ ६३२ ॥

अर्थ– जिसका ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते है वह ध्येय तीन प्रकार का है । अक्षर, रुप और अरूपी जो पंच परमेष्ठी का ध्यान करना है तथा उन परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का उच्चारण करना है वह अक्षर रुप ध्यान कहलाता है तथा जो रत्नत्रयस्वरूप निरालंब ध्यान किया जाता है जो रत्नत्रय से ओतप्रोत भरा हुआ है और इसी–लिये जो शून्य होकर भी शून्य नहीं कहलाता उस ध्यान को भगवान जिनेन्द्र देव ने रूपातीत ध्येय बतलाया है ।

आगे ध्यान का फल बतलाते है ।

झाणस्स फलं तिविहं कहंति वर जोइणो विगयमोहा ।
इह भव पर लोय भवं सव्वं कम्मक्खए तइयं ॥

ध्यानस्य फलं त्रिविधं कथयन्ति वर योगिनो विगतमोहाः ।
इह भव परलोक भवं सर्व कर्मक्षये तृतीयम् ॥ ६३३ ॥

अर्थ– राग द्वेष और मोह रहित परम योगी पुरूषों ने ध्यान का

इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजेत्।
ध्यानं ध्येय विकल्पेन तद्ध्यानं रूप वर्जितम् ॥

अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मान रूपातीतं च तद्विदुः ॥

जहां पर इन्द्रियों की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय मन की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय जहां पर ध्यान और ध्येय का अगल अलग विकल्प न हो, जो ध्यान अमूर्त आत्मा का किया जाय जो ध्यान अव्यक्त हो, विकल्प रहित हो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हो । इस प्रकार जो अपने आत्माके द्वारा अपने ही शुद्ध आत्मा का चिंतवन करना रुपातीत ध्यान है ।

फल तीन प्रकार बतलाया है । पहला इसी भव मे होनेवाला फल, दूसरा परलोक में होनें वाला फल और तीसरा समस्त कर्मों का नाश होना । इस प्रकार ध्यान के फल तीन प्रकार के होते है ।

झाणस्स य सत्तीए जायंति अइसयाणि विविहाणी ।
दूरालोयण पहुई झाणे आएस करणं च ॥

ध्यानस्य च शक्त्या जायन्ते अतिशयानि विविधानि ।
दूरालोकन प्रभूतीनि ध्याने आदेश करणं च ॥ ६३४ ॥

अर्थ– ध्यान की शक्ति से अनेक प्रकार के अतिशय प्राप्त हो जाते है, हजारों कोस दूरके पदार्थ देख लेना, दूरके शब्द सुन लेना आदि रूप से इन्द्रिय ज्ञान की वृद्धी हो जाती है तथा आदेश करने की शक्ती प्रगट हो जाती है ।

मइसुइ ओहीणाणं मणरज्जय केवलं तहा णाणं ।
रिद्धीओ सव्वाओ जइपूजा इह फलं झाणे ॥

मतिश्रुतावधि ज्ञानं मनः पर्ययः केवलं तथा ज्ञानम् ।
ऋद्धयः सर्वाः यतिपूजा इह फलं ध्याने ॥ ६३५ ॥

अर्थ– मति ज्ञान श्रुत ज्ञान की वृद्धि वा पूर्णता हो जाती है अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है, समस्त ऋद्धियां प्राप्त हो जाती है और यति पूजा भी होने लगती है अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जिन पूजा भी होने लगती है । यह इतना फल तो इसी लोक में मिल जाता है ।

आगे परलोक सम्बन्धी फल बतलाते है ।

सक्काई इंदत्तं अहमिंदत्तं च सग्गलोयम्मि ।
लोयंति य देवत्तं तं परभवगयफलं झाणे ॥

शक्रादीन्द्रत्वं अहमिन्द्रत्वं च स्वर्ग लोके ।
लौकान्तिक देवत्वं तत्परभवगत फलं ध्याने ॥ ६३६ ॥

अर्थ– स्वर्गों मे जाकर इन्द्र पद की प्राप्ति, अहमिन्द्र पद की प्राप्ति होना, और लौकान्तिक पद की प्राप्ति होना आदि ध्यान का परलोक सम्बन्धी फल समझना चाहिये ।

आगे ध्यान का तीसरा फल बतलाते है ।

तणुपंचस्सय णामो सिद्धसरुवस्स चेव उप्पत्ती ।
तिहुयण पहुत्त लाहो लाहो य अणंत विरियस्स ॥ ६३७ ॥

अट्ठगुणाणं लद्धी लोयं सिहरग्गखेतसंवासो ।
तइय फलं कहिय मिणं जिणवरचंदेहि झाणस्स ॥ ६३८ ॥

तनूपंचानां नाशः सिद्धस्वरुपस्य चैवोत्पत्तिः ।
त्रिभुवन प्रभुत्वलाभो लाभश्चानन्त वीर्यस्य ॥ ६३७ ॥

अष्टगुणानां लब्धिः लोक शिखराग्रक्षेत्र संवासः ।
तृतीय फलं कथितमिदं जिनवरचन्द्रै ध्यानस्य ॥ ६३८ ॥

अर्थ– औदारिक आदि पांचों शरीरों का नाश हो जाना, सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाना तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त हो जाना अनन्त वीर्य की प्राप्ति हो जाना सम्यकत्व, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व अगुरु-लघुत्व अव्याबाध दर्शन इन आठ गुणों की प्राप्ति हो जाना और लोक शिखर के अग्रभाग पर जाकर स्थिर हो जाना यह सब ध्यान का तीसरा फल भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

आगे इस गुण स्थान के स्वरूप का उपसंहार करते है ।

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्त गुण समासेण ।
सालंब मणालंब तं मुक्ख इत्थं णायव्वं ॥

एवं धर्म्यध्यानं कथितं अप्रमत्तगुणे समासेन ।
सालम्बमनालम्बं तन्मुख्य अत्र ज्ञातव्यम् ॥ ६३९ ॥

अर्थ– इस प्रकार इस सातवे अप्रमत्त गुण स्थान मे होने वाले धर्म ध्यान वा स्वरूप अत्यंत संक्षेप से कहां । इस गुण स्थान में अवलम्बन सहित धर्म ध्यान भी होता है तथा इस गुण स्थान मे दोनों ही ध्यानों की मुख्यता रहती है । ऐसा समझना चाहिये ।

एदम्हि गुणट्ठाणो अत्थि आवासयाण परिहारो ।
झाण मणम्मि थिरत्तं णिरंतरं अत्थितं जम्हा ॥

एत्तस्मिन् गुणस्थाने अस्ति आवश्यकानां परिहारः ।
ध्यान मनसि स्थिरत्वं निरन्तरं अस्ति तद् यस्मात् ॥ ६४० ॥

अर्थ– इस सातवे गुण स्थान में छहो आवश्यकताओं की आवश्यकता नहीं होती और इसलिये ध्यान मे लगा हुआ मन निरन्तर अत्यन्त स्थिर हो जाता है ।

सत्तमयं गुणठाणं कहियं अपमत्त णाम संजुत्तं ।
एत्तो अप्पुव्वणामं वुच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥

सप्तकं गुणस्थानं कथितं अप्रमत्त नाम संयुक्तम् ।
इतोऽपूर्वनाम वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या ॥ ६४१ ॥

अर्थ– इस प्रकार अप्रमत्त संयत नाम के सातवे गुण स्थान का स्वरूप कहा । अब इसके आगे अनुक्रम से होने वाले अपूर्व करण नाम के आठवें गुण स्थान का स्वरूप कहते है ।

इस प्रकार अप्रमत्त संयत नाम के सातवे गुण स्थान का स्वरूप कहा ।

आगे अपूर्व करण नाम के आठवे गुण स्थान का स्वरूप कहते है ।

तं दुब्भेय पऊत्तं खवयं उवसामियं च णायव्वं ।
खवए खवओ भावो उवसमए होइ उवसमओ ॥

तद्द्विभेद प्रोक्तं क्षपक मुपशमकं च ज्ञातव्यम् ।
क्षपके क्षपको भावः उपशमके भवति उपशमकः ॥ ६४२ ॥

अर्थ– इस आठवे गुण स्थान के दो भेद है एक औपशमिक और दूसरा क्षायिक । क्षायिक अपूर्व करण में क्षायिक भाव होते है औपशमिक अपूर्व करण में औपशमिक भाव होते है । भावार्थ– सातवे गुण स्थान में ध्यान करने वाले मुनि सातवे गुण स्थान के अन्त में दो प्रकार के मार्गो का अवलम्बन करते है । एक क्षपक श्रेणी और दूसरा उपशम श्रेणी । जो क्षपक श्रेणी मे चढते है वे अपने कर्मों का क्षय करते जाते है और बारहवे गुण स्थान के अन्त होने पर केवल ज्ञान प्राप्त करते है । उपशम श्रेणी चढने वाले मुनि अपने ध्यान में कर्मों का क्षय नहीं करते

किन्तु कर्मों का उपशम करते जाते है तथा ग्यारहवें गुण स्थान में पहुँच कर उन कर्मों के उदय हो आने पर नीचे के गुण स्थानों में आ जाते है उपशम श्रेणी वालों के औपशमिक भाव ही होते है और क्षपक श्रेणी वालों के क्षायिक भाव ही होते है।

आगे इस गुण में होने वाले ध्यान के भेद कहते है।

खवएसु उवसमेसु य अपुव्वणामेसु हवइ तिपयारं।
सुक्कज्झाणं णियमा पुहुत्त सवियक्क सवियारं॥

क्षपकेषु उपशमेषु चापूर्व नामसु भवति त्रिप्रकारम्।
शुक्लध्यानं नियमात् पृथक्त्व सवितर्क सविचारम् ॥६४३॥

अर्थ– इस अपूर्व करण नाम के आठवे गुण स्थान मे पहला शुक्ल ध्यान होता है तथा उपशम श्रेणी वाले के और क्षपक श्रेणी वाले के दोनों के ही पहला शुक्ल ध्यान होता है। वह शुक्ल ध्यान नियम से तीन प्रकार होता है। पृथक्त्व, सवितर्क और सवीचार। ※

आगे पृथक्त्व का लक्षण कहते है।

पज्जायं च गुणं वा जम्हा दव्वाण मुणइ भेएण।
तम्हा पुहुत्तणामं भणियं झाणं मुणिदेहिं॥

पर्यायं च गुणं वा यस्माद् द्रव्याणां जानाति भेदेन।
तस्मात्पृथक्त्वनाम भणितं ध्यानं मुनीन्द्रैः॥ ६४४॥

※ श्रुते चिंता वितर्कः स्याद्विचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवतेत् त्रियात्मकम्॥

अर्थात्– श्रुत ज्ञान का चिंतवन करना वितर्क है संक्रमण होना विचार है और अनेकत्व होना पृथक्त्व है इस प्रकार पहला शुक्ल ध्यान तीन प्रकार का होता है।

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं यति गुणाद्गुणांतरं व्रजेत्।
पर्यायादन्य पर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः॥

अर्थ– ध्यान करने वाले मुनि जिस ध्यान में द्रव्य के पर्यायों को और द्रव्यों के गुणों को पृथक पृथक जानते है उस ध्यान को मुनि राज सर्वज्ञ देव पृथक्त्व नाम का ध्यान कहते है।

आगे वितर्क कालचरण कहतें हैं।

भणियं सुयं वियक्कं वट्ट सह तेण तंखु अणवरयं।
तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिस्सामो॥

भणितं श्रुतं वितर्क वर्तते सहतेनतत्खल अनवरतम्।
तस्मात्तस्य वितर्कं सवीचारं पुनर्भणिष्यामः॥ ६४५॥

अर्थ– वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान सदा काल श्रुत ज्ञान के ही साथ रहै उस ध्यान को सवितर्क ध्यान कहते है।

आगे सवीचार का लक्षण कहते है।

सुशुद्धात्मानुभूत्यात्मा भाव श्रुतावलम्बनात्।
अंतर्जल्पो वितर्कः स्याद यस्मिस्तु सवितर्कजम्॥

अर्थादर्थान्तरे शद्वाच्छद्वान्तरे च संक्रमः।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं ततुच्यतें।

अर्थात्– एक द्रव्य को छोडकर दूसरे द्रव्य का चितवन करना, एक गुण को छोडकर दूसरे गुण का चितवन करना और एक पर्याय छोडकर दूसरे पर्याय का चितवन करना सपृथक्त्व कहलाता है। जिस ध्यान में भाव-श्रुतज्ञान के आलम्बन से अत्यंत शुद्ध आत्मा अथवा शुद्ध अनुभूति स्वरूप आत्मा का स्वरूप आत्मा के ही भीतर प्रतिभासमान होता हो उसको सवितर्क ध्यान कहते है। वितर्क शद्वका अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान श्रुतज्ञान सहित हो उसको सवितर्क ध्यान कहते है जो ध्यान एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को बदल जाय एक शद्व से होनें वाला चितवन दूसरे योग्य से होनें लगे उसको संक्रम का वीचार कहतें है। पहले शक्ल ध्यान में ये तीनों बातें होती है इसलिये वह शुक्ल ध्यान पृथक्त्व सवितर्क सवीचार कहलाता है।

जोएहिं तीहिं विवरइ अक्खर अत्थेसु तेण सवियारं ।
पढमं सुक्कज्झाणं अतिक्ख परसोवमं भणियं ॥

योगैस्त्रिभिः विचरति अक्षरार्थेषु तेन सवीचारम् ।
प्रथमं शुक्लध्यानं अतीक्ष्णपरशूपमं भणितम् ॥ ६४६ ॥

अर्थ– जिस ध्यान में चितवन किये हुए पदार्थ वा उनको करने वाले शब्दों का चितवन मन से वचन से काया से वा क्रम से अदल बदल कर किया जाता हो कभी काय से चितवन किया जाता हो तथा काय को छोडकर मन से वा वचन से चितवन किया जाता हो इस प्रकार जिसमें योग बदलते रहते ही तथा पदार्थ और उनके वाचक शब्द भी बदलते रहते हो उसको सवीचर ध्यान कहते है । योग पदार्थ और शब्दों का बदलना वीचार कहलाता है । तथा वीचार सहित ध्यान को सवीचार ध्यान कहते है यह ध्यान कर्म रूपी वृक्ष को काटने के लिये विनाधार वाले अतीक्ष्ण कुल्हाडे के समान है जो देर से कर्मों का नाश करता है ।

जह चिरकालो लग्गइ अतिक्ख परसेण रुक्ख विच्छेए ।
तह कम्माण य हण्णे चिरकालो पढम सुक्कम्मि ॥

यथा चिरकालो लगति अतीक्ष्ण परशूना वृक्षविच्छेदे ।
तथा कर्मणां च हनने चिरकालः प्रथम शुक्ले ॥ ६४७

अर्थ– जिस प्रकार किसी वृक्ष के काटने के लिये कुल्हाडी तीक्ष्ण न हो पत्थरी कुल्हाडी हो तो उस वृक्ष के काटने मे बहुत देर लगती है उसी प्रकार इस प्रथम शुक्ल ध्यान में कर्मों का नाश करने मे बहुत देर लगा करती है ।

खइएण उवसमेण य कम्माणं जं अडव्व परिणामो ।
तम्हा तं गुणठाणं अपुव्वणामं तु तं भणियं ॥

क्षपेणोपशमेन च कर्मणः यदपूर्वपरिणामः ।
तस्मात्तद्गुणस्थानं अपूर्वनाम तु तद् भणितम् ॥ ६४८ ॥

अर्थ– इस गुण स्थान मे कर्मों का क्षय होने पर अथवा कर्मों का

उपशम होने पर अपूर्व परिणाम होते रहते है जैसे शुद्ध परिणाम पहले कभी नहीं हुए थे वैसे अपूर्व शुद्ध परिणाम होते रहते है इसलिये आचार्यों ने इस गुण स्थान का नाम अपूर्व करण गुणस्थान रक्खा ।

इस प्रकार अपूर्व करण गुण स्थान का स्वरुप कहा ।

आगे अनिवृत्ति करण नाम के नौवें गुण स्थान का स्वरुप कहते है ।

जह तं अपुव्वणामं अणियट्टी तह य होई णायव्वं ।
उवसम खाइय भावं हवेइ फुडु तम्हि ठाणम्मि ॥

यथा तदपूर्वनाम अनिवृत्ति तथा च भवति ज्ञातव्यम् ।
औपशमिक क्षायिक भावौ भवतः स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ।६४९।

अर्थ- जिस प्रकार उत्तरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम होने के कारण आठवे गुण स्थान का नाम अपूर्व करण गुण स्थान है उसी प्रकार अनिवृत्ति करण नाम का नौवा गुण स्थान समझना चाहिये । इस गुण स्थान में उत्तरोत्तर जो परिणामों की शुद्धता होती जाती है वह शुद्धता बढती ही जाती है फिर कम नहीं होती । इसलिये इसको अनिवृत्ति करण कहते है जिसमें परिणाम की शुद्धता निवृत्त न हो सके, और बढती ही चली जाय उसको अनिवृत्ति करण कहते है इस गुण स्थान मे भी औपशमिक भाव और क्षायिक भाव दोनों ही होते है । उपशम श्रेणी वाले के उपशम भाव होते है और क्षपक श्रेणी वाले के परिणाम क्षायिक होते है ।

सुक्कं तत्थ पउत्तं जिणेहिं पुव्वुत्त लक्खणं झाणं ।
णत्थि णियत्ती पुनरवि जम्हा अणियट्टि तं तम्हा ॥

शुक्लं तत्र प्रोक्तं जिनैः पूर्वोक्त लक्षणं ध्यानम् ।
नास्ति निवृत्तिः पुनरपि यस्मात् अनिवृत्ति तत्तस्मात् ॥६५०॥

अर्थ- भगवान जिनेन्द्र देव ने इस नौवे गुण स्थान मे भी पहले के अपूर्व करण गुण स्थान मे कहा हुआ पहला शुक्ल ध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुक्ल ध्यान कहा है । इस गुण स्थान में शुद्ध

परिणामों की निवृत्ति नहीं होती इसलिये इस गुण स्थान का नाम अनिवृत्ति करण कहा गया है।

हंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जस्स एक परिणामं ।
विमलयर झाण हुअवह सिहाहि णिद्दड्ढ कम्म वण ॥

भवन्ति अनिर्वातिनस्ते प्रतिसमयं येषां एकपरिणामः ।
विमलतरध्यान हुतवह शिखाभिः निर्दग्ध कर्मवनाः ॥६५१॥

अर्थ– इस गुण स्थान में एक समय में जितने जीव होंगे उन सब के एक समान परिणाम होंगे और वे परिणाम निर्वृत्ति रुप नही होते। इस गुण स्थान मे रहने वाले मुनियों का ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है तथा इसलिये उस निर्मल ध्यान रुपी अग्नि की शिखर से कर्म रुपी वन अवश्य जल जाते है। इस गुण स्थान के समय असंख्यात होते है। उन में वे ध्यानी मुनि उत्तरोत्तर समयो मे बढते रहते है। इस गुण स्थान के पहले समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम एक से ही होंगे दूसरे समय में भी जितने जीव होंगे उन सब के परिणाम एक से होंगे। इसी प्रकार तीसरे चौथे पांचवे आदि असंख्यात समयों मे समझ लेना चाहिये। इस प्रकार नौवे गुण स्थान का स्वरुप कहा।

अब आगे सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवे गुण स्थान का स्वरुपकहते है।

जह अणियट्टि पउत्तं खाइय उवसमिय सेढि संजुत्तं ।
तह सुहमसंपराये दुव्भेयं होइ जिण कहियं ॥

यथा अनिवृत्ति प्रोक्तं क्षाहिकौपशमिकश्रेणी संयुक्तम् ।
तथा सूक्ष्मसांपरायं द्विभेद भवति जिनकथितम् ॥ ६५२ ॥

अर्थ– जिस प्रकार अनिवृत्ति करण मे क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी दो प्रकार की श्रेणियां बतलाई है उसी प्रकार इस सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवे गुण स्थान मे भी उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी दोनों ही श्रेणियां होतीं है ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तत्थेव हि दो भावा झाणं पुणु तिविह भेय तं सुक्कं ।
लोह कसाए सेसे समलत्तं होइ चित्तस्स ॥

तत्रैव हि द्वौ भावौ ध्यानं पुनः त्रिविधभेदं तच्छुक्लम् ।
लोभकषाये शेषे समलत्वं भवति चित्तस्य ।। ६५३ ।।

अर्थ– इस गुण स्थान में भी औपशमिक और क्षायिक दो ही भाव होते है । उपशम श्रेणी वाले के औपशमिक भाव होते है और क्षपक श्रेणी वाले क्षायिक भाव होते है । इसी प्रकार इस गुण स्थान में पहले कहा हुआ पृथक्त्व सवितर्क सवीचार नाम का तीनों भेद वाला प्रथम शुक्ल ध्यान ही होता है इस गुण स्थान मे केवल सूक्ष्म लोभ कषाय होता है इसलिये उनका चित्त कुछ थोडा सा समल वा मल सहित (अत्यन्त सूक्ष्म अशुद्धता सहित) होता है ।

जह कोसुं भय वत्थं होइ सया सुहुमराग संजुत्तं ।
एवं सुहम कसाओ सुहम सरावोत्ति णिद्दिठ्ठो ।।

यथा कौसुम्बं वस्त्रं भवति सदा सूक्ष्म राग संयुक्तम् ।
एवं सूक्ष्म कषायः सूक्ष्म सराग इति निर्दिष्टः ।। ६५४ ।।

अर्थ– जिस प्रकार कसुमल मे रंगे हुए वस्त्रों में (कसुमा के फुलों के रंग मे रंगे हुए वस्त्र में) लाली अत्यन्त सुक्ष्म होती है इसी प्रकार इस दशवे गुण स्थान में लोभ रुपी कषाय अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये इस गुण स्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय कहा गया है ।

इस प्रकार सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवे गुण स्थान स्वरुप कहा ।

अब आगे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवे गुण स्थान का स्वरुप कहते है ।

जो उवसमइ कसाए मोहासंबंधि पयडिवूहं च ।
उवसामओत्ति भणिओ खवओ णाम ण सो लहइ ।।

यः उपशाम्यति कषायान् मोहस्य सम्बन्धि प्रकृति व्यूहं च ।
उपशामक इति भणितः क्षपकं नाम न लभते ।। ६५५ ।।

अर्थ– जो मुनि मोह की समस्त प्रकृतियों का उपशम कर देते है वे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवें गुणस्थान वर्ती मुनि कहलाते है ।

ग्यारहवें गुण स्थान वर्ती मुनि क्षपक कभी भी नहीं कहला सकते। क्योंकि जो उपशम श्रेणी मे चढते है और कर्मों का उपशम करते करते ग्यारहवें गुण स्थान तक आ जाते है। वे कर्मों का क्षय नहीं करते। इसलिये वे क्षपक नही कहला सकते। क्षपक वे ही कहलाते है जो क्षपक श्रेणी चढकर कर्मो का क्षय करते जाते है।

आगे और भी कहते है।

सुक्कज्झाणं पढमं भावो पुण तत्थ उवसमो भणिओ।
मोहोदयाउ कोई पडिऊण य जाइ मिच्छत्तं ॥

शुक्ल ध्यानं प्रथम भावः पुनः तत्रोपशः भणितः।
मोहोदयात्कश्चित् प्रतिपत्य च याति मिथ्यात्वम् ॥६५६॥

अर्थ– इस गुण स्थान में पहला पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुक्ल ध्यान होता है तथा इस गुण स्थान में औपशमिक भाव ही होते है। इस गुण स्थान के अन्त में मोहनीय कर्म की जो समस्त प्रकृतियां उपशांत हो गई थीं वे सब प्रकृतियां उदय मे आ जाती है और फिर वे मुनि इस ग्यारहवें गुण स्थान से गिर जाते है। ग्याहरवें गुण स्थान से गिरने वाले कितने ही मुनि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाने से मिथ्यात्व गुण स्थान में भी आ जाते है।

कोई पमायरहियं ठाणं आसिज्ज पुणवि आरुहइ।
चरम सरीरो जीवो खवयसेढीं च रय हरणे ॥

कश्चित् प्रमाद रहितं स्थान माश्रित्य पुनरप्यारोहयति।
चरम शरीरो जीवः क्षपक-श्रेणिं च रजोहरणे ॥६५७॥

अर्थ– ग्याहरवें गुण स्थान से गिर कर कितने ही मुनि सातवें गुण स्थान मे अप्रमत्त गुण स्थान मे आ जाते है और सातवें गुण स्थान मे आकर फिर भी श्रेणी चढते है। यदि उन मुनियों मे कोई मुनि चरम शरीरी हुए तो वे मुनि क्षपक श्रेणी मे चढ जाते है तथा क्षपक श्रेणी मे चढ कर वे ज्ञानावरण दर्शना वरण कर्मों का नाश करने के लिये उद्यम करते है।

कालं काउं कोई तत्थय उवसामगे गुणट्ठाणे ।
सुक्कज्झाणं झाइय उववज्जइ सव्वसिद्धेए ।।

कालं कृत्वा कश्चित्तत्रोपशमके गुणस्थाने ।
शुक्लध्यानं ध्यात्वोत्पद्यते सर्वार्थ सिद्धौ ।। ६५८ ।।

अर्थ– इसी उपशांत मोह नाम के ग्यारहवें गुण स्थान मे रहने वाले मुनि की यदि आयु पूर्ण हो जाय तो वे शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हुए शरीर को छोड देते है और मर कर वे मुनि नियम से सर्वार्थ सिद्धि मे उत्पन्न होते है ।

हेट्ठट्ठिओ हु चेट्ठइ पंको सर पाणियम्मि जह सरइ ।
तह मोहो तम्मि गुणे हेउं लहि ऊण उल्ललई ।।

अधः स्थितोहि तिष्ठति पंकः सरः पानीये यथा शरदि ।
तथा मोहस्तस्मिन् गुणे हेतुं लब्ध्वा उद्गच्छति ।। ६५६ ।।

अर्थ– जिस प्रकार शरद् ऋतु में कीचड सब तालाब के पानी नीचें बैठ जाती है तथापि वह वायु आदि का कारण पाकर फिर ऊपर आ जाती है उसी प्रकार आठवें नौवें दशवें ग्यारहवे गुण स्थानों मे जिस मोहनीय कर्म का उपशम किया था तथा ग्यारहवे गुण स्थान में आकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर दिया था वही मोहनीय कर्म इस ग्यारहवें गुण स्थान के अन्त समय में कारण पाकर उदय में आ जाता है । जब मोहनीय कर्म का उदय आ जाता है तब वे मुनि ग्यारहवें से गिर कर सातवे गुण स्थान मे आ जाते है यदि उसी समय मिथ्यात्व का उदय हो जाय तो वे मुनि पहले मिथ्यात्व गुण स्थान मे आ जाते है ।

जो खवयसेढि रूढो ण होइ उवसामिओत्ति सो जीवो ।
मोहक्खयंकुणंतो उत्तो खवओ जिणिंदेहिं ।।

यः क्षपक श्रेण्यारूढो न भवति उपशामकः इति स जीवः ।
मोह क्षयं कुर्वन् उक्तः क्षपको जिनेन्द्रैः ।। ६६० ।।

अर्थ– जो मुनि प्रारम्भ से ही क्षपक श्रेणी में चढते है वे मुनि

कर्मों का उपशम नहीं करते किन्तु मोहनीय कर्म का क्षय करते जाते है इसलिये वे दशवें गुण स्थान से ग्यारहवें गुण स्थान मे नहीं आते किन्तु दशवे गुण स्थान से बारहवे गुण स्थान में पहुँच जाते है। इसलिये वे मुनि फिर नीचे के गुण स्थानों मे फिर कभी नही आते है। फिर तो बारहवे गुण स्थान के अन्त मे घातिया कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान ही प्राप्त करते है।

इस प्रकार उपशांत कषाय गुण स्थान का स्वरुप कहा।

आगे क्षीण मोह वा क्षीण कषाय नाम के बारहवे गुण स्थान का स्वरुप कहते है।

णिस्सेसमोह खीणे खीण कसायं तु णाम गुणठाणं।
पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुत्तो॥

निःशेषमोहक्षीणे क्षीण कषायं तु नाम गुणस्थानम्।
प्राप्नोति जीवो नूनं क्षायिक भावेन संयुक्तः॥ ६६१॥

अर्थ- जिस समय उन ध्यानी मुनि के समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय उन मुनि के क्षीण कषाय नाम का बारहवा गुण स्थान होता है। बारहवे गुण स्थान में उन मुनियों के क्षायिक भाव ही होते है।

जह सुद्ध फलिय भायणि खितं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं।
तह णिम्मल परिणामो खीण कसाओ मुणेयव्वो॥

यथाशुद्ध स्फटिक भाजने क्षिप्तं नीरं खलु निर्मलं शुद्धम्।
तथा निर्मल परिणामः क्षीण कषायो मन्तव्यः॥

अर्थ- जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक मणि के वर्तन मे रक्खा हुआ शुद्ध निर्मल जल सदा शुद्ध निर्मल ही रहता है उसी प्रकार जिसके कषाय सब नष्ट हो चुके है ऐसे क्षीण कषाय गुण स्थान में रहने वाले मुनि के परिणाम सदाकाल निर्मल ही रहते है।

आगे बारहवे गुण स्थान मे कौनसा ध्यान होता है सो कहते है।

सुक्कज्झाणं वीयं भणियं सवियक्क एक्क अवियारं ।
माणिक्क सिहाचवलम् अत्थि तहिं णत्थि संदेहो ।।

शुक्लध्यानं द्वितीयं भणितं सवितर्कैकत्वावीचारम् ।
माणिक्यशिखाचपलं अस्ति तत्र नास्ति सन्देहः ।। ६६३ ।।

अर्थ– इस गुण स्थान मे एकत्व वितर्क नाम का दुसरा शुक्ल ध्यान होता है वह ध्यान वितर्क अर्थात् श्रुत ज्ञान सहित होता है किसी एक ही योग से होता है और उसमें वीचार वा संक्रमण नहीं होता वीचार रहित होता है । जिस प्रकार माणिक रत्न की शिखा निश्चल रहती है उसी प्रकार उन मुनो का ध्यान वीचार रहित निश्चल होता है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

होऊण खीण मोहो हणिऊण य मोह विडविवित्थारं ।
धाइत्तयं च छाइय द्विचवभ समएसु झाणेण ।।

भूत्वा क्षीण मोहो हत्वा च मोह विटपि विस्तारम् ।
धातित्रिकं च घातयित्वा द्विचरम समयेषु ध्यानेन ।। ६६४ ।।

अर्थ– जिस समय वे ध्यानी मुनि मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का नाश कर बारहवे गुण स्थान मे पहुच जाते है तब वे मुनि बारहवे गुण स्थान के उपान्त्य समय से अपने प्रज्वलित ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म इन तीनों घातियां कर्मों का नाश कर डालते है । ✡

✡ अपृथक्त्व मवीचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।
सन् ध्यायत्येक योगेन शुक्ल ध्यानं द्वितीयकम् ।।

अर्थ– दूसरे एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान मे किसी एक ही पदार्थ का ध्यान होता है । वह किसी भी एक योग से धारण किया जाता है, श्रुत ज्ञान सहित होता है तथा विचार रहित होता है ।

निजात्म द्रव्यमेकं वा पर्याय मथवा गुणम् ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ।।

घाइचउक्कविणासे उप्पज्ज सयल बिमल केवलयं ।
लोया लोय पयासं णाणं णिरुपद्दवं णिच्चं ॥

घाति चतुष्क विनाशे उत्पद्यते सकलविमलकेवलकम् ।
लोकालोक प्रकाशं ज्ञानं निरुपद्रवं नित्यम् ॥ ६६५ ॥

अर्थ– जिस समय घातिया कर्मों का नाश हो जाता है उसी समय उन भगवान के पूर्ण निर्मल केवल-ज्ञान प्रगट हो जाता है। वह केवल ज्ञान लोक अलोक सबको एक साथ प्रकाशित करनें वाला होता है, उसमें फिर किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता और वह ज्ञान फिर कभी भी नष्ट नहीं होता अनंतानंत काल तक बना रहता है।

अर्थ– दूसरे शुक्ल ध्यान में वे मुनि अपने एक आत्म द्रव्य का चितवन करते है अथवा उसकी किसी एक पर्याय का चितवन करते, अथवा उसके किसी एक गुण का चितवन करते। उनका वह ध्यान निश्चल होता है। इसको एकत्व वितर्क कहते है।

तद्द्रव्य गुण पर्यायपरावर्तविवर्जितम् ।
चितनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥

अर्थ– इस दूसरे शुक्ल ध्यान मे द्रव्य गुण पर्यायों का परिवर्तन नहीं होता यदि द्रव्य का ध्यान करता है तो द्रव्य का ही करता रहेगा। यदि गुणों का ध्यान करता है तो उस एक गुण का ही चितवन करता रहेगा, यदि पर्याय का ध्यान करता है तो पर्याय का ही ध्यान करता रहेगा, उसे बदलेगा नहीं। क्योंकि उसका वह ध्यान निश्चल होता है इस ऐसे निश्चल ध्यान को ध्यान मे अत्यन्त चतुर गणधर देव अविचार ध्यान कहते है।

निज शुद्धात्म निष्ठत्वाद् भावश्रुता वलंबनात् ।
चितनं क्रियते यत्र सवितर्कं तदुच्यते ॥

अर्थ– इस ध्यान में वे मुनि अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते है और भाव श्रुतज्ञान का अवलंबन होता है इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा का चितवन करना उसको सवितर्क ध्यान कहते है।

आवरणाण विणासे दंसण णाणाणि अंतरहियाणि ।
पावइ मोह विणासे अणंत सुक्खं च परमप्पा ॥ ६६६ ॥

विग्घ विणासे पावइ अणंतरहियं च वीरियं परमं ।
उच्चइ सजोइकेवलि तइय ज्झाणेण सो तइया ॥ ६६७ ॥

आवरणयोः विनाशे दर्शन ज्ञाने अन्त रहिते ।
प्राप्नोति मोह विनाशे अनन्त सुखं च परमात्मा ॥ ६६६ ॥

विघ्न विनाशे प्राप्नोति अन्त रहितं च वीर्यं परमम् ।
उच्यते सयोगि केवली तृतीय ध्यानेन स तत्र ॥ ६६७ ॥

अर्थ– ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से उन परमात्मा स्वरूप भगवान के अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, मोहनीय कर्म के अत्यन्त नाश होने से अनंत सुख प्राप्त हो जाता है अंतराय कर्म का अत्यन्त नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है। इस प्रकार वे भगवान अनंत चतुष्टय को धारण कर सयोगी केवली कहलाते है। उन सयोगी केवली भगवान के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

इस प्रकार बारहवें गुण स्थान का स्वरूप कहा

आगे तेरहवे सयोगी केवली गुण स्थान का स्वरूप कहते है।

सुद्धोखाइयभावो अवियप्पो णिच्चलो जिणिंदस्स ।
अत्थि तया तं झाणं सुहुम किरिया अपडिवाई ॥

शुद्ध क्षायिको भावोऽविकल्पो निश्चलो जिनेन्द्रस्य ।
अस्ति तत्र तद्ध्यानं सुक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति ॥ ६६८ ॥

अर्थ– तेरहवें गुण स्थान वर्ती केवली भगवान जिनेन्द्र देव के शुद्ध क्षायिक भाव होतें है तथा वे भाव विकल्प रहित होते है और निश्चल होते है। इस तेरहवें गुण स्थान में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

परिफंदो अइसुहमो जोव पसायेण अत्थि तक्काले ।
तेणाणू आइदा आसविय पुणो विविहडंति ॥

परिस्पन्दोऽति सूक्ष्मो जीवप्रदेशानामस्ति तत्काले ।
तेन अणवः आगत्य आस्रवयित्वा च पुनरपि विघटन्ते ॥ ६६९ ॥

अर्थ- इस तेरहवें गुण स्थान मे रहनेवाले भगवान जिनेन्द्र देव के जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसी लिये शुभ कर्मों की वर्गणाए आतीं है और उसी समय चली जाती है । उनके आत्मा के प्रदेशों में वे कर्म वर्गणाए ठहरती नहीं है ।

आगे इसका कारण बतलाते है ।

जे णत्थि राय दोसो तेण ण बंधोहु अत्थि केवलिणो ।
जह सुक्क कुड्डु लग्गा वालू झडियंति तह कम्मं ॥
यन्न स्तः राग द्वेषौ तेन न बन्धोहि अस्ति केवलिनः ।
यथा शुष्क कुडच लग्नाः वालुका निपतन्ति तथा कर्म ॥ ६७०॥

अर्थ- उन केवली भगवान के राग द्वेष कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिये उनके कर्मों का बंध कभी नही होता । जिस प्रकार सुखी दीवाल पर लगीं हुइ वालू उसी समय झड जाती है । सूखी दीवाल पर वालू ठहरती नहीं उसी प्रकार विना राग द्वेष के आत्मा के प्रदेशों मे कर्म भी नहीं ठहरते है । भावार्थ- स्थिती बंध और अनुभाग बंध दोनो कषायो से होते है । केवली भगवान के राग द्वेष का सर्वथा अभाव है इसलिये वहा पर स्थितीबंध और अनुभाग बंध भी कभी नहीं होते है । अत्यन्त सूक्ष्म काय योग होने से शुभ कर्म आते है परन्तु वे उसी समय झड जाते है । ठहरते नही ।

ईहा रहिया किरिया गुण वि सव्वे वि खाइया तस्स ।
सुक्खं सहावजायं कमकरण विवज्जियं णाणं ॥
ईहारहिता क्रिया गुणा अपि सर्वेपि क्षायिकास्तस्य ।
सुखं स्वभाव जातं क्रम करण विवजितं ज्ञानम् ॥ ६७१ ॥

अर्थ- भगवान जिनेन्द्र देव की विहार, दिव्य ध्वनी आदि क्रियाएं सब ईहा रहित वा इच्छा रहित होती है । इसका भी कारण यह है कि राग द्वेष के साथ ही उनकी इच्छाएं सब नष्ट हो जाती है । इसीलिये उनकी समस्त क्रियाएं इच्छा रहित होती है, उनके समस्त गुण क्षायिक

ही होते है उनका सुख स्वात्म जन्य स्वाभाविक ही होता है और उनका ज्ञ न इन्द्रियों से रहित और अनुक्रम से रहित होता है। भावार्थ– जिस प्रकार इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान अनुक्रम से होता है उस प्रकार भगवान का ज्ञान न तो इन्द्रियों से होता है और न अनुक्रम से होता है। वे तो एक ही समय समस्त पदार्थ और उनकी समस्त पर्यायों को जान लेते है।

यही बात आगे दिखलाते है।

णाणेणं तेण जाणइ कालत्तय वट्टिए तिहुवणत्थे।
भावे समे य विसमे सच्चेयणा चेयणे सव्वे॥

ज्ञानेन तेन जानाति कालत्रय वर्तमान् त्रिभुवनार्थान्।
भावान् समांश्च विषमान् सचेतना चेतनान् सर्वान्॥ ६७२॥

अर्थ– वे भगवान उस अपने केवल ज्ञान से तीनों लोकों में रहने वाले सयस्त चेतन अचेतन पदार्थों को तथा सम विषम पदार्थों को और भूत भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी उन समस्त दार्थों की अनंतानंत पर्यायों को एक समय में ही जान लेते है।

एक्कं एक्कम्मि खणे अणंतपज्जायगुण समाइण्णं।
जाणइ जह तह जाणइ सव्वइं दव्वाइं समयम्मि॥

एकमेकस्मिन् क्षणे अनन्त पर्याय गुण समाकीर्णम्।
जानाति यथा तथा जानाति सर्वाणि द्रव्याणि समये॥ ६७३॥

अर्थ– जिस प्रकार वे भगवान किसी एक पदार्थ को उसकी अनंतानंत पर्याय और उसके समस्त गुणों को एक ही समय में जान लेते है उसी प्रकार वे भगवान एक ही समय मे समस्त द्रव्य उनकी समस्त पर्यायें और उनके समस्त गुण एक ही समय में जान लेते है।

जाणंतो पिच्छंतो कालत्तयवट्टियाइ दव्वाइं।
उत्तो सो सव्वण्हू परमप्पा परम जोइहि॥

जानन् पश्यन् कालत्रयवर्तमानानि द्रव्याणि।
उक्तः स सर्वज्ञ परमात्मा परमयोगिभिः॥ ६७४॥

अर्थ– वे केवली भगवान सदा काल भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में हुए वा होने वाले समस्त पदार्थों को वा पदार्थों की पर्यायों को एक साथ देखते है और एक साथ जानते है। इसलिये परम योगी गणधर देव उनको सर्वज्ञ और परमात्मा कहते है।

तित्थयरत्तं पत्ता जे ते पायंति समव सरणाइं।
सक्केण कयविहूई पंचक्कल्लाण पुज्जाय॥

तीर्थंकरत्वं प्राप्ता ये ते प्राप्नुवन्ति समवसरणादिकम्।
शक्रेण कृतविभूतिं पंच कल्याण पूजां च॥ ६७५॥

अर्थ– उन केवलियों में से जिनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय होत है वे इन्द्रों के द्वारा की हुई समवसरण आदि की महा विभूति को प्राप्त होते है तथा गर्भ कल्याणक जन्म कल्याणक दीक्षा कल्याणक ज्ञान कल्याणक और मोक्ष कल्याणक इन पांचों कल्याणकों में होने वाली परमोत्कृष्ट पूजा को प्राप्त होते है।

सम्मुग्धाई किरिया णाणं तह दंसणं च सुक्खं च।
सव्वेसिं सामण्णं अरहंताणं च इयराणं॥

समुद्घातक्रिया ज्ञानं तथा दर्शनं च सुखं च।
सर्वेषां सम्मानं अर्हंता चेतराणां च॥ ६७६॥

अर्थ– जिनके तीर्थंकर प्रकृति का उदय है ऐसे अरहंत केवली तथा जिनके तीर्थंकर प्रकृति उदय नहीं है ऐसे सामान्य केवली इन दोनों प्रकार के केवली भगवान के समुद्घात क्रिया, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये सब समान होते है इसमे किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता।

जेंसि आयु समाणं णामं गोदं च वेयणीयं च।
ते अकय समुग्धाया सेसा य कयंति समुग्घायं॥

येषां आयुः समानं नाम गोत्रं च वेदनीयं च।
ते अकृत समुद्घाताः शेषाश्च कुर्वन्ति समुद्घातम्॥ ६७७॥

अर्थ– जिन केवली भगवान के नाम कर्म गोत्र कर्म और वेदनीय

कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्घात नहीं करते तथा जिनके नाम गोत्र वेदनीय की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली भगवान नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करने के लिये समुद्घात करते है।*

अंतर मुहुत्त कालो हवइ जहण्णो वि उत्तनो तेसिं।
गयवरिसूणा कोडी पुव्वाणं हवइ णियमेण ॥

अन्तर्मुहूर्त कालो भवति जधन्योपि उत्तमः तेषाम्।
गत वर्षोनो कोटिः पूर्वाणां भवति नियमेन ॥ ६७८ ॥

अर्थ– इस तेरहवें गुण स्थान की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति जितने वर्ष की आयु में केवल ज्ञान हुआ है उतने वर्ष कम एक करोड पूर्व है।

इस प्रकार तेरहवे गुण स्थान का स्वरूप कहा

आगे अयोगी केवली नाम के चौदहवें गुण स्थान का स्वरूप कहते है।

पच्छा अजोइकेवलि हवइ जिणो अघाइ कम्महणमाणो।
लहु पंचक्खर कालो हवइ फुडं तम्मि गुण ठाणे ॥

पश्चादयोग केवली भवति जिनः अघाति कर्मणां हन्ता।
लघुपंचाक्षर कालो भवति स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥ ६७९ ॥

---

* मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीव पिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो हवइ समुग्घाइयं णाम ॥

अर्थ– मूल शरीर को न छोड कर जो जीव के प्रदेश बाहर निकलते है उसको समुद्घात करते है। समुद्घात करते समय केवली भगवान पहले समय मे आत्मा के प्रदेशों को दंडाकार लोक पर्यन्त फैलाते है, दूसरे समय में कपाट रूप चौडाई मे लोक पर्यन्त फैलाते है, तीसरे समय में प्रतर रूप लम्बाई में लोक पर्यन्त फैलाते है चौथे समय मे लोक पूरण कर लेते है पांचवे समय मे संकुचित कर प्रतर रूप छठे समय मे

अर्थ- तेरहवे गुण स्थान के अनन्तर चौदहवां गुण स्थान होता है। चौदहवे गुण स्थान का नाम अयोगी केवली है। घातिया कर्मों का नाश कर भगवान तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान मे आते है और चौदहवे गुण स्थान मे आकर अन्त में अघातिय कर्मो का नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त करते है। इस गुण स्थान का काल लघु पंचाक्षर उच्चारण मात्र है अर्थात् जितनी देर में अ इ उ ऋ ऌ इन पांचों ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण होता है उतना काल इस चौदहवे गुण स्थान का काल है।

परमोदालिय कायं सिढिलं होऊण गलइ तक्काले।
थक्कइ सुद्ध सुहावो घण णिविड पएस परमप्पा॥

परमौदारिक कायः शिथिलो भूत्वा गलति तत्काले।
तिष्ठति शुद्ध स्वभावः घननिविडप्रदेश परमात्मा॥६८०॥

अर्थ- इस गुण स्थान के अन्त मे उनका वह परमौदारिक शरीर शिथिल होकर गल जाता है। तथा उनके घनीभूत निविड आत्मा के प्रदेश शुद्ध स्वभाव रूप होकर रह जाते है और इस प्रकार वे भगवान परमात्मा हो जाते है।

णट्ठा किरिय पवित्ती सुक्कज्झाणं च तत्थ णिद्दिट्ठं।
खाइय भावो सुद्धो णिरंजणो वीयराओ य

नष्टा क्रिया प्रवृत्तिः शुक्ल ध्यानं च तत्र निर्दिष्टम्।
क्षायिको भावः शुद्धो निरंजनो वीतरागश्च॥ ६८१॥

अर्थ- इस गुण स्थान मे समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, तथा चौथा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्ल ध्यान होता

कवाट रूप, सातवे समय मे दंड रूप और आठवे समय मे शरीर मात्र प्रदेश कर लेते है। प्रदेशों के फैलाव से नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु की स्थिति के समान हो जाती है। जिन मुनियों के छह महीने की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान होता है उनको समुद्घात अवश्य करना पडता है।

है। इस गुण स्थान में क्षायिक और शुद्ध भाव होते है और इसीलिये वे भगवान निरंजन और परम वीतराग हो जाते है।

झाणं सजोइ केवलि जह तह अप्पोइस्स णत्थि परमत्थे।
उवयारेण पउत्तं भूयत्थणय विवक्खाए॥

ध्यानं सयोग केवलिनो यथा तथाऽयोगिनः नास्ति परमार्थेन।
उपचारेण प्रोक्तं भूतार्थनय विवक्षया॥ ६८२॥

अर्थ– जिस प्रकार सयोग केवली भगवान के ध्यान होता है उस प्रकार का ध्यान भी इस गुण स्थान में नहीं होता। इस गुण स्थान में वास्तव मे ध्यान होता ही नहीं है। इस गुण स्थान में भूतार्थ नय की अपेक्षा से (पूर्वकाल नय की अपेक्षा से) उपचार से ध्यान माना जाता है। कर्मों का नाश बिना ध्यान के नही होता और चौदहवें गुण स्थान में अघातिया कर्मों का नाश होता है। इसलिये उपचार से ध्यान माना जाता है वास्तविक नहीं।

आगे इसका कारण बतलाते है।

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए।
तं णत्थि केवलि दुगे तम्हा झाणं ण संभवइ॥

ध्यानं तथा ध्याता ध्येय विकल्पाश्च भवन्ति मनः सहिते।
तन्नास्ति केवलिद्विके तस्माद् ध्यानं न संभवति॥६४३॥

अर्थ– ध्यान, ध्यान करने वाला ध्याता और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थों के विकल्प ये सब मन सहित जीवों के होते है। परन्तु वह मन सयोगी केवली तथा अयोगी केवली दोनों गुण स्थान वालों के नहीं है। इसलिये इन तेरहवे और चौदहवे गुण स्थानों में ध्यान नहीं है।

मणसहियाणं झाणं मणो विकम्माण कायजोयाओ।
तत्थ वियप्पो जायइ सुहासुहो कम्म उदाएण॥

मनः सहितानां ध्यानं मनोपि कार्ममकाययोगात्।
तत्र विकल्पो जायते शुभाशुभः कर्मोदयेन॥ ६८४॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अर्थ– जो जीव मन सहित है उन्ही के ध्यान होता है। तथा मन की प्रवृत्ति कार्मण काय योग से होती है। तथा जहां पर कार्मण काय योग के निमित्त से मन की प्रवृत्ति होती है वहां पर कर्म का उदय होने से शुभ वा अशुभ विकल्प भी उत्पन्न होते है।

असुहे असुहं झाणं सुहझाणं होइ सुहोपजोगेण।
सुद्धे सुद्धं कहियं सासवाणासवं दुविहं॥

अशुभोऽशुभं ध्यानं शुभं ध्यानं भवति शुभोपयोगेन।
शुद्धेशुद्धं कथितं सास्त्रवानास्त्रवं द्विविधम्॥ ६८५॥

अर्थ– जहां पर अशुभ विकल्प वा अशुभोपयोग होता है वहां पर अशुभ ध्यान होता है, जहां पर शुभ विकल्प वा शुभोपयोग होता है वहां पर शुभ ध्यान होता है। तथा जहां पर शुभ अशुभ कोई विकल्प नहीं होता केवल शुद्ध उपयोग होता है वहां पर शुद्ध ध्यान होता है। यह शुद्ध ध्यान दो प्रकार का होता है, जिसमे नास्त्रव होता रहै ऐसा आस्त्रव सहित शुक्ल ध्यान और जिसमें आस्त्रव न हो ऐसा आस्त्रव रहित शुद्ध ध्यान वा शुक्ल ध्यान।

पढमं बीयं तइयं सासवयं होइ इय जिणो भणइ।
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण॥

प्रथमं द्वितीयं तृतीयं सास्त्रवं भवति एवं जिनो भणति।
विगतास्त्रवं चतुर्थं ध्यानं कथितं समासेन॥ ६८६॥

अर्थ– शुक्ल ध्यान के चार भेद है उनमे से पहला शुक्ल ध्यान, दूसरा शुक्ल और तीसरा शुक्ल ध्यान ये तीनों शुक्ल ध्यान आस्त्रव सहित होते है अर्थात् इनमें कर्मो का आस्त्रव होता रहता है और चौथा शुक्ल ध्यान निरास्त्रव है आस्त्रव रहित, उसमें किसी कर्म का आस्त्रव नहीं होता ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव नें कहा है। इस प्रकार संक्षेप से इन ध्यानों का स्वरुप है।

आगे चौदहवे गुण स्थान के अनंतर होने वाली सिद्ध अवस्था का स्वरुप कहते है।

णट्ठट्ठ पयडिबंधो चणमसरीरेण होइ किंचूणो ।
उड्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ ॥

नष्टाष्टप्रकृति बन्धश्चरम शरीरेण भवति किंचोनः ।
ऊर्ध्वगमन स्वभावः समयैकेन प्राप्नोति ॥ ६८७ ॥

अर्थ– चौदहवे गुण स्थान के अन्तिम समय मे जब आठों प्रकार का प्रकृतिबंध नष्ट हो जाता है अर्थात् समस्त कर्म नष्ट हो जाते है तब उनकी सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है । उस सिद्ध अवस्था में आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ कम होता है । अर्थात् उस आत्मा के आकार का घनफल शरीर के आकार के घनफल से कुछ कम होता है शरीर मे जहां जहां आत्मा के प्रदेश नहीं है ऐसे पेट नासिका के छिद्र कान के छिद्र आदि में आत्मा के प्रदेश वहां भी नहीं इसलिये सिद्धों के आत्मा के आकार के घनफल में उतने स्थान को घनफल कम हो जाता है । इसलिये चरम शरीर के आहार के घनफल मे सिद्धों के आत्मा के आकार का घनफल कुछ कम हो जाता है । इसलिये सिद्धों आकार चरम शरीर से कुछ कम बतलाया है । आत्मा का स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करता है इसलिय कर्म नष्ट होने के अनन्तर एक ही समय में सिद्ध स्थान पर जाकर बिराजमान हो जाता है ।

आगे सिद्ध स्थान कहां है सो बतलाते है ।

लोयग्ग सिहर खत्ते जावं तणुपवण उवरिय भायं ।
गच्छइ ताम अथक्को धम्मत्थित्तेण आयासो ॥

लोक शिखर क्षेत्र यावत्तनु पवनो परिमं भागम् ।
गच्छति तावत् अस्ति धर्मास्तित्वेन आकाशः ॥ ६८८ ॥

अर्थ– इस लोक शिखर के ऊपर के क्षेत्र मे तनुवातवल्य के ऊपरी भाग पर जहां तक के वे सिद्ध परमेष्ठी एक ही समय मे पहुँच जाते है ।

तत्तोपरंण गच्छइ अच्छइ कालं तु अन्तपरिहीणं ।
जम्हा अलोय खित्ते धम्मद्व्वं णं तं अत्थि ॥

ततः परं न गच्छति तिष्ठति कालं तु अन्त परिहीनम् ।
यस्याद लोक क्षेत्रे धर्मद्रव्यं न तदस्ति ॥ ६८९ ॥

अर्थ– अलोकाकाश में द्रव्य नहीं है । धर्म द्रव्य लोकाकाश में ही है । लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग करने वाले धर्म द्रव्य वा अधर्म द्रव्य ही है । जहां तक धर्म द्रव्य है वही तक जीव वा पुद्गल गमन कर सकते है तथा जहां तक अधर्म द्रव्य है वहां तक ठहर सकते है, बिना धर्म द्रव्य के ठहर सकते है । इसलिये वे सिद्ध परमेष्ठी जहां तक धर्म द्रव्य है वही लोक शिखर के ऊपर भाग तक जाकर ठहर जाते है और फिर वे भगवान वहां पर अनंतानंत काल तक विराजमान रहते है ।

आगे सिद्धों के स्वरुप मे और भी कहते है ।

जो जत्थ कम्ममुक्को जल थल अयास पव्वए णयरे ।
सो रिजुगई पवण्णो माणुस खेत्ताउ उप्पज्जइ ॥ ६९० ॥

पणयालसहसहस्सा माणुस खेत्तं तु होइ परिमाणं ।
सिद्धाणां आवासो तित्तिय मित्तम्मि आयासे ॥ ६९१ ॥

यो पत्र कर्मयुक्तो जलस्थलाकाश पर्वते नगरे ।
स ऋजुगतिप्रपन्नः मनुष्य क्षेत्रतः उत्पद्यते ॥ ६९० ॥

पंच चत्वारिंशच्छत सहस्रं मानुष क्षेत्रस्यतु भवति परिमाणम् ।
सिद्धानामावासः तावन्मात्रे आकाशे ॥ ६९१ ॥

अर्थ– सिद्ध परमेष्ठी मनुष्य क्षेत्र से ही उत्पन्न होते है तथा उनकी गति ऋजु गति होती है जिस क्षेत्र में कर्म नष्ट होते है । उसी क्षेत्र की सीध में वे सिद्ध स्थान पर जा कर विराजमान हो जाते है । जल स्थल आकाश पर्वत नगर जहां से भी कर्म मुक्त होंगे उसी की सीध मे सीधे जाकर वे लोक शिखर पर विराजमान हो जायेंगे । मनुष्य क्षेत्र का परिणाम पेंतालीस लाख योजन है । इसलिये पेंतालीस लाख योजन के आकाश में ही सिद्धों का निवास स्थान है जंबूद्वीप की चौडाई एक लाख योजन है उसके चारों ओर लवण समुद्र है उसकी एक ओर की चौडाई दो लाख योजन है । लवण समुद्र के चारों ओर धातकी द्वीप है उसकी चौडाई एक ओर की चार लाख योजन है। धात की द्वीप के चारों ओर कालोद समुद्र है उसकी एक ओर कीं चौडाई आठ लाख

योजन है। कालोद समुद्र के चारों ओर पुष्कर द्वीप है उसकी पूरी चौडाई सोलह लाख योजन है। परन्तु पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत है तथा मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्य क्षेत्र गिना जाता है। इसलिये आधे पुष्कर द्वीप की चौडाई आठ लाख योजन ही समझनी चाहिये। इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत पूर्व भाग से पश्चिम भाग तक वा उत्तर से दक्षिण तक पैंतालीस लाख योजन ही होते है।

आगे और भी सिद्धों का स्वरुप कहते है।

सव्वे उवरिं सरिसा बिसमाहिट्ठम्मि णिच्चलपएसा।
अवगाहणाय जम्हा उक्कस्स जहण्णिया दिट्ठा ॥ ६९१ ॥

सर्वे उपरि सदृशाः विषमा अधस्तने निश्चल प्रदेशाः।
अवगाहना च यस्मात् उत्कृष्टा जघन्याविष्टा ॥ ६९२ ॥

अर्थ– उस सिद्ध स्थान में अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान है। उन समस्त सिद्धों का ऊपरी भाग समान होता है तथा नीचे का भाग ऊँचा नीचा रहता है। इसका भी कारण यह है कि सिद्धों की अवगाहना उत्कृष्ट सवा पांच सौ धनुष है और जघन्य अवगाहना साडे तीन अरन्ति है। मुठ्ठी बांधकर एक हाथ की लम्बाई को अरन्नि कहते है जिस आसन से जिस स्वरुप से जैसे शरीर से कर्म मुक्त होते है उसी आसन से उसी रुप से और उसी शरीर के समान उनके आत्माका आकार हो जाता है इसलिये ऊपर का भाग तो सबका समान होता है और नीचे का भाग समान नही होता।

एगोवि अणंताणं सिद्धो सिद्धाण देइ अवगासं।
जम्हा सुहुमत्तगुणो अवगाह गुणो पुणो तेसिं ॥ ६९३ ॥
एकोपि अनन्तानां सिद्धः सिद्धानां ददात्यवकाशम्।
यस्मात्सूक्ष्मत्वगुणः अवगाहनगुणः पुनस्तेषाम् ॥ ६९३ ॥

अर्थ– एक सिद्ध की आत्मा मे अनंतानंत सिद्ध समा जाते है। इसका भी कारण यह है कि आत्मा अमूर्त है, इसलिये उनमे सूक्ष्मत्व गुण है। इसके सिवाय उनमें अवगाहनत्व गुण भी है। सूक्ष्म और अवगाहनाव गुण के कारण एक सिद्ध मे भी अनंतानंत सिद्ध आ जाते है।

दीपक का प्रकाश मूर्त है फिर भी एक आले में अनंत दीपको का प्रकाश समा जाता है फिर सिद्धों का आत्मा तो अमूर्त है इसलिये एक सिद्ध मे भी अनंत सिद्धों का आत्मा आ जाता है।

आगे सिद्धों के गुण कहते है।

सम्मत्तणाणदंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरु लहुअव्ववाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शन वीर्यसूक्ष्मं तथैवावगाहनम्।
अगुरुलघु अव्यावाधं अष्ट गुणा भवन्ति सिद्धानाम् ॥६९४॥

अर्थ– सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य सूक्ष्मत्व अवगाहन, अगुरु लघु अव्यावाध ये आठ गुण सिद्धों मे होते है। भावार्थ– यह संसारी आत्मा अनादि काल से ज्ञानावरणादिक आठों कर्मों से जकडा हुआ है। वे आठों कर्म सब नष्ट हो जाते है तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। आत्मा मे ऊपर लिखे आठ गुण है और उनको आठों ही कर्मों ने ढक रक्खा था। इसलिये उन कर्मों के नाश होने पर ऊपर लिखे आठ गुण अपने आप प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म के नाश होने से सम्यक्त गुण प्रगट हो जाता है, ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनंत दर्शन प्रगट हो जाता है, अन्तराय कर्म के नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है, आयु कर्म के अभाव होने से अवगाहन गुण प्रगट हो जाता है, नाम कर्म के नाश होने से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हो जाता है, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघु गुण प्रगट हो जाता है और वेदनीय कर्म के अभाव से अव्यावाध गुण प्रगट हो जाता है इस प्रकार आठों कर्मों के नाश हो जाने से सिद्धो में ऊपर लिखे आठ गुण प्रगट हो जाते है।

जाणइ पिच्छइ सपलं लोयालोयं च एक्कहेलाए।
सुक्खं सहाव जायं अणोवमं अंतपरिहीणं॥

जानाति पश्यति सकलं लोकालोकं च एक हेलया।
सुखं स्वभाव जातं अनुपमं अन्तपरिहीनम् ॥ ६९५ ॥

अर्थ– वे सिद्ध भगवान एक ही समय मे समस्त लोकाकाश और समस्त अलोकाकाश को जानते है तथा सबको एक ही साथ एक ही समय मे देखते है। उन समस्त सिद्धों का सुख शुद्ध आत्मा अन्य स्वाभाविक है, संसार के सुख की तथा उनकी कोई उपमा नहीं है और न कभी उन सिद्धो का अन्त होता है। वे सदा काल विराजमान रहते है।

रवि मेरु चंदसायरगयणाईयं तु णत्थि जह लोए ।
उवमाणं सिद्धाणं णत्थि तहा सुक्खसंघाए ।।

रवि मेरुचन्द्र सागर गगनादिकं तु नास्ति यथा लोके ।
उपमानं सिद्धानां नास्ति तथा सुख संघाते ।। ६९६ ।।

अर्थ– सूर्य, चन्द्रमा, मेरु पर्वत समुद्र आकाश आदि इस लोक संबधी समस्त पदार्थ सिद्धों के उपमान नहीं हो सकते, अर्थात् संसार मे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा सिद्धों को दे सकें। इसी प्रकार उनके अनन्तसुखका भी कोई उपमान नहीं है।

चलणं वलणं चिंता करणीयं किं पिणत्थि सिद्धाणं ।
जम्हा अइंदियत्तं कम्माभावे समुप्पण्णं ।।

चलनं वलनं चिन्ता करणीयं किमपि नास्ति सिद्धानाम् ।
यस्मादतीन्द्रियत्वं कर्माभावेन समुत्पन्नम् ।। ६९७ ।।

अर्थ– उन सिद्ध परमेष्ठी को न कहीं गमन करना पडता है, न अन्य कोई क्रिया करनी पडती है और न किसी प्रकार की चिंता करनी पडती है। इसका भी कारण यह है कि उनके समस्त कर्मो का अभाव हो गया है इसलिये उनके अतीन्द्रियत्व प्राप्त हो गया है। भावार्थ-संसार में जितनी क्रियायें है वे सब इंद्रियों के द्वारा होती है। सिद्ध परमेष्ठी के शरीर और इन्द्रियां सभी नष्ट हो गई है। इसलिये उनको कोई भी क्रिया कभी नहीं करनी पडती हैं।

आगे आचार्य अन्तिम मंगल करते है।

णट्ठट्ठ कम्मबंधण जाइ जारामरण विप्पमुक्काणं ।
अट्ठवरिट्ठगुणाणं णमोणमो सव्व सिद्धाणं ।।

नष्टाष्टकर्मबन्धनजातिजरा मरण विप्रमुक्तेभ्यः ।
अष्टवरिष्ठ गुणेभ्यो नमो नमः सर्वसिद्धेभ्यः ॥ ६९८ ॥

अर्थ– जिनके आठों कर्मों का बंधन नष्ट हो गया है, जन्म मरण बुढापा आदि सांसारिक समस्त दोष जिनके नष्ट हो गये है और ऊपर लिखे सर्व श्रेष्ठ आठ गुण प्रगट हो गये है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मैं श्री देवसेन आचार्य बार बार नमस्कार करता हूँ ।

जिणवर सासण मतुलं जयउ चिरं सूरि सपर उवयारी ।
पाढय सांहूवि तहा जयंतु भव्वा वि भुवणयले ॥

जिनवर शासन मतुलं जयतु चिरं सूरिः स्वपरोपकारी ।
पाठकः साधु रपि तथा जयन्तु भव्या अपि भुवन तले ॥६९९॥

अर्थ– संसार में जिसका कोई उपमा नहीं ऐसा यह भगवान जिनेन्द्र देव का कहा हुआ शासन सदाकाल जयशील रहे । इसी प्रकार अपने आत्मा कल्याण करने वाले और अन्य अनेक भव्य जीवों का कल्याण करने वाले आचार्य परमेष्ठी सदा काल जयशील रहे । इसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी तथा साधु परमेष्ठी सदा काल जयवंत रहे तथा तीनों लोकों मे रहने वाले भव्य जीव भी सदा जयवंत रहे ।

जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णेसि भाव संगहं सुत्तं ।
सहणइ णियय कम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥

यः पठति शृणोति कथयति अन्येषां भाव संग्रह सूत्रम् ।
सन्ति निजकर्म क्रमेण सिद्धालयं याति ॥ ७०० ॥

अर्थ– इस प्रकार कहे हुए इस भाव संग्रह के सूत्रों को जो पढता है सुनता है अथवा अन्य भव्यजीवों को सुनाता है वह पुरुष अनुक्रम से से अपने कर्मों को नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है ।

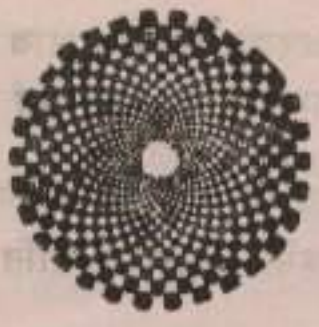
सिरिविमलसेण गणहर सिस्सो णामेण देवसेणोत्ति ।
अवुह जण वोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

श्री विमलेसनगणधर शिष्यो नाम्ना देवसेन इति ।
अबुधजन बोधनार्थं तेनेदं विरचितं सूत्रम् ॥ ७०१ ॥

अर्थ– श्री विमलसेन गणधर वा आचार्य के शिष्य श्री देवसेन आचार्य ने अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये इस भावसंग्रह सूत्र की रचना की है ।

इस प्रकार अयोग केवली गुणस्थान का स्वरूप कहा ।

इस प्रकार आचार्य श्री देवसेन विरचित
भाव संग्रह ग्रंथ की धर्मरत्न, सरस्वती
दिवाकर, पंडित लालाराम शास्त्री
द्वारा निर्मित यह भाषा टीका
समाप्त हुई ।



उपसंहार

इस भावसंग्रह ग्रन्थ मे चौदह गुणस्थानों का स्वरुप है। उस स्वरुप मे सब गुणस्थानों की क्रियाए भाव आदि बतलाये है, तथापि थोडासा स्वरुप और लिखा जाता है जिससे उनका पूर्ण ज्ञान हो जाय।

गुणों के स्थानों को गुणस्थान कहते है, मोह और योग के निमित्त मे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रुप आत्मा के गुणों की तारतम्यरुप अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते है।

वे सब गुणस्थान चौदह है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टी, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगकेवली।

इनमें से पहला गुणस्थान दर्शन मोहनीय के उदय से होता है, इसमे आत्मा के परिणाम मिथ्यात्व रूप होते है, चौथा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है। तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहमोहनीय कर्म के उदय से होता है। इस गुणस्थान मे आत्मा के परिणाम सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् उभय रूप होते है। पहले गुणस्थान मे औदयिकभाव, चौथे गुणस्थान में औपशमिक क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव और तीसरे गुणस्थान मे औदयिक भाव होते है। परन्तू दुसरा गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म का उदय उपशम क्षय और क्षयोपशम इन चार अवस्थाओं मे से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नही रखता है। इसलिये यहां पर दर्शनमोह कर्म की अपेक्षा से पारिणामिक भाव है किन्तु अनतानुबंधी रूप चारित्रमोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदयिक भाव भी कहे जा सकते है। इस गुणस्थान में अनंतानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व घात हो गया है इसलिये वहां सम्यक्त्व नहीं है और मिथ्यात्व का भी उदय नहीं आया है इसलिय

मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं है। अतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है। पांचवे गुणस्थान से दशवे गुणस्थान तक छह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते है इसलिये इन गुणस्थानों मे क्षायोपशमिक भाव होते है। इन गुणस्थानों मे सम्यक्चारित्र गुण की क्रम से वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से होता है इसलिये ग्यारहवे गुणस्थान में औपशमिक भाव होते है। यद्यपि यहां पर चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्णतया उपशम हो गया है तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नही है। क्योंकि सम्यक् चारित्र के लक्षण में योग और कषाय के अभाव से सम्यक् चारित्र होता है ऐसा लिखा है। बारहवा गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है इसलिये यहां क्षायिक भाव होते है। इस गुणस्थान में भी ग्यारहवे गुणस्थान की तरह सम्यक् चारित्र की पूर्णता नहीं है। सम्यग्ज्ञान गुण यद्यपि चौथा गुणस्थान मे ही प्रगट हो चुका था। भावार्थ– यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण अनादिकाल से प्रवाह रूप चला आ रहा है तथापि दर्शन मोहनीय कर्म उदय होने से वह ज्ञान मिथ्यारूप था परन्तू चौथे गुणस्थान में जब दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो गया तब वही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यग्ज्ञान कहलाने लगा। पंचमादि गुणस्थानों में तपश्चरणादिक के निमित्त से अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान भी किसी किसी जीव के प्रगट हो जाते है तथापि केवल ज्ञान के हुए बिना सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नही हो सकती। इसलिये बारहवे गुणस्थान तक यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है (क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना क्षपक श्रेणी नहीं चढता और क्षपक श्रेणी के बिना बारहवा गुणस्थान नही होता) तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अभीतक अपूर्ण है। इसलिये अभी तक मोक्ष नही होता। तेरहवां गुणस्थान योगों के सद्भाव की अपेक्षा से होता है। इसलिये इसका नाम सयोग और केवलज्ञान के निमित्त से सयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है परन्तू चारित्र गुण की पूर्णता न होने से मोक्ष नही होता। चौदहवा गुणस्थान योगों के अभाव की अपेक्षा से है इसलिये इसका नाम अयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों गुणों की पूर्णता हो जाती है अतएव मोक्ष भी अब दूर नहीं रहा, अर्थात् अ इ उ ऋ ऌ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने मे जितना काल लगता है उतने ही काल मे मोक्ष हो जाता है।

आगे संक्षेप से सब गुणस्थानों का स्वरुप कहते है।

मिथ्यात्व गुणस्थान– मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अतत्त्वार्थ श्रद्धा न रूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते है। इस मिथ्यात्व गुणस्थान मे रहने वाला जीव विपरित श्रद्धान करता है और सच्चे धर्म की ओर इसकी रूचि नहीं होती। जैसे पित्तज्वर वाले रोगी को दुग्ध आदि मीठे रस कडवे लगते है उसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नहीं लगता।

इस गुणस्थान में कर्मों की एक सौ अडतीस प्रकृतियों मे से स्पर्शादिक, बीस प्रकृतियों का अभेद विवक्षा से स्पर्शादिक चार में और बंधन पांच संघात पांच का अभेद विवक्षा से पांच शरीरों मे अन्तर्भाव होता है इस कारण भेद विवक्षा से सब एक सौ अडतालीस और अभेद विवक्षा से एक सौ बाईस प्रकृति है। सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व परिणामों से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खंड करने से होती है। इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टी जीव की बन्ध योग्य प्रकृति एकसौ बीस और सत्व योग्य प्रकृति एक सौ छयालीस है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति आहारक शरीर और आहारक अगोपांग इन तीन प्रकृतियों का बंध सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इस–लिये इस गुणस्थान मे एक सौ बीस मे से तीन घटाने पर एक सौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व समग्मिथ्यात्व आहारक शरीर आहारक आंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन पांच प्रकृतियों का इस गुणस्थान मे उदय नहीं होता। इसलिये एक सौ बाईस में से पांच घटाने पर एक सौ सत्रह प्रकृतियोंका उदय होता है। तथा एक सौ अडतालीस प्रकृति योंका सत्त्व रहता है।

सासादन गुणस्थान– प्रथमोपशम सम्यक्व के काल मे जब अधिक से अधिक छह आवली और कमसे कम एक समय शेष रहता है तब अनंतानुबंधी कषाय की किसी एक प्रकृति का उदय होने से सम्यक्त्व* का नाश हो जाता है तथा मिथ्यात्ववादि होता नही इसलिये उस समय वह जीव सासादन गुणस्थान वाला कहलाता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान मे एक सो सत्रह प्रकृतियों का बंध होता था उनमे से उसी मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, नरकगति नरकगत्यनुपूर्वी, नरकायु असंप्राप्ताष्टपाटक संहनन, एकेन्द्रिय जाति विकलत्रय तीन स्थावर आताप सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये एक सौ सत्रह मे से सोलह घटाने पर एक सौ प्रकृतियों का बंध इस गुण–स्थान में होता है पहले गुणस्थान में एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उदय होता है उसमे से मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाति है अतएव पांच घटानें पर एक

---

* सम्यक्त्व के तीन भेद है। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और अनन्तानुबंधी की चार प्रकृति इस प्रकार इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है। इन सातों प्रकृतियो क्षय होने से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायिक है तथा छह प्रकृतियों के अनुदय और सम्यक् प्रकृति नाम की प्रकृति के उदय होने से जो सम्य क्त्व होता है उसको क्षयो पशमिक सम्यक्त्व कहते है। उपशम सम्यक्त्व के दो भेद है एक प्रथमोशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्य–क्त्व। अनादि मिथ्यादृष्टि के पांच और सादि मिथ्या दृष्टी के सात प्रकृतियों के उपशम होने से जो सम्यक्त्व होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते है।

सातवे गुणस्थान मे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी चढने के सन्मुख अवस्था मे अनंतानुबंधी चतुष्टय का विसंयोजन (अप्रत्या–ख्यानादि रूप) करके दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करके जो सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते है।

सौ बारह प्रकृतिया रही। परन्तु नरक गत्यानुपूर्वी का उदय इस गुण स्थान में नही होता इसलिये इस गुणस्थान में एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय होता है तथा सत्व एक सौ ४५ प्रकृतियों का होता है। यहां पर तीर्थकर प्रकृति आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती।

मिश्र गुणस्थान– सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व परिणाम होते है और न केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम होते है किन्तु मिले हुए दही गुड के स्वाद के समान एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते है इसको मिश्र गुण स्थान कहते है।

दूसरे गुण स्थान में बन्ध प्रकृति एक सौ एक थी। उनमे से अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, दुर्भग दुःस्वर अनादेय, यग्रोध संस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जक संस्थान वामन संस्थान, वज्रनाराच संहनन नाराच संहनन अर्द्धनाराच संहनन, कीलित संहनन, अप्रशस्त विहायो गति, स्त्रीवेद, नीच गोत्र, तिर्यंगति तिर्यग्गत्यानुपूर्वी तिर्यगायु, उद्योत, इन पच्चीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने से शेष छिहत्तरि प्रकृतियां रहती है। इस गुण स्थान में किसी भी आयु कर्म का बंध नही होता इसलिये इन छिहतरि में से मनुष्यायु और देवायु इन दो के घटाने पर चौहत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है। नरकायु की पहले गुण स्थान में और तिर्यगायु की दूसरे गुणस्थान में व्युच्छित्ति हो चुकी है।

इस गुण स्थान मे एक सौ प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि दूसरे गुण स्थान मे एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय था उनमे से अनंतानुबंधी चार, एकेंद्रियादिकि चार, स्थावर एक इस प्रकार नौ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने पर एकसौ दो प्रकृतियां रह जाती है। इनमें से नरकगत्यानु पूर्वी दूसरे गुण स्थान मे घट चुकी है और देवगत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यनु पूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन प्रकृतियों का उदय इस गुण स्थान में नहीं होता क्योंकि इस गुण स्थान मे मरण नहीं होता। इस प्रकार शेष निन्यानवे प्रकृति रह जाती है। तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय इस गुण स्थान मे रहता है। इस प्रकार इस गुण स्थान मे सौ

प्रकृतियों का उदय रहता है। इस गुण स्थान में तीर्थंकर प्रकृति के बिना एक सौ सेंतालीस प्रकृतियों का सत्व रहता है।

अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान– दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय अथवा क्षयोपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय से व्रत रहित सम्यग्दृष्टी पुरुष चौथे गुणस्थान वर्ती कहलाता है।

तीसरे गुणस्थान में चौहत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है उनमें मनुष्यायु देवायु और तीर्थंकर प्रकृति इन प्रकृतियों सहित सतत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है।

तीसरे गुणस्थान में सौ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से सम्यग्मिथ्यात्व की व्युच्छित्ति हो जाती है तथा चार आनुपूर्वी और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियों के मिलानें से एक सौ चार प्रकृतियों का उदय होता है।

इस गुण स्थान मे एक सौ अडतालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एक सौ इकतालीस प्रकृतियों का ही सत्त्व रहता है।

पांचवां देश विरत गुण स्थान– प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय से यद्यपि संयम भाव नहीं होता तथापि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उपशम के श्रावक व्रत रूप देश चारित्र होता है। इसी को देश विरत नामक पांचवां गुण स्थान कहते है। पांचवे आदि ऊपर के समाप्त गुण स्थानों मे सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है। इनके बिना पांचवे छट्ठ आदि गुण स्थान नहीं होते।

---

* जिस गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों के बंध उदय अथवा सत्व की व्युच्छित्ति कही हो उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियों का बंध उदय अथवा सत्त्व माना जाता है आगे के किसी भी गुण स्थान में उन प्रकृतियों का बंध उदय अथवा सत्व नहीं होता है इसीको व्युच्छित्ति कहते है।

चौथे गुणस्थान मे जो सतत्तरि प्रकृतियों का बंध कहा है उनमे से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी मनुष्यायु औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग वज्रवृषभनाराच सहनन इन दश प्रकृतियों की व्युच्छत्ति इस गुणस्थान में हो जाती है। इसलिये सतत्तर मे से दश घटाने पर शेष सडसठ प्रकृतियों का बंध इस गुणस्थान मे होता है।

चौथे गुणस्थान मे एक सौ चार प्रकृतियों का उदय कहा है उनमे से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, देवगति देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकायु, नरक गति नरक गत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर वैक्रियिक अंगोपांग, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, तिर्यंग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति इन सत्रह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति इस गुणस्थान मे हो जाती है इसलिये एक सौ चार मे से सत्रह घटाने पर सत्तासी प्रकृतियों का उदय होता है।

चौथे गुणस्थान में एक सौ अडतालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है उनमे से व्युच्छिन्न प्रकृति एक नरकायु के बिना एक सौ सेंतालीस का सत्त्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी की अपेक्षा मे एक सौ चालीस का ही सत्त्व रहता है।

छठा प्रमत्तविरत गुणस्थान- संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से संयम भाव तथा मल जनक प्रमाद ये दोनों ही युगपत् एक साथ होते है इसलिये इस गुणस्थानवर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अथवा चित्रलाचरणी कहते है।

यद्यपि संज्वलन और नोकषाय का उदय चारित्र गुण का विरोधी है तथापि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से प्रादुर्भूत सकल संयम के घात करने मे समर्थ नहीं है। इस कारण उपचार से संयम का उत्पादक कहा है।

पांचवे गुणस्थान मे सडसठ प्रकृतियों का बंध होता है उनमें से प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये इन चार के घटाने पर शेष त्रेसठ प्रकृतियों का

बंध होता है।

पांचवेगुण स्थान मे सतासी प्रकृतियों का उदय कहा है उनमे से प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ तिर्यग्गति तिर्यगायु उद्योत और नीच गोत्र इस आठ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये इन आठ प्रकृतियोंके घटाने पर शेष उनासी प्रकृतियां रह जाती है। उनमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग मिलानेसे इक्यासी प्रकृतियों का उदय रहता है।

पांचवे गुणस्थान में एक सौ सेंतालीस प्रकृतियों की सत्ता कही है उनमें से तिर्यगायु की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये शेष एक सौ छयालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी की अपेक्षा से एक सौ उन्तालीस का सत्त्व रहता है।

सातवां अप्रमत्त विरत गुणस्थान– संज्वलन और नो कषाय के के मंद उदय होने से प्रमाद रहित संयम भाव होते है। इस कारण इस गुणस्थानवर्ती मुनि को अप्रमत्त विरत कहते है। इस गुणस्थान के स्वस्थान अप्रमत्त विरत और सातिशय अप्रमत्त विरत ऐसे दो भेद है। जो मुनि हजारों बार छठे से सातवे मे और सातवे से छठे गुणस्थान में आवे-जावे उसको स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहते है तथा जो श्रेणी चढनें के सन्मुख होते है उनको सातिशय अप्रमत्त विरत कहते है।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिए कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी ही श्रेणी चढते है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोडकर क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टी होकर प्रथम ही अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ का विसंयोजन करके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके यातो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी हो जाय अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टी हो जाय तब श्रेणी चढ सकता है।

जहां चारित्र मोहनीय की शेष रही इक्कीस प्रकृतियों का क्रम से उपशम तथा क्षय किया जाय उसको श्रेणी कहतें है। उस श्रेणी के दो भेद है। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी जिसमें चारित्र मोहनीय की

इकईस प्रकृतियोंका उपशम किया जाय उसको उपशम श्रेणी कहते है और जिसमे उन इकईस प्रकृतियों का क्षय किया जाय उसको क्षपक श्रेणी कहते है। क्षायिक सम्यग्दृष्टी दोनों ही श्रेणी चढ सकता है। द्वितीयपशम सम्यग्दृष्टी जीव उपशम श्रेणी ही चढता है। क्षपक श्रेणी नहीं चढता। उपशम श्रेणी के आठवां नौवां दशवां और ग्यारहवां गुण स्थान है तथा क्षपक श्रेणी के आठवां नौवां दसवा और बारहवां गुण स्थान है।

चारित्र मोहनीय कर्म की इकईस प्रकृतियों को उपशम करने के लिये अथवा क्षय करने के लिये अधः करण अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण ये तीन प्रकार के परिणाम निमित्त कारण होते है।

इनमें से जिस करण में परिणामों के समूह ऊपर के समयवर्ती तथा नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हो और विसदृश भी हों। उसको अधः करण कहते है। यह अधः करण सातवे गुण स्थान में हीं होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

किसी राजा के यहां ३०७२ तीन हजार बहत्तर आदमी काम करते है वे सब सोलह महकमों में भी वटे हुए है। पहले महकमे मे एक सौ १६२ आदमी है दूसरे में एक सो छयासठ, तीसरे में एक सौ सत्तर, चौथे मे एक सौ चौहत्तर, पांचवे में एक सौ अठत्तर, छठे मे एक सौ ब्यासी, सातवे मे एक सौ छियासी, आठवे मे एक सौ नव्वे, नौंवे मे एक सौ चौरानवे, दशवे में एक सौ अठानवे, ग्यारहवे में दो सौ दो बारहवें मे दो सौ छह, तेरहवे में दो सौ दस, चौदहवे में दो सौ चौदह, पन्द्रहवें मे दो सौ अठारह और सोलहवे मे दो सौ बाईस आदमी काम करते है।

पहले महकमेके एकसौ बासठ आदमियों मे से पहले आदमी का वेतन एक रुपया दूसरे का दो रुपया तीसरे का तीन रुपया इस प्रकार एक एक बढते हुए एकसो बासठवे आदमी का वेतन एकसौ बासठ रुपया है। दूसरे महकमेमें एक सौ छयासठ आदमी काम करते है उनमे से पहले आदमी का वेतन चालीस रुपया है। दूसरे तीसरे आदि आदमियों का वेतन क्रमसे एक एक रुपया बढता हुआ एकसो छयासठवे आदमी

का वेतन दो सो पांच रुपया है। तीसरे महकमेमें एक सौ सत्तरि आदमी काम करते है इनमें से पहले आदमी का वेतन अस्सी रुपया है फिर आगे एक एक रुपया बढता गया है इसलिये एकसो सत्तरिवें आदमी का वेतन दो सो उनचास रुपया है। चौथे महकमे में एकसो चौहत्तर आदमी काम करते है। पहले आदमी का वेतन एकसो इकईस रुपया है तथा आगे आगे के आदमियों का वेतन एक एक रुपया बढता गया है इसलिये एकसो चौहत्तरिवे आदमी का वेतन दोसो चौरानवे रुपया है। इसी क्रम से सोलहवे महकमे में दो सो इकहत्तरवे आदमी का वेतन तीसो बारह रुपया है। इस उदाहरण मे पहले महकमे के उन्तालीस आदमियों का वेतन ऊपर के महकमें के किसी भी आदमी के वेतन से नही मिलता। तथा अन्त के सत्तावन आदमियों का वेतन नीचे के महकमें के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता। शेष वेतन ऊपर नीचे के महकमों के वेतनों के साथ यथा संभव समान भी है। इसी प्रकार यथार्थ मे भी ऊपर के समय संबंधी परिणामों और नीचे के समय संबंधी परिणामों सदृशता यथासंभव जानना। विशेष गोमट्टसार से जानना चाहिये।

छठे गुणस्थान में तिरेसठ प्रकृतियों का बंध कहा था उनमें से अस्थिर अशुभ असाता, अयशस्कीर्ति अरति शोक इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है उनके घटाने से सत्तावन प्रकृति रही। उनमे आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग के मिलाने से उनसठ प्रकृतियों का बंध होता है।

छठे गुणस्थान मे इक्यासी प्रकृतियों का उदय कहा है उनमे से आहारक शरीर आहारक आंगोपांग, निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला, और स्त्यानगृद्धि इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिये इन पांच के घटाने से शेष छिहत्तरि प्रकृतियों का उदय इस सातवे गुणस्थान मे रहता है।

छठे गुणस्थान के समान इस गुणस्थान में भी एकसो छयालीस की सत्ता रहती है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एक सो उन्तालीस प्रकृतियों का ही सत्त्व रहता है।

आठवां अपूर्व करणगुणस्थान– जिस करण में उत्तरोत्तर अपूर्व परिणाम होते जांय अर्थात् भिन्न समय वर्ती जीवों के परिणाम सदा विसदृश ही हो और एक समय वर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हो और विसदृश भी हों उसको अपूर्व करण कहते है और यही आठवा गुणस्थान है।

सातवे गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का बंध कहा है उनमे से एक देवायु प्रकृति की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष अट्ठावन प्रकृतियों का बंध इस आठवे गुणस्थान मे होता है।

सातवे गुणस्थान मे जो छिहत्तरि प्रकृतियों का उदय कहा है उनमे से सम्यक् प्रकृति अर्द्ध नाराच कीलक असंमाप्तासृपाटक इन चार प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये चारके घटाने पर शेष बहत्तर प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान मे होता है।

सातवे गुणस्थान मे एकसो छियालीस प्रकृतियों का सत्त्व कहा है उनमे से अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन चार प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इस लिये द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के तो एकसो ब्यालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है किंतु क्षायिक सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति रहित एकसो उन्तालीस प्रकृतियों का सत्त्व है और क्षपक श्रेणी वाले के अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ दर्शन मोहनीय की तीन और देवायु इन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिये एकसो छियालीस मे से आठ घटाने पर शेष एकसो अडतालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

अनिवृत्तिकरण– जिस करण मे भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही हो उसको अनुवृत्ति करण कहते है। यही नोवां गुणस्थान है।

इन तीनों ही करणों के परिणाम प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता लिये होते है।

आठवे गुणस्थान में अट्ठावन प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें से निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, सम-

चतुरस्त्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस गंध, स्पर्श, अगुरु लघुत्व, उपघात परघात, उच्छवास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन छत्तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इन छतीस को घटाने पर शेष बाईस प्रकृतियों का बंध इस नौवें गुणस्थान मे होता है।

आठवें गुणस्थाण में जो बहत्तर प्रकृतियों का उदय होता है उनमे से हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष छयासठ प्रकृतियों का उदय इस नौवे गुणस्थान मे रहता है।

इस गुणस्थान मे आठवे गुणस्थान के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के एकसो ब्यालीस प्रकृतियों का, क्षायिक सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के एकसो उन्तालीस और क्षपक श्रेणी वाले के एकसो अडतीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

दशवां सूक्ष्म सांपरायगुणस्थान– अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्म सांपराय नामका दशवां गुणस्थान होता है।

नौवें गुणस्थान मे बाईस प्रकृतियों का बंध होता है। उनमें से पुरुष वेद संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है।

नौवे गुणस्थान में जो छयासठ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें मे स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध मान माया इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिय इन छह प्रकृतियों के घटाने पर शेष साठ प्रकृतियों का उदय दशवें गुणस्थान में रहता है।

उपशम श्रेणी मे नौवें के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के एकसौ ब्यालीस, और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एकसो उन्तालीस और क्षपक श्रेणी वाले के नौवें गुणस्थान में जो एकसो अडतीस प्रकृतियों का सत्त्व है उनमें से तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय की तीन, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत आतप, एकेंद्रिय, साधारण, सूक्ष्म,

स्थावर अप्रत्याख्यानावरण की चार, प्रत्याख्यानावरण की चार, नोकषाय की नौ, संज्वलन क्रोध मान माया, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी इन छत्तीस प्रकृतियों को व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिये इनको घटाने पर शेष एकसो दो प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

ग्यारहवां उपशांत मोह गुणस्थान– चारित्र मोहनीय की इकईस प्रकृतियों के उपशम होने से यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले मुनि के ग्यारहवां उपशांत मोह नामक गुणस्थान होता है। इस गुण-स्थान का काल समाप्त होनेपर मोहनीय के उदय से जीव नीचले गुण-स्थानों में आ जाता है।

दशवें गुणस्थान में सत्रह प्रकृतियों का बंध होता था। उनमे से ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यश: कीर्ति उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष एक सातावेदनीय का बंध होता है।

दशवे गुणस्थान में साठ प्रकृतियों का बंध होता है उनमे से एक संज्वलन लोभ की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष उनसठ प्रकृतियों का उदय होता है।

नौवें और दशवे गुणस्थान के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के एकसो ब्यालीस और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एकसो उन्तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान– मोहनीय कर्म के अत्यंत क्षय होने से स्फटिक भाजन में रक्खे हुए निर्मल जल के समान अत्यन्त निर्मल अविनाशी यथाख्यात चारित्र के धारक मुनि के क्षीण मोह गुणस्थान होता है।

इस गुणस्थान में केवल साता वेदनीय कर्म का बंध होता है।

ग्यारहवें गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का उदय होता है उनमे से वज्र नाराच और नाराच इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष सत्तावन प्रकृतियों का उदय होता है।

प्रकाशक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दशवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाले की अपेक्षा एकसो दो प्रकृतियों का सत्त्व है, उनमें से संज्वलन लोभ की व्युच्छित्ति हो जाती है उसके घटाने पर एकसो एक प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

तेरहवां संयोग केवली गुणस्थान– मोहनीय की अट्ठाईस, ज्ञानावरण की पांच दर्शनावरण की नौ अन्तराय की पांच इस प्रकार घातिया कर्मों की सेंतालीस प्रकृतियां तथा नरक गति, तिर्यग्गति, नरक गत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी विकलत्रय की तीन देवायु मनुष्यायु, तिर्यंगायु, उद्योग, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म स्थावर इस प्रकार तिरेसठ प्रकृतियों का क्षय होनें से लोकाकाश प्रकाशक केवलज्ञान तथा मनोयोग* वचन योग और काय योग के धारक अरहंत भट्टारक के संयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान होता है। यही केवली भगवान अपनी दिव्य ध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते है।

इस गुणस्थान मे केवल एक सातावेदनीय का बंध होता है।

बारहवे गुणस्थान में जो सत्तावन प्रकृतियों का उदय होता है उनमे से ज्ञानावरण की पांच, अंतराय की पांच, दर्शनावरण की चार निद्रा प्रचला इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इस प्रकार शेष इकतालीस प्रकृतियां रहती है। इनमें तीर्थंकर प्रकृति मिला देने से ब्यालीस प्रकृतियों का उदय होता है।

बारहवे गुणस्थान में जो एकसो एक प्रकृतियों का सत्त्व है उनमें से ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पांच, निद्रा प्रचला इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष पिचासी प्रकृतियोंका सत्त्व रहता है।

अयोग केवली चौदहवां गुणस्थान– मन वचन काय के योगों से रहित केवल ज्ञान सहित अरहंत भट्टारक के चौदहवां गुणस्थान होता है, इस गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ ऌ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण मात्र जितना है। अपने गुणस्थान के काल के द्विचरम समय में सत्ता

---

* मनोयोग– द्रव्यमन की अपेक्षा से

की पिचासी प्रकृतियों मे से बहत्तर प्रकृतियों का और चरम समय में तेरह प्रकृतियों का नाश करके अरहंत भगवान मोक्ष धाम को पधार जाते है ।

तेरहवे गुणस्थान मे जो एक साता वेदनीय का बंध होता था उसकी उसी गुणस्थान मे व्युच्छित्ति होनें से इस गुणस्थान मे किसी का भी बंध नहीं होता । तेरहवे गुणस्थान में जो बियालीस प्रकृतियों का उदय होता है उनमे से वेदनीय, वज्र वृषभ नाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त विहायो गति, अप्रशस्त विहायो गति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुंडक, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरु लघुत्व, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रत्येक इन तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है । शेष वेदनीय, मनुष्यगति मनुष्यायु पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर प्रकृति और उच्चगोत्र इन बारह प्रकृतियों का उदय रहता है ।

तेरहवें गुणस्थान के समान इस गुणस्थान मे पिचासी प्रकृतियों का सत्त्व है परन्तु द्विचरम समय में बहत्तर और अंतिम समय मे तेरह प्रकृतियों का सत्त्व नष्ट करके अरहंत भगवान मोक्ष मे जा विराजमान होते है । यह उपसंहार आवश्यकता समझकर जैन सिद्धांत प्रवेशिका से लिखा है ॥



अन्तिम मंगलाचरण

वंदे वीर जिनेन्द्रं तद्वाणीं वीरसारं वंदे ।
तद्धोषितजिनधर्मं वंदेऽहं बोधिसाभाय ॥

अर्थ– अंत मे मैं जिनेन्द्र देव भगवान वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ, उनके मुख से प्रगट हुई द्वादशांग वाणी को नमस्कार करता हूँ और विद्यमान आचार्य वर्य श्रीवीर सागरजी महाराज की वंदना करता हूँ एवं रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये उनके द्वारा कहे हुए जिनधर्म की वंदना करता हूँ ।

जयतु सदा जिनधर्मः सूरिः श्री शांति सागरो जयतु ।
यच्चरणसेवया मां प्राप्ता स्वल्पा हि जिनभक्ति ॥

अर्थ– यह जैनधर्म सदा जयवत हो तथा जिनके चरणकमलों की सेवा करने से मुझे थोडी सी जिनभक्ति प्राप्त हुई है ऐसे भाद्रपद शुक्ल २ विक्रम संवत् २०१२ को ८४ वर्ष की आयु मे दिवंगत आचार्य वर्य श्री शांति सागर जी महाराज सदा जयवंत रहें ।

समाप्तोऽयं ग्रंथः



अमृतवाणी

जागृत हो धर्मवीर !

धर्म निर्मूल विध्वंस सहन्ते न प्रभावका ।
विना सावद्यलेशेन न स्याद्धर्म प्रभावना ॥

आजन्म दिगम्बर भगवत् जिनसेनाचार्य

धर्म निमूल विनाशको धर्मवीर, कर्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रभावक मनुष्य सहन नही करते है। धर्मरक्षाके लिये यत्किंचित पाप भी होता है वह नगण्य है। " सावद्य लेशो वहु पुण्य राशौ " न्यायानुसार पाप कर्म पुण्य अधिक होने से दोषकर नहीं है, विना स्वल्प पापसे धर्म प्रभावना नहीं हो सकती है।



चेतावन

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तस्य विप्लवे ।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपं प्रकाशने ॥ " ज्ञानार्णव "

धर्मनाशमे, क्रियाध्वंसे अर्थात् धार्मिक सम्यक् क्रियाओं के लोपमे सुआगम सम्मत सिद्धांत का विकल्प होने पर, विना पूछे भी उनका कथन करने के लिये बोलना चाहिये।

महापाप

जिणवर आणा भंगं उरसूत्त लेस देक्षणयं ।
आणा भंगे पावंता जिनसमय दुकरं धम्म ॥ (उपदेशरत्नमाला)

जिनाज्ञा उल्लंघन करके उन्मार्ग उत्सूत्र का जो अंशमात्रभी उपदेश देता है वह जिनाज्ञा भंग करता है। उससे ऐसा पाप होता है जिससे उसको जिनधर्म पाना दुष्कर हो जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अजितशत्रू

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद् स्याद्वाद केशरी ।।

तब तक शास्त्ररूपि शृगाल गर्जन करता है, जब तक महशक्तिवान स्याद्वादसिंह गर्जन नहीं करता है ।

सत्याग्रह

पक्षपाति नमे वीरे न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यपरिग्रहः ।।

मेरे वीरप्रति पक्षपात नहीं कपिलादि प्रति द्वेष नहीं । किंतु जिनका वचन युक्तियुक्त है उन्हीं का अनुकरण करो ।

हिन्दी दोहा

विषयसुख का लालची सुन अध्यातम वाद ।
त्याग धर्म को त्यागकर करे साधु अपवाद ।।
समकित समकित रटनतै समकित कबहुँन होय ।
वीतराग की भगति विन समकित कहते होय ।।
कायपात्र कर तप नहीं किना आगम पढकर न मिटि कषाय ।
धन को जोडि दान नहीं दिना तो तु क्या किया इत आन ।।
कहते है करते नहीं मुंह के बडे लबार
कालां मुंह होयेगा कर्म के दरबार ।।
क्या क्या देखी वीतरागमे तू क्या जाने वीरा रे ।
वीतराग की वाणी द्वार दूर करो भवपीरा रे ।।